Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

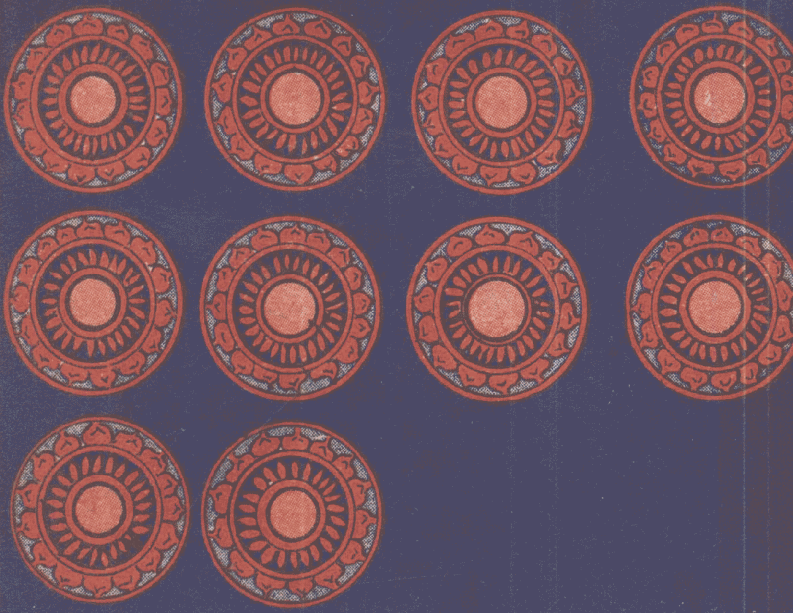

माण्डूक्य कारिका

स्वामी चिन्मयानन्द
(उत्तर काशी)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

माण्डूक्य कारिका

शाह रसिकलाल बालचंद.
3 JUN 1967

स्वामी चिन्मयानन्द
(उत्तर काशी)

प्रकाशिका :—
(श्रीमती) शीलापुरी
४ जन्तर मन्तर रोड, नयी दिल्ली

प्रथम संस्करण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Printed by L. Guran Ditta Kapur at Kapur Printing Press, Delhi.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय-सूची

उत्तर काशी के परमपूज्य श्री तपोवन जो महाराज का दिव्य संदेश	...		क—ग
दो शब्द	...	...	घ—च
शुभ संदेश	...	...	छ—ज
पहला अध्याय—अगम प्रकरण (शास्त्रीय)		...	१—१६
अगम प्रकरण	...	...	१७—९९
दूसरा अध्याय—वैतथ्य प्रकरण	...	...	१००—१५९
तीसरा अध्याय—अद्वैत प्रकरण	...	...	१६०—२२९
चौथा अध्याय—अलात शान्ति	...	...	२३०—३४२

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्तरकाशी के परमपूज्य

श्री तपोवन जी महाराज

का दिव्य-सन्देश

यहाँ हम उत्तरकाशी (हिमालय) के परम पूज्य श्री तपोवन जी महाराज का सन्देश उद्धृत करते हैं जिसमें महाराज ने पवित्र आशीर्वाद के साथ हमें प्रोत्साहन-रूपी दिव्य-प्रसाद भी दिया है। श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी को उत्तरकाशी के इस ऋषि के पवित्र चरणों में बैठने और उनसे ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सम्पादिका

आचार्य्य का शुभ सन्देश

ब्रह्म ही यथार्थ है। इसके बिना कोई पदार्थ वास्तविक नहीं। सभी विश्व, जिसे सूर्य्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्र प्रकाशमान करते रहते हैं, एक दीर्घ-कालिक स्वप्न नहीं तो और क्या है? यह चिरस्थायी विश्व, जिसे हम जाग्रतावस्था में देखते रहते हैं, किस प्रकार स्वप्न माना जा सकता है? इस महान् 'माण्डूक्य कारिका' में परम-द्रष्टा तथा आचार्य्य श्री गौड़पाद ने उक्त प्रश्न का उत्तर देने का सफल प्रयास किया है। 'कारिका' में अनेक दृष्टान्त तथा युक्तियों द्वारा इस बात को स्पष्टतः सिद्ध किया गया है कि यह विश्व 'स्वप्न' ही है।

मान लीजिए कि यह विश्व एक यथार्थ तत्व का आभासमात्र है। इस बात को सोचते रहने तथा समय नष्ट करने से हमें क्या लाभ होगा? इस समस्या पर विचार करते रहने से हम निश्चित रूप से यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह संसार तथा इसके विविध पदार्थ क्षणिक एवं अवास्तविक हैं और इन क्षण-स्थायी सांसारिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुओं से परम-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परम-सुख ही 'ब्रह्म' है न कि यह स्वप्निल क्षणिक-विश्व।

इसलिए हमें सनातन एवं सुख-निधान 'ब्रह्म' को अनुभव करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए जिससे हम इस अविनाशी तथा अक्षर सुख-स्वरूप में अधिष्ठित रह पायँ। श्री गौड़पाद हमें इस सनातन एवं सुखमय 'ब्रह्म' से साक्षात्कार कराते और इस दिशा में हमारे लिए एक टेढ़े-मेढ़े मार्ग के स्थान में छोटे तथा सीधे मार्ग की व्याख्या करते हैं। इस अद्भुत कृति 'कारिका' की यह महान् विशेषता है।

भारत की राजधानी के अंग्रेज़ी-शिक्षित व्यक्तियों का सौभाग्य है कि उन्हें स्वामी चिन्मयानन्द जैसे आधुनिक शिक्षा से अलंकृत संन्यासी के मुख से 'कारिका' के प्रवचन सुनने का अवसर मिला है। मुझे विश्वास है कि वे (चिन्मय) आपको आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से, न कि प्राचीन संस्कृत-पण्डितों की परिपाटी के अनुसार, यह पाठ्य-विषय समझायेंगे।

संभव है इन प्रवचनों का श्रवण करने से 'अजातवाद' आपकी समझ में आजाय और आप विवेक द्वारा इस विचार से पूरे सहमत होजायँ कि 'तुरीय-ब्रह्म' ही यथार्थ है न कि तीन अवस्थाओं वाला संसार जिसकी वास्तव में कोई रचना नहीं होती। इसी कारण यह (संसार) एक दीर्घ-कालिक स्वप्न है। "मैं 'तुरीय ब्रह्म' हूँ", वेदान्त के इस तत्व को केवलमात्र समझ लेने और इसको अनुभव करने एवं इसमें अधिष्ठत होने में महान् अन्तर है।

इसलिए परमात्मा का सदा स्मरण करते रहिए। भगवत्कृपा से उसके वास्तविक 'तुरीय-स्वरूप' की अनुभूति हो सकती है। परमात्मा को प्रेम तथा श्रद्धा से भजते रहें। उसके नाम का जप करें और सदा उसी के ध्यान में मग्न रह कर उसका गुण-गान करते रहें। आप जो भी कार्य करें वह उसी के अर्पण हो। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से इस विक्षिप्त एवं मलीन मन में स्थिरता तथा शुद्धि आ जायेगी,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री गुरुदेव

स्वामी तपोवनम्

(१६ जनवरी, १९५७ को समाधिस्थ हुए)

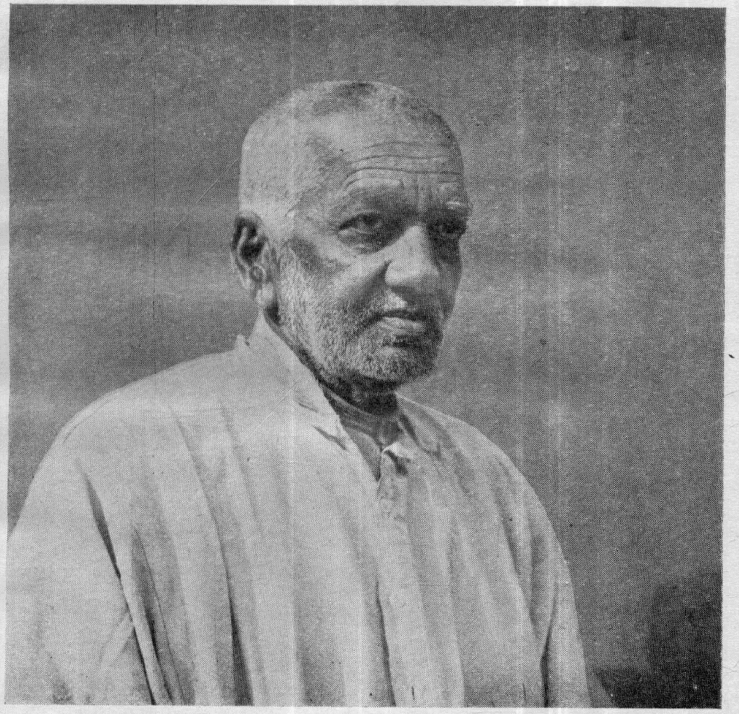

को

सादर समर्पित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तभी आप सनातन एवं सुख-निधान 'तुरीय ब्रह्म' से साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे।

कदाचित् इसी विचार से यज्ञ-शाला में 'अजातवाद' का उपदेश देने के साथ-साथ साकार परमेश्वर का अखण्ड-कीर्तन करने का भी विशेष आयोजन किया गया है।

मैं आशा करता हूँ कि 'ज्ञान-यज्ञ' के इस अनुष्ठान से, जिसकी इस समय श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी व्यवस्था कर रहे हैं, दिल्ली निवासियों को यथेष्ठ लाभ होगा। भगवान करें कि यह 'ज्ञान-यज्ञ' सफलता पूर्वक सम्पन्न हो और इससे आपको जिस ज्ञान की प्राप्ति हो उसके द्वारा आप की साधना सफल हो।

प्रेम तथा शुभ भावों सहित,

उत्तरकाशी
२६-१०-५३

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो शब्द

माण्डूक्योपनिषद् का हिन्दी संस्करण पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। दिल्ली उपनिषद् ज्ञान-यज्ञ, जिस का उत्तर काशी के तपस्वी श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में पहले-पहल (१९५३ में) आयोजन किया गया था, इस यज्ञ-माला का तृतीय पुष्प था। दिल्ली का यह यज्ञ १२ सितम्बर, १९५३ से ११ दिसम्बर, १९५३ तक (९१वें दिन) रहा जिसमें 'माण्डूक्य उपनिषद्' और महर्षि गौड़पाद की कारिका पर श्री स्वामी जी के ओजस्वी प्रवचन हुए। १० प्रमुख उपनिषदों में, शैली एवं विषय की दृष्टि से, माण्डूक्य तथा कारिका को कठिन माना जाता है और साथ ही यह दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक लम्बा है।

स्वामी जी महाराज द्वारा दिये गये प्रवचन प्रति सप्ताह एक पुस्तिका के रूप में छाप कर वितरित किये गये। इस तरह दिल्ली की ज्ञान-यज्ञ समिति ने कुल तेरह पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं जो वेदान्त-प्रेमियों को निःशुल्क दी गयीं। बाद में श्रोताओं के अनुरोध पर इन तेरह पुस्तिकाओं को एकत्र कर के एक पुस्तक का आकार दे दिया गया।

पहली तीन पुस्तिकाओं में स्वामी जी द्वारा प्रति-दिन दिये गये निर्देशों का समावेश किया गया। बाद में इन्हें 'ध्यान और जीवन' पुस्तक के नाम से प्रकाशित किया गया। शेष आठ पुस्तिकाओं में माण्डूक्य कारिका का उल्लेख किया गया। इन्हीं पुस्तिकाओं को अब प्रस्तुत पुस्तक का कलेवर दे कर पाठकों के हाथ में पहुँचाया जा रहा है।

हर मंत्र के नीचे उसका अर्थ दिया गया है जो शाब्दिक न हो कर अधिक व्याख्यात्मक हैं, जिससे पाठक उसे भली भाँति समझ सके। अर्थ देने के बाद उस मंत्र का आशय तथा रहस्य विस्तार से दिया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रयास में पुनरावृत्ति के दोष से पूर्णतः बचा नहीं जासका। इसके लिए हमें दोषी नहीं ठहराना चाहिए क्योंकि पुनरावृत्ति जान-बूझ कर की गयी है ताकि वेदान्त-प्रेमी इस अध्यात्म-विद्या की मुख्य मुख्य बातों से, इस पुस्तक के एक ही अध्ययन से, परिचित होसकें।

स्वामी जी महाराज की वाग्धारा इतनी प्रबल एवं वेगमयी है कि हम उनके सभी विचारों को ज्यों का त्यों लेखनी-बद्ध नहीं कर सके। इस संस्करण में केवल उन तथ्यों का विस्तृत उल्लेख किया गया है जिनका श्री स्वामी जी के प्रवचनों से संकलन किया जा सका है। महाराज ने कृपा करके उन्हें देख कर कहीं-कहीं परिवर्तन करने का सुझाव दिया है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के लगभग ४ वर्ष बाद इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। पाठकों को यहाँ हमारे पूज्य स्वामी जी के गुरुदेव वन्दनीय एवं प्रातःस्मरणीय तपो-निधि श्री स्वामी तपोवन जी महाराज का दिव्य संदेश पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होगा। पूज्य गुरुदेव के अंग्रेजी भाषा में भेजे गये आशीर्वाद का हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया गया है। हमारी प्रबल इच्छा थी कि हम वेदान्त-शिरोमणि गुरुदेव से इस संस्करण के लिए अलग 'सन्देश' देने का निवेदन करते किन्तु उनके समाधिस्थ होने के कारण हम उनकी 'आशीष' से वंचित रहे। इस पार्थिव शरीर का त्याग करने के बाद भी पूज्य गुरुदेव हम सबमें व्यापक रूप से रहते हुए हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं, यह हमारी प्रबल धारणा है। गुरुदेव के चरणों में बैठ कर उन्हीं के मुखारविन्द से वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को सुनने तथा हमारे हृदय-पटल को प्लावित करने वाले श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज सौभाग्य से विद्यमान हैं। हमें पूर्ण आशा है कि उनका अनुपम-सन्देश हमें अपने वास्तविक स्वरूप की झाँकी लेने में समर्थ बनायेगा और हम अपने सनातन-धर्म के दिव्य सन्देश को सुन कर अपने जीवन को कृत-कृत्य कर पायेंगे।

इस संस्करण के द्वारा यदि हमारे श्रोताओं एवं पाठकों को अपने यथार्थ रूप की अनुभूति करने की प्रेरणा मिले तो हमारा यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सीमित प्रयास अवश्यमेव सफलीभूत होगा । अपने अनुभवों तथा दोषों को अनुभव करते हुए हम यह संस्करण अपने योग्य पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हैं ।

4—जन्तर मन्तर रोड,
नयी दिल्ली । निवेदिका—
७-११-१९५७ (पूर्णिमा)

नोट :—'ध्यान और जीवन' पुस्तक ४—जन्तर-मन्तर रोड, नयो दिल्ली से मिल सकती है ।

—:o:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत
समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें.
जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

शुभ-संदेश

इस संस्करण में निश्चय से उन सभी मुख्य बातों का समावेश किया गया है जो मैंने दिल्ली यज्ञ-शाला के प्रवचनों में कहीं; साथ ही यहाँ हिन्दु-धर्म के पुनरुत्थान के महत्वपूर्ण एवं महान प्रतीक का भी प्रतिनिधित्व किया गया है जिसके लिए समय समय पर महानाचार्य आए तथा प्रयत्नशील रहे।

मैं यह बात इस कारण कहता हूँ कि इनको इस युग के उन बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा 'यज्ञशाला' में नोट किया गया है जो इससे पूर्व न तो कभी धर्म में दृढ़ता से प्रवृत्त हुए और न ही इस विषय-विशेष पर मनन करने का अवसर प्राप्त कर सके। इन दिनों हमारे देश में घोषित धर्म-निरपेक्षता के यथार्थ महत्व को न समझ सकने के कारण अनेक व्यक्ति धर्म के नाम से कोसों दूर भाग रहे हैं और स्वतंत्रता का सदुपयोग न करने से अपने उत्साह एवं विवेक को अनुपयोगी वरन् घातक विचार-धारा में नष्ट कर रहे हैं। मेरा सौभाग्य है कि महर्षि गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित सर्वोच्च मन्तव्यों के पक्ष तथा विरोध में दिये गये शुष्क तर्कों के विषय में मुझे कुछ कहने का सुअवसर मिला। हिन्दु विचारधारा में श्री गौड़पाद से पहले किसी महानाचार्य ने उपनिषदों की विचार-कलिकाओं को सुव्यवस्थित एवं सुगठित वेदान्त-माला में इतने चातुर्य से नहीं पिरोया जितना उनके द्वारा 'माण्डूक्योपनिषद' की 'कारिका' में किया गया है।

"ध्यान और जीवन" नामक पुस्तक को इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में पढ़ा जा सकता है। शास्त्रों का अध्ययन तभी लाभदायक हो सकता है जब हमारे मनका 'ध्यान' द्वारा परिमार्जन हो जाय। संसार के इस परमोच्च दर्शन-शास्त्र (वेदान्त) के गूढ़ विचारों का रहस्य जानने के लिए मनन एवं ध्यान पर्याप्त मात्रा में अपेक्षित है। शास्त्रों का अध्ययन करने से पहले, बीच और बाद में ध्यान-प्रक्रिया की उपेक्षा करने वाले पाठकों को 'वेदान्त' कोरा आदर्शपूर्ण, तथा अव्यावहारिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय दिखायी देगा। वेदान्त का गहन पठन-पाठन करने वाला व्यक्ति यदि यह धारणा रखता है कि वह अपने मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र से सम्बन्धित व्यक्तित्व में प्रवेश किये बिना 'धर्म' के रहस्य को पूरी तरह जान लेगा तो वह उस अदूरदर्शी व्यक्ति के समान होगा जो मनुष्य के शरीर का रहस्य जाने बिना एक कुशल डाक्टर बनने का स्वप्न ले रहा हो।

मुझे विश्वास है कि 'माण्डूक्योपनिषद्' का हिन्दी संस्करण अंग्रेजी न जानने वाले वेदान्त-प्रेमियों में उत्साह एवं उत्कण्ठा का संचार कर देगा जिससे वे इस ग्रन्थ को अधिक अपना सकें।

भारत के प्रमुख नगरों में 'केनोपनिषद्', 'कठोपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्', 'ईशावास्योपनिषद्', 'श्रीमद्भगवद्गीता', आदि में निहित अमर-संदेश को सभ्य श्रोताओं तक पहुँचाने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है; अतः यदि 'माण्डूक्य कारिका' की यह प्रति पाठकों के हाथ में पहुँच कर उनमें आत्म स्वरूप की अनुभूति की इच्छा प्रबल कर सके तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा।

इस संबंध में मैं इस पुस्तक की प्रकाशिका श्रीमती शीला पुरी, श्री बृजमोहन लाल (सेवा-निवृत्त चीफ़ इंजीनियर) और अन्य व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करता हूँ जिनके सौजन्य से इस बड़े ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण तैयार हो पाया है।

महर्षियों का आशीर्वाद सदा हमारे साथ रहे, यह मेरी हार्दिक कामना है।

प्रेम तथा ॐ सहित—

आपका

आत्म-स्वरूप

१६ पार्क एरिया,

करौल बाग,

नयी दिल्ली।

७-११-१९५७ (पूर्णिमा)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माण्डूक्योपनिषद्

१. अगम प्रकरण

(शास्त्रीय)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिरव्यशेम देवहितं यदायुः ।।
स्वस्ति न इन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ।।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवताओ, हम (सदा) अपने कानों द्वारा शुभ सुनें । हे पूज्यवर श्रेष्ठगण ! हम अपनी आँखों से कल्याण (भद्र) देखें । हम अपने निर्धारित जीवनकाल में प्रसन्न रहते हुए (आपका) स्तवन करते रहें ।

प्राचीन एवं सुप्रसिद्ध इन्द्र, सर्वज्ञ पूषण (सूर्य), तीव्र-गति के अधिष्ठाता (वायु), जो हमें हानियों से सुरक्षित रखते हैं, और बृहस्पति, जो हमारी भीतरी आध्यात्मिक सम्पत्ति की रक्षा करते हैं—ये सब (शास्त्र को समझने की बौद्धिक शक्ति और इसके उपदेशों का अनुसरण करने के लिए साहस-पूर्ण 'हृदय' प्रदान करने की) हमें शक्ति प्रदान करें । ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।

किसी उपनिषद् का अध्ययन गुरु और शिष्य के पारस्परिक शान्ति-मंत्र के उच्चारण के बिना प्रारंभ नहीं होता । प्रतिदिन गुरु और शिष्य इकट्ठे बैठ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर प्रार्थना करते और बाद में वे प्रवचन आरंभ करते। आजकल के घोर अविश्वास वाले युग में हमारे 'शिक्षित-अज्ञानी' विस्मिय भाव से यह जानना चाहेंगे कि जीवन में प्रार्थना की क्या महत्ता तथा आवश्यकता है और इसमें कितनी शक्ति निहित है।

हम सब न केवल प्रभाव-रहित भीरु, दीर्घ-निस्वास लेने और सीमित शक्ति वाले जीव हैं बल्कि सर्व-शक्ति सम्पन्न, निर्भय, असीम, कल्याणकर और देवत्व से व्याप्त व्यक्तित्व भी हम में पाया जाता है। प्रार्थना ही एक-मात्र साधन है जिसके द्वारा हम पूर्णता से तन्मयता प्राप्त करके अपने मन और बुद्धि को अधिक से अधिक सम्पन्न बनाने वाली शक्ति का आवाहन कर पाते हैं।

इस तरह उपनिषदों के दैनिक अध्ययन को प्रारंभ करने से पहले गुरु और शिष्य अपने भीतरी सर्व-श्रेष्ठ तत्त्व का आवाहन करने के उद्देश्य से सर्वज्ञ ईश्वरत्व के प्रति आत्म-समर्पण करते हैं।

शान्ति-पाठ का हरेक शब्द हमारी पाशविक वृत्तियों की घोषणा करता है। हम तो प्रार्थना द्वारा ईश्वर के नाम का उपयोग अपने वकील, कमीशन एजंट, डाक्टर आदि के रूप में करने लगे हैं बल्कि हत्या-सम्बन्धी कार्यों में भी हम उसकी सहायता चाहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति का हम में होना प्रार्थना सम्बन्धी साधन के कारण नहीं। यदि कोई नृशंस आवेश में आकर अपनी माता की हत्या कर देता है तो क्या उसके इस कार्य के लिए हम उसकी तलवार को दोष देने बैठेंगे ? ऐसे ही प्रार्थना की शक्ति कल्याण देने वाली है। हम किसी नीच प्रयोजन के लिए प्रार्थना का उपयोग करते हैं तो हमारी प्रार्थना स्वतः दूषित हो जाती है।

उपनिषदों के महान् द्रष्टा किसी सांसारिक इच्छा को कोई महत्व नहीं देते थे क्योंकि उन्होंने अनुभव द्वारा यह जान लिया था कि इसमें कोई सार्थकता नहीं है और न ही यह शोक से परे है। वे तो प्राणीमात्र के आध्यात्मिक विकास के लिए कामना किया करते थे। उपनिषदों के शान्ति-पाठ से सम्बन्धित सभी श्लोकों पर इस राष्ट्रीय भावना की गहरी छाप पड़ी हुई है। गुरु और शिष्य मिलकर सद्भावना से यह कामना करते थे कि वे अपने आध्यात्मिक जीवन में 'कल्याण' को ही देखें और सुनें। हमारी देखने और सुनने वाली इन्द्रियाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वे राज-मार्ग हैं जिनके द्वारा शैतान हमारे हृदय-मानस में, जहाँ दैवी शक्ति विराजमान है, प्रवेश करता है। हमारी दूसरी इन्द्रियाँ इतने प्रत्यक्ष रूप में हमारे मानसिक घात में प्रवृत नहीं होतीं। दोष-पूर्ण दृश्य और मूकदुर्भावनाएँ मिलकर हमारी श्रेष्ठता को दूर भगा देती और हमारे भीतरी अध्यात्म-दुर्ग को नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं। इस कारण वेद-द्रष्टाओं द्वारा यह महत्वपूर्ण प्रार्थना की जाती है कि वे भलाई तथा पवित्रता के अतिरिक्त न कुछ देखें और न ही कुछ सुनें।

वैदिक अनुभव-कर्त्ताओं की प्रार्थना में हिन्दुओं की सर्व-सम्पत्ति का समावेश है। यदि समाज का हरेक प्राणी निष्ठा एवं दृढ़ता से यह कामना करता रहे कि उसे केवल पवित्रता की प्राप्ति हो और, यदि वह इस दिशा में प्रयत्नशील रहे, तो इस सांस्कृतिक युग में न तो जेलों की आवश्यकता रहेगी और न गन्दी बस्तियाँ ही दृष्टिगोचर होंगी। उस अवस्था में निर्धनता का अस्तित्व न रहेगा तथा रोग ढूँढने पर भी न मिलेंगे। आजकल की परिस्थितियों को देखते हुए हम निराश होकर यह सोच सकते हैं कि संसार में इस प्रकार की पूर्ण एवं आध्यात्मिक साम्यवादिता की स्थापना कभी नहीं हो सकती। चाहे कुछ हो, प्राचीन ऋषियों ने तो अपनी प्रार्थनाओं द्वारा इस उद्देश्य-पूर्ति की कामना की। उनकी प्रार्थना स्पष्ट रूप से हमें यह बताती है कि उनके ये दृढ़ संकल्प कितनी पूर्णता की ओर संकेत करते हैं और उन्होंने अपने जीवन-काल में इसको कितनी मात्रा में अनुभव किया।

साथ ही वे न केवल पूर्ण त्याग और विश्व-प्रेम की भावना से जीवन-यापन करते थे बल्कि उनकी पीढ़ी, जो सब प्रकार से सम्पन्न थी, कभी शारीरिक एवं सांसारिक आवश्यकताओं से उदासीन न हुई। वे कभी जीवन के प्रति असन्तोष प्रकट नहीं करते थे। वे जीवन से सम्पर्क बनाये रखते और उसके प्रति अपनी पिपासा को शान्त करने के लिए सदा लालायित रहते। इस बात की पुष्टि उनकी इस प्रार्थना से होती है कि सृष्टि का अधिष्ठाता उन पर पर्याप्त अनुग्रह करे जिससे वे यावज्जीवन स्वास्थ्य तथा पूर्ण शक्ति से सम्पन्न रहें।

इन्द्र, वायु, सूर्य आदि की स्तुति से हमें पता चलता है कि श्री कृष्ण-चन्द्र और अन्य पौराणिक देवताओं की भावना बहुत काल बाद हुई। इन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देवताओं का पुराण-युग में प्रादुर्भाव हुआ। वैदिक युग में महान् ऋषि-मुनि पाँच तत्वों से परिचित थे और इन्हें ईश्वरीय-सत्ता से विभूषित करके 'देवता' का नाम दिया जाने लगा था। यहाँ गुरु तथा शिष्य इन्हीं तत्त्वों की स्तुति करते हैं।

कोई शान्ति-पाठ उस समय तक पूरा हुआ नहीं माना जाता जब तक तीन बार 'शान्तिः' न कहा जाय। आचार्यों का मत है कि शास्त्रों के अध्ययन को अबाध गति से चलते रहने का अवरोध तीन प्रकार की बाधाओं द्वारा हो सकता है। ये हैं—**आधिदैविक** (ईश्वर की ओर से आने वाली), **आधिभौतिक** (प्रकृति के तत्त्वों से होने वाली) और **आध्यात्मिक** (हमारे भीतर से प्रकट होने वाली)। आध्यात्मिक बाधाओं के लिए निष्क्रियता, श्रद्धाहीनता, अविश्वास और हमारी नकारात्मक प्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले अन्य दोष उदाहरण रूप में दिये जा सकते हैं।

प्रवचन प्रारंभ करने से पहले हम भी प्रतिदिन शान्ति-पाठ किया करेंगे। जब हम सब मिलकर 'शान्ति' का तीन बार उच्चारण करेंगे तो निष्ठापूर्वक हमारी यह कामना होगी कि ऊपर बतायी गयी त्रिविध बाधाओं में से कोई भी हमारे इस सामूहिक प्रयास में गतिरोध पैदा न करे।

उपनिषद्-द्रष्टाओं ने आत्मोत्कर्ष की अलौकिक क्रिया-विधि द्वारा स्वाभिमान को भस्मीभूत कर दिया। जब वे सत्य के स्वर्ण-मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर पहुँचे तो उन्हें इस आश्चर्यमय तथ्य का पता चला कि वे तो आप ही उसके स्वामी हैं। 'सिद्धि' वाला जगत ऐसा है कि वहाँ पहुँच जाने पर कोई लौटता नहीं। इस पर भी इन सिद्धों में से कुछ ऐसे व्यक्ति निःस्वार्थ सेवा की महान इच्छा से प्रेरित होकर संसार में लौट आते हैं जिससे वे आदर्श-जीवन की स्थापना करके यहाँ के नश्वर प्राणियों को सत्य के मार्ग पर ले जा सकें। वे सांसारिक प्राणियों के सामने उस रमणीय एवं अलौकिक क्षेत्र की रूपरेखा खैंचने और वहाँ तक जाने के मुख्य मार्ग को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। जब ऋषियों को ईश्वरीय प्रेरणा हुई और वे उसी भावना में तन्मय हो गये तो उन्हें उपनिषदों सरीखी अपनी अत्युत्तम रचनाओं के साथ अपने नाम जोड़ने कात निक-मात्र विचार न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुआ । इस प्रकार हमारे पास उपनिषदों के रूप में कई अद्वितीय दर्शन-ग्रंथ हैं जिनके रचयिताओं के नाम हमें मालूम नहीं । हाँ, हम यह अवश्य जानते हैं कि बुद्धि-चातुर्य्य से ओत-प्रोत इन उज्ज्वल शब्दों का स्रोत कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने उस सार-तत्त्व का आत्मानुभव किया और बाद में उसका इतने विस्तार से वर्णन किया ।

वैसे आपने यह अनुभव किया होगा कि हम जब कभी कोई भाव-पूर्ण पत्र या टिप्पणी लिख लेते हैं तो उसे दूसरों को दिखाने तथा हमारी सृजन-कला से होने वाले आनन्द का साँझीदार बनाने के लिए हम उतावले हो उठते हैं । इस तरह यह कहना ठीक होगा कि सब मौलिक-चित्रकार 'लकीर के फकीर' एवं स्थूल-बुद्धि संसारियों के लिए एक झमेला बन कर रह जाते हैं । यदि कोई गायक अपने गीत में खो जाय तो आप आपनी निर्धारित रेलगाड़ी द्वारा जाने के संकल्प का भी त्याग कर देंगे । एक लेखक तब तक आप का पीछा कहीं छोड़ेगा जब तक वह आपको अपनी रचना सुना नहीं लेता । आर्किमेडीज़ को यह ज्ञान नहीं रहा कि उसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था । वह तो नगर की सड़कों पर **'यूरेका', 'यूरेका'** चिल्लाता फिरा । ये क्षण ऐसे हैं जब मनुष्य एक निमेष के लिए अधः-क्षेत्र को छोड़कर अपने सीमित बल द्वारा **'सर्वज्ञ'** की एक अनुपम रश्मि से आलोकित हो जाता है । ऐसा कोई सच्चा कवि, चित्रकार अथवा गायक नहीं जो अपनी सर्व-श्रेष्ठ कृति के लिए अपने आपको पूर्ण प्रशंसा का पात्र समझे । वह सृजन-कला ही सर्वोत्तम होगी जिसका प्रदर्शन करते समय सीमित अहंभाव का अस्तित्व न रहे ।

जब उपनिषद्-द्रष्टाओं ने अहंभाव से परे के साम्राज्य का पूर्ण अनुभव कर लिया तो उन्होंने स्वभावानुसार अपनी घोषणाओं से निजव्यक्तित्व को अछूता रखा । उन्होंने अपने अनुभव को चाहे कितने उत्तम ढंग से प्रकट किया हो तो भी वे अपने विषय की वास्तविक महत्ता, सुन्दरता तथा पूर्णता को व्यक्त न कर सके । असीम को ससीम द्वारा न तो स्वयं समझा जा सकता है और न ही दूसरों को समझाया जा लकता है । "ईश्वर की परिभाषा करना उसे दूषित करने के समान है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यूरोप के तर्क-शास्त्र तथा दर्शन-ग्रंथों की तरह भारतीय उपनिषद् धनी होने अथवा प्रशंसा प्राप्त करने के साधन नहीं बनाये जाते। पश्चिमी संसार में दर्शन-शास्त्रों की गणना आत्म-प्रसाद एवं आत्म-तुष्टि के साधनों में होती है। इसके विपरीत पूर्वी संसार का हिन्दु-दर्शन ऋषियों द्वारा आत्म-सन्तोष का स्रोत समझा जाता है। इस कारण ऐसा दिखायी देता है कि महर्षियों ने अपने आपको अलग रखते हुए सच्चे मन से इस बात को महसूस किया कि उनके द्वारा अर्जित ज्ञान वस्तुतः उनका अपना न था। जिन मंत्रों को अपने हृदय में सुनने का उन्हें सौभाग्य मिला, वे मानों किसी और ने उन्हें सुनाये थे। 'श्रुति' का अर्थ भी यही है—"जो सुना गया है।"

जो जो शिष्य अपने द्रष्टा (गुरु) द्वारा बताये हुए सत्य का अपने व्यक्तित्व में पूर्ण अनुभव करता गया वह यथासमय स्वयं द्रष्टा (गुरु) बनकर उन साधकों को इससे परिचित करता रहा जो इस तथ्य को जानने के लिए उसके चरणों में उपस्थित हुए। इस द्रष्टा ने वह तत्त्व अनुभव करने का श्रेय कभी अपने आपको नहीं दिया बल्कि अपने गुरु का ही उल्लेख किया। इस तरह हमारे शास्त्रों में आज तक पवित्रता एवं शुचिता का समावेश है, चाहे ये गुरु-शिष्य परम्परा से भले ही हम तक पहुँच पाये हैं। हमें वे घोषणाएँ मान्य नहीं हैं जो मन तथा बुद्धि के स्तर से की गयी हों। इन्हें हम 'सनातन' वेद का अंग कभी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा करने पर हमारे दर्शन भी पश्चिमी दर्शन-ग्रन्थों के समान परिवर्तनशील बन जायेंगे अर्थात् हर १५-२० वर्ष के बाद उनका संशोधन करना आवश्यक हो जायेगा।

यूरोप में राष्ट्रीय-जीवन के प्रत्येक परिवर्तन, युद्ध, संकल्प आदि के साथ भौतिक पदार्थों के मूल्यांकन में परिवर्तन हो जाता है और इसके फल-स्वरूप जीवन के प्रति मानसिक तथा बौद्धिक प्रवृत्तियों का दृष्टि-कोण बदलता रहता है। यूरोप वालों के मस्तिष्क में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होते गये दर्शन-ग्रंथों की संख्या में वृद्धि होती रही जो प्लेटो (अफ़लातू) के समय से आजतक देखने में आयी है। इसके विपरीत भारत के **'सनातन'** वेद और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपनिषदों में जो 'सत्य' पवित्र गंगा की सुरम्य घाटियों में प्रकट किया गया वह आज तक ज्यों का त्यों बना हुआ है।

वैज्ञानिक प्रगति, साम्प्रदायिक जाग्रति, राजनैतिक चेतना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ सदा एक समान प्रभाव डालती हैं चाहे हमारे बाहर तथा भीतर के जगत से सम्बन्धित पदार्थों, विचारों और प्रगाढ़ निद्रा के अनुभवों के प्रति इनकी कैसी प्रतिक्रिया क्यों न हो। बाह्य जगत में हमने चाहे कितनी उन्नति की हो और इसकी बाहरी रूप-रेखा को हम भले ही पूरी तरह बदल सके हों तो भी निद्रा का हमारा अनुभव सदा एक समान रहता है। उपनिषदों में इस ध्येय की ओर संकेत किया गया है क्योंकि स्थूल जगत के हमारे जीवन में 'सत्य' का स्वरूप कभी बदलता नहीं।

इस ग्रंथ को प्रारंभ करने से पहले उचित होगा कि हम 'उपरिषद्' की रचना, विषय और कारिका पर कुछ प्रकाश डालें।

वेद चार हैं - ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। ये सब तीन तीन भागों में विभक्त हैं—आदि-भाग को 'मंत्र', मध्य-भाग को 'ब्राह्मण' और अन्तिम भाग को 'उपनिषद्' अथवा 'अरण्यक' कहते हैं। 'मंत्र' भाग में मुख्यतः प्रकृति की महत्ता, शक्ति और दृश्यों को गीतों द्वारा वर्णन किया गया है। इन गीतों से हमें ठीक पता चलता है कि प्राचीन युग के महान् आर्य प्रकृति के असंख्य नाम-रूपों में अधिष्ठातृ शक्ति का दिग्दर्शन करते थे जो दयालु, सहनशील और सदय होने के साथ-साथ शक्ति-सम्पन्न और कठोर शासक है। 'ब्राह्मण-भाग' में यज्ञ और विविध अनुष्ठानों को सम्पन्न करने से सम्बन्धित विधि को विस्तार से दिया गया है। 'अरण्यक' तो उस सत्ता का दार्शनिक विवेचन करते हैं जो दृष्ट संसार के अनेकत्व का मूल-आधार है। इनमें यह भी बताया गया है कि साधक किस प्रकार इस 'तत्त्व' को अनुभव कर सकते हैं।

अभी तक कुल मिला कर १८३ उपनिषदों का पता चला है जिनमें १२५ उपनिषदों को रूढिनिष्ठ स्वीकार किया गया है। इनमें दश उपनिषद्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सब से अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं क्योंकि इन पर वर्त्तमान युग के महान् दर्शनाचार्यों ने भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं। इन दश उपनिषदों में **'माण्डूक्योपनिषद्'** को बहुत उच्च स्थान दिया गया है।

'माण्डूक्योपनिषद्' में केवल १२ मंत्रहैं। इतना संक्षिप्त होने के कारण पाठक इसके विषय को उस समय तक समझ नहीं पाते जब तक इसकी पर्याप्त व्याख्या न की जाय। इसलिए श्री **गौड़पाद** ने, जो श्री शंकराचार्य के पितामह-गुरु थे, इस उपनिषद् की व्याख्या **'कारिका'** द्वारा की। यही कारण है कि आजकल **'माण्डूक्योपनिषद्'** के पाठ को उस समय तक सम्पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक 'कारिका' का भी अध्ययन न किया जाय।

सामान्यतः 'कारिका' कोई आलोचना नहीं है। वास्तव में कारिकाएँ वे स्मरणीय पदावलियाँ हैं जो छन्द-रचनाओं की सहायता से किसी विशेष विषय अथवा सिद्धान्त का निरूपण करती हैं ताकि इसे सुगमता से कण्ठस्थ किया जासके। 'मंत्र' अथवा 'सूत्र' भी इसी उद्देश्य से लिखे जाते हैं परन्तु मंत्र साधारणतः गद्य में होते हैं और इन्हें इतने संक्षेप से लेखनी-बद्ध किया जाता है कि इन्हें संकुचित करने के प्रयास में कई बार लेखक संदर्भ वाले शब्दों का भी प्रयोग नहीं करते। साथ ही 'कारिकाएँ' केवल निर्दिष्ट स्थल की व्याख्या करती हैं जब कि 'सूत्र' समूचे विषय पर प्रकाश डालते हैं।

उपनिषदों के नामों से न तो उनके विषय का पता चलता है और न ही रचयिता का, यद्यपि कई उपनिषदों के नामों से हमने अपना ही अर्थ जोड़ने का प्रयास किया है। असल में उपनिषदों के नाम उनके पाठ्य-विषय के पहले अक्षर के अनुसार होते हैं (जैसे—'ईशावास्य', 'केन' इत्यादि)। इस युग में जब हम किसी सुन्दर रचना के लेखक का नाम नहीं ढूँढ सकते तो हम असमंजस में पड़ जाते हैं। इसलिए आत्म-तृप्ति के लिए हम उसके रचयिता का कोई न कोई नाम गढ़ने का प्रयत्न करते हैं और वह भी उपनिषद् के नाम की सहायता से, जैसे 'कठोपनिषद्' के रचयिता 'कठक ऋषि'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हाल ही में एक धर्मशाला म ठहरे हुए एक वयोवृद्ध संन्यासी से भेंट करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ । उन्होंने 'माण्डूक्योपनिषद्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो आधुनिक अनुसंधान के विद्वानों को शायद उचित न प्रतीत हो क्योंकि इसकी पुष्टि में कोई सन्तोषजनक युक्ति नहीं दी जा सकती । तो भी मैं महसूस करता हूँ कि उस व्याख्या में पर्याप्त तथ्य पाया जाता है जिस से साधक द्वारा इस उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। 'मण्डूक' एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है 'मेंढक' । इस तरह माण्डूक्योपनिषद् का अभिप्राय मेंढक वाला शास्त्र हुआ । आशा है आप मुझे यह अर्थ करने की अनुमति देंगे । महात्मा ने मुझे यह भी बताया कि सब जीवों में से मण्डूक (मेंढक) को इस उपनिषद् के नाम के साथ जोड़ना क्यों उचित समझा गया । उनके शब्दों ने मेरे मन और हृदय पर गहरा प्रभाव डाला ।

मेंढक एक ऐसा जानवर है जो एक वर्ष म ९–१० महीने तक तालाबों और जोहड़ों के कीचड़ अथवा कूड़े आदि के ढेर में लोटता रहता है । इसका यह अर्थ हुआ कि मेंढक वर्ष के बहुत अधिक भाग में एकान्त सेवन करता रहता है मानो सभी चेष्ठाओं, वासनाओं, इच्छाओं आदि का परित्याग करके वह ध्यान-मग्न रहता हो । वर्षा काल में मानो वह अपनी तीखी 'टर्र टर्र' के द्वारा वर्षा के अश्रु-प्लावित दिनों को कोई सुन्दर सन्देश दे रहा ो ।

मेंढक की उपमा एक सच्चे महात्मा से भी दी जा सकती है क्योंकि उसकी शारीरिक चेष्ठाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ उस जैसी होती हैं। वह सदा सर्वसाधारण से पृथक् रहता और हिमालय की सुरम्य घाटियों में ध्यानावस्थित तरह कर अपना जीवन बिताता है। इस श्रेणी के पूर्ण ज्ञानी आत्मकेन्द्रित रह कर एकान्त में समाधि जमाये रहते हैं और वर्षा-ऋतु (चातुर्मास्य) में मैदानों में आकर अपना दिव्य सन्देश देते हैं । उनकी गर्जना विषय-वासना से लिप्त संसारियों को कठोर एवं अरुचिकर प्रतीत होती है। ये द्रष्टा भावमयी कविता या उल्लासपूर्ण गीत सुनाना नहीं जानते । उन्हें तो केवल सत्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का उसके वास्तविक स्वरूप में प्रदर्शन करना है । ऐसे व्यक्तियों के लिए, जिनके हृदय भावुकता तथा आवेशपूर्ण मृदुलता से भरे पड़े हैं, इन महात्माओं के उपदेश मेंढक के टर्राने से अधिक महत्व नहीं रखते; किन्तु वर्षा के अश्रु-प्रवाहित और भयंकर बवंडर (तूफ़ान) वाले दिनों में जीवन के इन 'मेंढकों' की 'टर्र-टर्र' (अर्थात् पैग़म्बरों तथा मार्ग-दर्शकों का निष्कपट 'टर्राना') अवश्यमेव अनुपम शान्ति का सुन्दर संदेश लिये रहती है ।

वास्तव में वर्षा होने से पहले या बाद जब मेंढक एक स्वर से टर्राना आरम्भ करते हैं तो सांसारिक व्यक्ति यह धारणा कर लेते हैं कि संतप्त भूमि पर निकट-भविष्य में वर्षा होगी । ठीक ऐसे ही, जब मनुष्य जान बूझ कर अथवा अज्ञानवश 'समाज को' संसार के कीचड़ में धकेल देते हैं, तो पृथिवी पर ऐसे दिव्य पुरुष आते हैं जो उस युग की घोर निन्दा करते तथा कठोर शब्दों में 'सत्य' का सन्देश देते हैं, जैसा कि गीता में किया गया है । संसार से प्रयाण करने से पहले ये दिव्य-सन्देश-वाहक मनुष्यमात्र में धर्म की पुनः स्थापना कर देते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशाला वाले महात्मा की व्याख्या के अनुसार **माण्डूक्योपनिषद्** का नाम ही विद्यार्थियों को अपनी बौद्धिक एवं मानसिक भूलों से परिचित होने के लिए तैयार कर देता है और उन्हें स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दी जाती है कि 'सत्य' का संदेश देते हुए किसी प्रकार की भावुकता या आवेग का उसमें समावेश नहीं किया गया बल्कि 'सत्य' ज्यों का त्यों उनके सामने रखा गया क्योंकि यह अपने अकृत्रिम रूप में ही हमारे मन को आघात पहुँचा सकेगा ताकि हम निजी परिस्थितियों को समझते हुए इनके विरुद्ध पीठ ठोंक कर खड़े हो जायँ ।

अभी तक तो हम "**माण्डूक्य**" के शीर्षक के रहस्य की ही व्याख्या करते रहे हैं । साहित्य के उपवन में आने वाले नवागन्तुकों को कदाचित् 'उपनिषद्' शब्द की रचना के विषय में कुछ जानने की उत्सुकता होगी । एक विचार से तो यह शब्द उप+नि+षद् के योग से बना है जिसका अर्थ है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(गुरु के) समीप निम्नस्थान पर बैठना (उप=समीप; नि=नीचे होकर; षद्=बैठना) अर्थात् गुरु के पास बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। इस अवस्था में शिष्य गुरु से किसी प्रकार की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक समानता रखने का दावा नहीं करता है बल्कि वह आत्मोत्सर्ग, श्रद्धा और सम्मान की भावना से उसके चरणों में उपस्थित होता है।

हर उपनिषद् म एक ही शैली को अपनाया गया है जो एक पिपासाकुल शिष्य और एक सहानुभूति-पूर्ण, दयालु एवं धुरंधर विद्वान् के बीच हुआ वार्त्तालाप है। किसी उपनिषद् में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग से इस बात को पूरी तरह नहीं बताया गया है कि क्या इसकी पृष्ठभूमि में किसी गुरु और शिष्य का अस्तित्व था भी या नहीं। माण्डूक्योपनिषद् के आरम्भ में ही बताया गया है कि कोई गुरु और शिष्य बैठे हुए 'अतीत' ज्ञान के विषय पर विचार-विनिमय कर रहे हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इस बात को नहीं समझाया गया तो भी गुरु-शिष्य-सम्वाद के भाव का प्रतिपादन किया गया है जिससे भाव-पूर्ण हृदय वाले पाठक इसे समझ कर मनोरंजन प्राप्त कर सकें।

उपनिषदों के अध्ययन के लिए 'गुरु' का होना अनिवार्य है क्योंकि, यद्यपि उपनिषद् सनातन एवं अनन्त 'सत्य' की व्याख्या करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं, इसे केवल शब्दों द्वारा ही समझाया जा सकता है। इनमें परिभाषा अथवा स्पष्ट शब्दों द्वारा इस सत्य की व्याख्या नहीं हो पायी है। केवलमात्र सांकेतिक शब्दों द्वारा इसे बताया गया है। किसी शब्द का केवल अर्थ बताने से, चाहे वह कितना ही उपयुक्त क्यों न हो, उपनिषदों के यथार्थ ज्ञान को समझाया नहीं जा सकता। उपनिषदों में कभी यह दावा नहीं किया गया है कि 'सत्य' की परिभाषा सीमित शब्दों द्वारा की जा सकती है। ये शब्द-भण्डार तो ऐसे विचारों की ओर संकेत करते हैं जिनके द्वारा महर्षि अवर्णनीय की व्याख्या कर सके हैं अर्थात् उन्होंने हमें परिमित शब्दों द्वारा असीम का दिग्दर्शन कराया है। इस कारण आवश्यक है कि कोई पथ-प्रदर्शक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सांकेतिक शब्दों द्वारा हमें इस सनातन तथ्य को भली भाँति समझाए ।

जो कुछ अभी तक कहा जा चुका है उससे आपको वेदों के विस्तृत-क्षेत्र और उनके ज्ञान-मन्दिर **'उपनिषद्'** के वास्तविक रूप का काफ़ी पता चल चुका होगा । कल से हम इस ग्रन्थ को प्रारम्भ करेंगे । निवेदन है कि अभी आप यज्ञ-शाला में कोई पुस्तक न लेकर आएँ । हम सब काफ़ी पढ़े-लिखे हैं और हमें जीवन भर बहुत सी पुस्तकें उपलब्ध रहेंगी । यहाँ हमारा काम विद्वत्ता का प्रदर्शन करना नहीं है वरन् एक साथ मिल कर इस विस्मृत मन्दिर के अन्धेरे बरामदों में से होते हुए उस शक्तिशाली आत्मा के सामने उपस्थित होना है जो सनातन निस्तब्धता में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है ।

'मुक्तिकोपनिषद्' में संक्षेप से 'माण्डूक्य' पर सुन्दर आलोचना की गयी है । उसमें यह लिखा हुआ है कि केवल 'माण्डूक्य' द्वारा साधक मुक्त हो सकता है—माण्डूक्यम् एकं केवलं मुमुक्षूणां विमुक्तये ।

इस उपनिषद् में यद्यपि केवल बारह गद्य-मंत्र हैं तो भी यह समूचे जीवन पर विचार करता है । पूर्व और पश्चिम के दर्शन-ग्रन्थों में तो जीवन की जाग्रतावस्था का सामान्य रूप से विवेचन किया गया है परन्तु 'सत्य' की दृष्टि से दर्शन द्वारा मनुष्य के समूचे जीवन या अनुभव की व्याख्या की जानी चाहिए । श्री **शंकराचार्य** तथा श्री **गौड़पाद** दोनों ने इस विचार का समर्थन किया है । **'माण्डूक्योपनिषद्'** में स्वतः-स्पष्ट रीति से महर्षि द्वारा समग्र जीवन का अन्वीक्षण करने के बाद सत्य की खोज करने में सहयोग दिया गया है ।

'माण्डूक्य' में चेतना की उन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है जिनमें से होते हुए हम अपने जीवन के अनुभव को प्राप्त करते हैं । इसमें इन अवस्थाओं का एक एक करके गहन अध्ययन किया गया है । जीवन के अध्ययन में महान् ऋषियों ने जिस तन्मयता एवं योग्यता का प्रदर्शन किया है वह मनुष्य की विचार-धारा का एक अनूप अंग है । यहाँ किसी राग,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावुकता और आवेग का प्रकाश नहीं किया गया है। उन्होंने तो सत्य की खोज की जिससे उन्हें सत्य के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हुआ। अपनी इस खोज में उन्हें कई एक अरुचिकर परिणामों से साक्षात्कार करना पड़ा। किन्तु वे इनसे किसी प्रकार व्यग्र, हतोत्साहित और भयभीत न हुए। उन्होंने ज्ञानार्जन की पिपासा को शान्त करने तथा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए असीम साहस एवं वीरता का परिचय दिया। अन्त में वे 'सत्य' के उत्तुंग शिखर पर पहुँच गये जहाँ से उन्होंने निज उद्यमशील शिष्यों के लिए संक्षिप्त किन्तु आत्म-पूरित शब्दों द्वारा अपने अनुभवों की तुमुल गर्जना की।

जैसा हम पहले ('केन' और 'कठोपनिषद्' पर दिये प्रवचनों में) बता चुके हैं, उपनिषदों के रचयिताओं का साधारणतः पता नहीं चलता; फिर भी हम अपनी दुर्बलता के कारण इन महान् साहित्यिक कृतियों के साथ किसी न किसी का नाम जोड़ने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार **मध्याचार्य्य** उनके दो शिष्यों, व्यास तीर्थ तथा श्री निवास, के मतानुसार पहले परिच्छेद में दिये गये गद्य-अनुच्छेद और छन्दोभाग 'वरुण' द्वारा मेंढक (मण्डूक) के रूप में प्रदान किये गये। पौराणिक वृत्ति वाले तो इस प्रकार की व्याख्या से सन्तुष्ट हो जायेंगे किन्तु आजकल के विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र संभवतः इसकी सत्यता पर इतना विश्वास न करें।

इससे **माण्डूक्योपनिषद्** के हमारे अध्ययन में एक बड़ी समस्या आ खड़ी होती है। प्रोफ़ेसर डॉयसन (Deussen) जैसे कुछ व्यक्ति यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि इसके बारह गद्य-अनुच्छेद भी श्री **गौड़पाद** द्वारा रचित हैं अर्थात् अपनी कृति 'दी फ़िलास्फ़ी आफ़ दी उपनिषद्ज़' में उपरोक्त प्रोफेसर महोदय ने यहाँ तक लिखा है कि वस्तुतः **'माण्डूक्योपनिषद्'** का अस्तित्व नहीं है बल्कि यह समूचा साहित्य 'प्रकरण-ग्रंथ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अपन सिद्धान्त की पुष्टि में इन महाशय ने लिखा है कि श्री **'शंकराचार्य्य'** की दृष्टि में यह उपनिषद् भी नहीं वरन् एक प्रकरण-ग्रन्थ है क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपनी किसी कृति में इन्होंने माण्डूक्य का उल्लेख नहीं किया।

इस तरह मध्वाचार्य्य और प्रोफेसर डॉयसन के विचारों मे महान् अन्तर है। मध्वाचार्य 'कारिका' को भी उपनिषद् मानने का दावा करते हैं जब कि प्रोफेसर महोदय मंत्रों को भी 'कारिका' का अंग मानने पर बल देते हैं।

इस बात को भी विस्तार से समझाने में मेरा यह उद्देश्य है कि आप यह समझ सकें कि उच्चकोटि के विद्वान् तथा तीक्ष्ण-बुद्धि व्यक्ति भी कि प्रकार अपनी योग्यता का सदुपयोग न कर सके जिससे उन्हें उपनिषदों के अध्ययन से वास्तविक लाभ न हो सका। इस बारीकी वाले मामले में यह कहना, कि श्री शंकराचार्य्य ने अपने भाष्य में कभी 'माण्डूक्य' का हवाला नहीं दिया, एक विषम एवं सीधे-साधे साधन को अपनाना है। वास्तव में श्री शंकराचार्य्य से पहले कई महान् लेखकों ने 'माण्डूक्य' द्वारा उपनिषदों का हवाला देने का दावा किया था। हमें श्री शंकराचार्य्य के शब्दों तथा विचारों में कई जगह 'माण्डूक्य' की गन्ध आती है।

संभव है श्री शंकराचार्य्य ने गद्य के बड़े-बड़े स्थलों का उल्लेख इस लिए न किया हो कि इसके द्वारा उनके साहित्यिक उद्देश्य की पूर्ति न होती हो। इनके द्वारा उन्हें अपने विचार प्रकट करने तथा अपनी सुसम्बद्ध एवं 'लक्ष्य' वाली गद्य-शैली को लेखनी-बद्ध करने में कोई विशेष सहायता न मिलती हो। यहाँ यह कहना उचित होगा कि श्री शंकराचार्य्य न केवल एक दार्शनिक थे वरन् एक ओजस्वी लेखक भी।

इतना छोटा होने पर भी 'माण्डूक्योपनिषद्' वेदान्त-साहित्य का एक पुष्प-ग्रंथ है क्योंकि इसमें 'अद्वैतवाद' से सम्बन्धित निश्चित् तथा स्पष्ट शब्दों का समावेश किया गया है। इसके एक अनुच्छेद में एक 'महावाक्य' का उल्लेख है जिसका घोर समाधि के लिए प्रयोग किया जाता है। वेदान्त-साधना की दृष्टि से चार वेदों से चार महा वाक्य लिये गये हैं। अथर्ववेद से 'अयम् आत्मा ब्रह्म' का महावाक्य इसी उपनिषद् से लिया गया है। इसमें बताया गया है यह 'आत्मा' ब्रह्म है। व्यक्तिगत 'अहम्' का अर्थ है विश्व-'व्यापी अहम्'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेदान्त और मीमांसा के अनुयायी यह बात मानने में सहमत हैं कि शास्त्र स्वतः निष्ठा के लिए एक बड़ी युक्ति का महत्व रखते हैं और शास्त्रों की सत्ता अनुल्लंघनीय है। इस पर भी ये दोनों श्रुति की कई व्यवस्थाओं को स्वीकार करते हैं जिनमें से सबसे अधिक महत्व वाली व्यवस्था है 'उप-पथि' (तर्क-युक्त विवेक)। यदि श्रुति-ग्रन्थों में बार बार इस तथ्य की घोषणा की जाय कि 'अग्नि ठंडी है' तो भी अग्नि को स्पर्श नहीं किया जायेगा। ऐसे स्थलों में हमें यह समझ लेना चाहिए कि यह वाक्य लाक्षणिक शैली में लिखा गया है और इस संदर्भ में इसका उचित अर्थ किया जाय। प्रस्तुत यज्ञ में हम जिस ग्रन्थ का अध्ययन करने जा रहे हैं उसके मंत्रों में 'सत्य' के स्वरूप का वर्णन किया गया है और 'कारिका' में इस विचारधारा का अन्वेषण करने का यत्न किया गया है। श्री **गौड़पाद** ने अपनी कारिका में हमारे मस्तिष्क के लिए उचित सामग्री का संग्रह कर दिया है, यहाँ तक कि तर्क और युक्ति द्वारा बहुत अधिक मात्रा में हमारे लिए भोजन की व्यवस्था कर दी है।

कारिका को चार भागों में विभक्त किया गया है। इसमें कुल २१५ पद्य हैं—'**अगम**' प्रकरण (शास्त्र-सम्बन्धी खण्ड २८) '**वैतथ्य**' प्रकरण (माया-सम्बन्धी खण्ड ३८), '**अद्वैत**' प्रकरण (अद्वैतवाद खण्ड ४८) और '**अलातशान्ति**' प्रकरण (अग्नि शिखा का शान्त होना खण्ड १००)।

अगम प्रकरण में इस उपनिषद् के १२ मंत्र दिये गये हैं और, जहाँ जहाँ श्रुति की व्याख्या एवं सम्मति को स्पष्ट रूप से बताना आवश्यक समझा गया, वहाँ वहाँ कारिका के पदों का समावेश किया गया है। हम पहले भी कह चुके हैं कि कारिका भाष्य नहीं है और न ही इसे टीका समझना चाहिए। शास्त्र के किसी एक पहलू को ठीक ढंग से स्पष्ट करना ही एक टीकाकार का काम है। उसका कर्त्तव्य है कि वह किसी दर्शन-शास्त्र की शैली के अंश की व्याख्या करे। इसके विपरीत शास्त्र द्वारा किसी विशेष विचार-धारा को पूर्ण रूप से समझाने की व्यवस्था की जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रत्येक भाग को प्रारम्भ करने से पूर्व हम प्रस्तावना द्वारा उसके विषय को समझाने का यत्न करेंगे ताकि हर परिच्छेद को सुगमता से जानने के लिए आपको पर्याप्त साधन सुलभ हो सके।

—:o:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अगम प्रकरण

श्री गौड़पाद द्वारा रचित 'कारिका' सहित **'माण्डूक्योपनिषद्'** के इस अध्याय को 'अगम प्रकरण' कहा जाता है क्योंकि इसमें कारिका की छन्द-रचना के अतिरिक्त उपनिषद् के अंश भी मिलते हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि प्रोफेसर डॉयसन के मतानुसार सारे का सारा ग्रन्थ गौड़पाद द्वारा रचित है।

अपनी पुस्तक 'डेर अल्टेयर वेदान्त' में डाक्टर वालेसर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गौड़पादीय कारिका चार अध्यायों वाली एक पुस्तक है और इससे रचयिता के नाम का कुछ पता नहीं चलता। इसकी राय में उस समय वेदान्त-मत गौड़ देश (उत्तरी बंगाल) में फैला हुआ था और वहाँ के कुछ सिद्धान्तों को चार अध्यायों में संहिताबद्ध किया गया और इन्हें मिला कर 'गौड़पादीय कारिका' का नाम दिया गया। संक्षेप में, "यह एक ऐसी पुस्तक है जिससे लेखक का पता चलता है न कि लेखक के द्वारा रचित पुस्तक का।" इस महान् फ्रेञ्च विद्वान् को इस कारण यह भ्रम हो गया कि 'गौड़पादीय' शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है। वस्तुतः सम्मानित व्यक्तियों को सदा बहुवचन में सम्बोधित किया जाता है। यह बात न केवल संस्कृत भाषा में ही पायी जाती है बल्कि अंग्रेजी में भी, जैसे राजा के लिए 'हम' का शब्द। 'गौड़' शायद किसी जाति का नाम हो और 'पाद' एक प्रतिष्ठा-सूचक शब्द। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'कारिका' के लेखक एक माननीय ऋषि थे जो गौड़ देश के निवासी थे।

पहले अध्याय को शास्त्रीय कहा गया है क्योंकि इसमें उपनिषद्-मंत्रों के साथ बीच-बीच में कारिका के श्लोक दिये गये हैं। श्री गौड़पाद के २९ श्लोक उपनिषद् के प्रकरणों पर शब्दशः टीका नहीं हैं। 'कारिका' में तो उपनिषद् के भावों का इस ढंग से पुनर्विन्यास किया गया है कि पाठकों को इस ग्रंथ का भावार्थ आसानी से समझ आ जाय और वह है 'तुरीय' अर्थात् पूर्ण अद्वैत सत्य।

जिन कथनों का भाष्यकार के विशेष विषय से कोई लाभप्रद सम्बन्ध नहीं है उन्हें छोड़ दिया गया है। साथ ही 'कारिका' में उन भावों को स्पष्ट रूप से समझाया गया है जिनकी ओर संकेत-मात्र किया गया है अथवा जिन को उपनिषद् में सूक्ष्मता से दिया गया है। इस अध्याय को 'अगम प्रकरण' कहा जाता है क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् में श्री गौड़पाद ने 'दर्शन-शास्त्र' का एक अनुपम चित्रकार की तरह चित्रण किया है। प्रकरण-पुस्तक एक निदेशिका है जिस में 'उपदेश-ग्रन्थ' का समावेश होता है। इस नाम को सार्थक करने वाली इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के अन्त में कतिपय लाभप्रद एवं अत्यन्त प्रभावपूर्ण निर्देश दिये गये हैं जिनक अभ्यास करते रहने से साधक परिपक्व अवस्था को प्राप्त करके पूर्ण सत्य को, जोकि इस ग्रंथ का मूल विषय है, अनुभव कर सकता है।

शास्त्र को आधार मान कर श्री गौड़पाद ने चेतना की तीन अवस्थाओं और इनके अनुभवों का विश्लेषण करके सनातन सत्य को हमारी बुद्धि की परिधि में ला खड़ा किया है क्योंकि यह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से परे आत्मा में अधिष्ठित है। इसे 'तुरीय' कहते हैं। शास्त्र के उपदेश और 'कारिका' के विचारों का विश्लेषण करने से हम इन सब की व्याख्या कर सकते हैं जो नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जायेगी :—

For Private and Personal Use Only

मात्रा	पाद		अवस्था	प्रज्ञा	भोग	तृप्ति	स्थानत्रय
	व्यष्टि	समष्टि					
अ	वैश्वानर १९ मुख (ज्ञान के उपकरणों) वाला	वैश्वानर विराट् (७ अंगों वाला वैश्वानर)	जा ग्र त	बा ह्य	स्थू ल	स्थू ल	दक्षिण (नेत्र)
उ	तैजस (१९ मुख वाला)	तैजस (७ अंगों सहित) हिरण्यगर्भ	स्व प्न	आ न्त रि क	सू क्ष्म	सू क्ष्म	म न (मनः)
म्	प्राज्ञ	ईश्वर	सु षु प्ति	क- रूप	आ न न्द	आ न न्द	हृ द य (आकाश)

(अमात्र—आत्मा—ब्रह्म—तुरीय)

इस अध्याय को पढ़ चुकने के बाद हमें यह पता चल जायेगा कि ऊपर की तालिका में प्रायः उन सभी भावों को दिखाया गया है जो पहले अध्याय में समझाये गये हैं।

For Private and Personal Use Only
Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हरिः ओ३म् । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥

हरि : ओ३म् । ॐ अक्षर ही सब कुछ है । इसकी स्पष्ट व्याख्या आगे की जाती है । भूत, वर्त्तमान और भविष्य में जो कुछ भी है सभी ॐ है । तीन-काल से परे जो कुछ है वह वास्तव में ॐ ही है ।

उन व्यक्तियों की, जिन्हें दीक्षा नहीं दी गयी और जो पढ़ने के शौकीन हैं, दृष्टि में उपनिषद् के ये प्रारम्भिक शब्द प्रायः अपवाद एवं विवेक-शून्यता से भरे हुए होंगे क्योंकि इनमें अकस्मात् यह घोषणा कर दी गयी है । वास्तव में यह कथन बहुत क्रान्तिकारी है और अद्भुत एवं भयावना भी मालूम देता है क्योंकि यहाँ इस सत्य का सहसा विस्फोटन कर दिया गया है । जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, हमें सदा इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि हर श्रुति में शाश्वत् रूप से गुरु और शिष्य के बीच सजीव वार्त्तालाप को लेखनी-बद्ध किया गया है । उपनिषदों के शब्दों द्वारा हमें हिमालय की घाटी, जिस में कलरव-विरत, कलोलिनी 'गंगा' प्रवाहित है, के मनोरम दृश्य की कल्पना करनी चाहिए जहाँ एक छोटी सी पर्ण-कुटी में शान्त-चित्त, दिव्य-स्वरूप तथा उज्ज्वल आकृति वाला एक व्यक्ति बैठा है । यह मनुष्य, जो ईश्वर-ज्ञान से पुलकायमान है, निज हृदय-स्थित अनुभव अपने सामने बैठे हुए उत्सुक शिष्य को व्यक्त कर रहा है । यह शिष्य दिव्य-शक्ति में अपना मन लगाये हुए है ।

एक साधारण साधक निराशा और खिन्नता वाले जीवन से ऊब कर गुरु के चरणों में उपस्थित होता है क्योंकि वह अपने आप को असफलताओं तथा कष्टों से कातर पाता है । निराशा तथा असफलता के कीचड़ में फँसा हुआ कोई विद्यार्थी क्या अध्यात्मवाद में परिपक्व हो सकता है ? जीवन से भयभीत होकर भाग जाने वाला मनुष्य एक संभावित साधक नहीं बन सकता ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवन की गहनता को पूरी तरह अनुभव करने के बाद वह इस तथ्य को समझ चुका होता है कि जीवन की समुज्ज्वल घटनाओं में भी शोक छिपा रहता है। इस बात से निराशा एवं निरुत्साह को हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए। यह असन्तोष जीवन की असफलताओं के कारण नहीं होता बल्कि इसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जब मनुष्य जीवन की अधिक संभावनाओं से परिचित हो चुका हो। ऐसे अवसर पर साधक अपनी अव्यक्त भावना अथवा विचित्र कीर्त्ति को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर पाता। यह अमूर्त्त ज्योति किसी विशेष स्थान से न आने पर भी सब ओर संकेत करती रहती है। यह विचित्र भाव अवरुद्ध होने पर भी मनुष्य को प्रभावित करता रहता है।

इस प्रकार एक आदर्शभूत् शिष्य गुरु के चरणों में तभी उपस्थित होता है जब वह जीवन को उत्साह, विवेक और सच्चरित्रता से व्यतीत कर चुका हो; वह उस दिव्य व्यक्ति के चरणों में जाकर निवेदन करता है, "स्वामिन्! खान-पान, जीवन-मरण, आगम-व्यय, आशा-निराशा वाले इस जीवन का क्या कोई महान् उद्देश्य है ? क्या यह जीवन सतत निराशा से पूर्ण एक गाथा ही है ? जीवन-मरण के दो छोरों में गतिमान होने वाला यह यात्री क्या हर्ष तथा शोक से अटे हुए मार्ग पर चलने के लिए ही है ? नाश, मृत्यु और नश्वरता से व्याकुल इस प्राणी के लिए क्या कोई मुक्ति का पथ भी है ? क्या कोई ऐसा महान् जगत है जिसमें सुकृत्यों द्वारा अधिक शान्ति तथा प्रसन्नता की प्राप्ति संभव हो सकती है ?" इस प्रकार के शिष्य को, जिसने पारस्परिक ज्ञान से कुछ वर्षों में परिपक्वता प्राप्त कर ली है, एक दिन गुरु अपने पास बैठाता और महान् उपनिषद्-ज्ञान देने की व्यवस्था निर्धारित करता है।

इस प्रकार उपनिषद् की वास्तविक उक्ति का अध्ययन करने से पहले यदि हम इस कथा की पृष्ठ-भूमि को भली-भान्ति समझ लें तो हमें इन आकस्मिक घोषणाओं के रहस्य तथा सन्देश का यथार्थ अभिप्राय सुगमता से मालूम हो जायेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस मन्त्र के पहले दो शब्दों द्वारा आचार्य्य प्रार्थना करते हैं जिसका प्रतिदिन उच्चारण करके शिष्य भगवान का वरदान प्राप्त करने की कामना करता है ताकि प्रकरण में दिये गये वास्तविक ज्ञान से सुशोभित हो कर वह वेदाध्ययन का सफलतापूर्वक सम्पादन कर सके ।

श्री शंकराचार्य्य ने प्रस्तावना में कहा है—"नाम और नामी एक होने पर भी यहाँ अभिदान या नाम की महिमा की व्याख्या की गयी है।" इस उपनिषद् में पहले ॐ की मात्राओं के प्रबन्ध को समझाया गया है और बाद में इनके महत्व पर प्रकाश डाला गया है । "इसकी विशेषताओं को फिर समझाया जायेगा।" अभी तो गुरु अपने शिष्य की समस्या को एक कथन द्वारा ही वर्णन करने का प्रयत्न कर रहे हैं और यह है—'ॐ' अक्षर ही सब कुछ है ।

शिष्य ने गुरु से यह पूछा था कि क्या इस नश्वर अनेकता के पीछे कोई मूल एवं विशुद्ध सत्य निहित है जिसे हम अपने अनुभव द्वारा जान सकते हैं ? उस विद्यार्थी को अनेकता के परोक्ष व्याप्त, सारभूत् सत्य को समझाने के उद्देश्य से आचार्य्य ने कहा कि यह अधिष्ठातृ देव एक सर्वोच्च तत्व है जो बाह्य जगत में अनुभूत अनेकता का आध्यात्मिक समभाजक है ।

जिस तरह मिट्टी के लाखों बर्तन मूलतः मिट्टी ही हैं, वैसे एक ही सत्य-सनातन अधिष्ठाता है जिससे इस अनेकता-पूर्ण संसार की उत्पत्ति हुई । बर्तन 'मिट्टी' से बनकर 'मिट्टी' में ठहरते और अन्त में नष्ट होकर इसी रूप में समा जाते हैं; ऐसे ही विविध रूप वाला यह प्रत्यक्ष संसार सदा एक ही सत्य पर आधारित रहता है । यह इस 'सत्य' में 'स्थित' रहने के बाद इसी में लीन हो जाता है । इस मौलिक, शाश्वत, व्याप्त 'चेतना-शक्ति' को "ॐ" द्वारा बताया गया है ।

गुरु के कथन को सुनकर वह विस्मित शिष्य इस कौतुक-पूर्ण सत्य को समझ नहीं पाता । तब वह सहसा शंकापूर्ण दृष्टि से गुरु की ओर देखने लगता है । इस अव्यक्त प्रश्न को विद्यार्थी के मुख पर अंकित देख कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऋषि दया-पूर्ण शब्दों में कहते हैं—"इसका स्पष्टीकरण मैं बाद में करूँगा।"

इस मुख्य उक्ति से शिष्य सहसा यह समझ सकता है कि हिमालय की सुरम्य घाटी के उस आश्रम और पवित्र गंगा में ही ॐ की सत्ता व्याप्त है क्योंकि वह इन स्थानों को श्रद्धा-पूर्ण दृष्टि से देखता है। उसके इस भ्रम को निवारण करने के उद्देश्य से आचार्य्य ने "यह सब", "भूत, वर्त्तमान और भविष्य में केवल ॐ ही सत्तारूढ़ रहता है" आदि शब्दों द्वारा इस रहस्य को सुलझाने पर बल दिया। भूत, वर्त्तमान और भविष्य से अभिप्राय इस पदार्थमय संसार से है जिसे हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया, जिसका हम स्वयं आस्वादन ले रहे हैं और जिसका हमारी सन्तान उपभोग करेगी। समस्त जगत का एकमात्र आधार वही है जो तीन-काल में विकार-रहित स्वरूप में रहता है। इसे हम 'ॐ' का नाम देते हैं।

सम्भव है कि यहाँ शिष्य एक और भ्रम का शिकार हो जाय कि यह संसार 'तीन-काल' में ही ॐ पर आधारित है और 'काल', 'अन्तर' तथा 'कारण' से परे रहने वाला 'अनुभव-जगत' इस से पृथक् है और उसका अस्तित्व इस परम-तत्त्व पर आधारित नहीं है। इस शंका का समाधान करने के उद्देश्य से आचार्य्य ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि 'काल' की परिधि में आने वाले अथवा इससे परे पाये जाने वाले सब पदार्थों का एक मात्र आधार 'ॐ' है अर्थात् इसकी सत्ता तीन-काल से भी परे अनुभव में आती है।

काल (समय) की धारणा केवल हमारे मन के कारण होती है। मन के बिना इस प्रकार की धारणा कभी नहीं हो सकती। हम यह भी जानते हैं कि मन स्वतः एक निश्चेष्ठ वस्तु है। चेतना के सम्पर्क में आने पर यह समान रूप से क्रियाशील एवं स्पन्दित हो जाता है। अतः कालातीत सत्ता भी वही अलौकिक जीवन-स्फुलिंग है जो शरीर, मन और बुद्धि को एक स्थान में ले आता है। मानो यही एकमात्र स्पन्दन-शक्ति है।

इस प्रकार ॐ का चिह्न और इसकी मात्राएँ न केवल अनेकता वाले

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस व्यक्त संसार को प्रकट करती हैं वरन् ये अव्यक्त, अद्वैत यथार्थता का भी मूल आधार हैं। भीतरी जगत में भी 'ॐ' हमारे स्थूल आवरणों में व्याप्त है और साथ ही इनके परे आध्यात्मिक केन्द्र में वही सत्तारूढ़ है। यह कैसे है—इस बात को प्रस्तुत उपनिषद् के सभी बारह पवित्र मंत्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

यह सब 'ब्रह्म' ही है; यह आत्मा 'ब्रह्म' है; इस आत्मा के चार पद हैं।

पिछले मंत्र में प्रखर-बुद्धि महान् ऋषि ने संक्षेप में यह कहा था—"यह सब 'ॐ' ही है।" इस भाव की व्याख्या करते हुए ऋषि ने शिष्य को सम्बोधित करके कहा—"यह सब 'ब्रह्म' है।" स्वभावतः महर्षि अपने छात्र को यह समझाना चाहते हैं कि "यह सब ब्रह्म' है।" 'ॐ' केवल हमारे आध्यात्मिक केन्द्र की ओर संकेत नहीं करता बल्कि यह अनेकता वाले माया-मय संसार के परे स्थित रह कर आध्यात्मिक यथार्थता का भी सूचक है। "संसार के नाम और रूप सर्वव्यापक चेतन-शक्ति में आरोप-मात्र ही हैं।" इस तथ्य की सभी उपनिषदों में पुनरावृत्ति की गयी है।

वेदान्त के तत्वान्वेषण में यद्यपि शिष्य से यह अनुरोध किया गया है कि वह अपने शरीर, मन और बुद्धि को लाँघ कर अपने आपको खोजे, तो भी इस गुह्य आध्यात्मिक केन्द्र को प्राप्त करने के लिए शिष्य का पथ-प्रदर्शन किया जाता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हमारे चारों ओर पायी जाने वाली दानव-प्रवृत्तियों से अलग किसी व्यक्तिगत ईश्वरीय-शक्ति को ढूँढने का प्रयास किया जा रहा है। आत्मानुभूति अर्थात् आत्मा की फिर से खोज करने की क्रिया में सर्व-व्यापक दैवत्व को पूर्ण रूप से अनुभव करने का भी समावेश है।

इस बात को वेदान्त में 'घटाकाश' और 'व्यापक-आकाश' के उदाहरण द्वारा अच्छे ढंग से समझाया गया है। एक कमरे के भीतर का आकाश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किसी भी अवस्था मे 'व्यापक' आकाश से पृथक् नहीं है । प्रत्यक्ष आकाश कभी सीमाबद्ध नहीं होगा । इसे ईंट-चूने की दीवारों द्वारा परिवेष्ठित नहीं किया जा सकता है क्योंकि चाहे कमरे अलग-अलग दिखायी देते हैं, उनकी चार दीवारें आकाश में ही खड़ी हुई हैं । इस अवस्था में हम इतना ही कह सकते हैं कि आकाश को आकाश ही घेरे हुए है और आकाश को संसार का कोई पदार्थ सीमाबद्ध नहीं कर सकता । इस पर भी कमरे के भीतर वाले आकाश ने उसके फ़र्श, छत और दीवारों से समीकरण करके अपने आपको संकुचित समझ लिया और "बैठक का आकाश", "शयन-कक्ष का आकाश" आदि कई नाम धर लिये । वास्तव में इस भवन के कमरे बनने से पहले 'आकाश' अविच्छिन्न था और इसके गिर जाने पर वह फिर इसी प्रकार निर्लिप्त एवं व्यापक हो जायेगा । इसलिए 'कमरे का आकाश' केवल कूट एवं आभास-मात्र स्वप्न है जिसकी उत्पत्ति उस समय होती है जब 'व्यापक' आकाश अपने आपको छत, फ़र्श और दीवारों द्वारा सीमित मान बैठता है । कमरे का आकाश वस्तुतः 'व्यापक' आकाश है ।

ऐसे ही सर्व-व्यापक, सनातन, अजर, अमर और असीम 'सत्य' शरीर, मन और बुद्धि की स्वरचित मायावी दीवारों से घिरा रहने के कारण यह अनुभव करने लगता है कि वह एक पृथक् व्यक्तित्व रखता है । माया के स्थूल आवरणों से सम्बद्ध होकर वह मृत्यु, अहंकार और मूर्खता से भरे हुए विचारों में उलझ जाता है । इस अवस्था में साधक का एक मात्र उद्देश्य यह है कि वह इस मिथ्या अज्ञान को त्याग कर 'विशुद्ध-ज्ञान' के ध्येय की ओर अग्रसर हो । इस दिशा में 'गुरु' अपने 'शिष्य' के सामने उपनिषदों के स्पष्ट एवं वास्तविक तथ्य रखता है ।

अविभक्त तथा अविभाजनीय आत्म-सत्ता साफ़ तौर पर हमारे शरीर का विन्दु-पथ माना गया है । हमारा निर्दिष्ट ध्येय 'ब्रह्म' है जो सर्वव्यापक तथा स्वतन्त्र होने के कारण निर्लिप्त एवं जन्म-रहित है । उपनिषद् के कथनानुसार "यह आत्मा ब्रह्म है" अर्थात् प्राणी-मात्र का व्यक्तिगत 'अहम्' विश्व-व्यापी 'अहम्' के अनुरूप है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'यह' सर्वनाम विशेष अर्थ रखता है। यदि हम इसका विस्तृत विवरण लिखें, तो एक बृहदाकार पुस्तक की आवश्यकता पड़ेगी। यहाँ पर मैं इससे सम्बन्धित मुख्य बातों का ही उल्लेख करूँगा।

सर्वनाम 'यह' का प्रयोग इसके सर्वनाम 'वह' के भेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। हम कहते हैं—'वह' दीवार और 'यह' पुस्तक। इसका अर्थ यह है कि दीवार की अपेक्षा पुस्तक हमारे निकट है। यदि हम कमीज़ और पुस्तक के अन्तर को व्यक्त करना चाहें तो पुस्तक 'वह' पुस्तक बन जायेगी और कमीज़ 'यह' कमीज़। इसका कारण यह है कि हमारी पहनी हुई कमीज़ हमारे अधिक समीप है। यदि हम इस तरह विश्लेषण करते जायें तो हमारा स्थूल शरीर भी 'वह' शरीर होगा और हमारा मन 'यह' मन। बाद में क्रम से 'मन' और बुद्धि भी 'वह' सर्वनाम को ग्रहण कर लेंगे।

अतः सर्वनाम 'वह' द्वारा बताये गये सभी धन-पदार्थ संसार की स्थूल वस्तुओं की ओर संकेत करेंगे और अन्त में हमारे भीतर का केन्द्र-विन्दु ही सर्वनाम 'यह' द्वारा व्यक्त होगा। इसी को ऋषि **'अयम्'**—यह—कह कर पुकारते हैं। इस सारभूत् 'पूर्ण-तत्व' से सम्बन्ध रखने वाले विषय को सर्वनाम 'वह' से कभी सम्बोधित नहीं किया जाना चाहिए। 'वह' सर्वनाम द्वारा वर्णन किये जाने वाले सभी पदार्थ जिस विन्दु से आगे नहीं जा सकते उसे 'यह' कहा जाता है। इस विन्दु से परे कोई और केन्द्र-विन्दु नहीं है। यही निकटतम विन्दु 'आत्मा' अर्थात् 'यह आत्मा' कहलाता है।

यही पूर्णता हमारे भीतर का आध्यात्मिक कन्द्र है। आध्यात्मिक तत्व के शाश्वत एवं सर्व-व्यापक होने के कारण हमारा केन्द्र-विन्दु सब का केन्द्र-विन्दु है। इसका यह अर्थ हुआ कि 'व्यक्तिगत' सत्ता 'विश्व' सत्ता हुई। इसलिए माता श्रुति कहती है—'यह' आत्मा ब्रह्म है। वेदान्त के अनुयायियों ने इस पुनरुद्धृत उक्ति को **'महा-वाक्य'** माना है। **'महा-वाक्य'** वह शास्त्रीय उक्ति है जिसमें प्रतिष्ठा अथवा गौरव का अटूट भण्डार निहित हो और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिस का ध्यान तथा मनन करने से साधक नये विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश कर सके। अन्त में हम उस विन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ किसी प्रकार के विचार उत्पन्न नहीं हो सकते। वहाँ सब विचार शान्त हो जाते हैं अर्थात् हमें आत्मानुभूति हो जाती है।

हमारे भीतर का दिव्य जीवन-स्फुलिंग, जिसे हम 'अपना आप' कहते हैं, वेदान्त में 'आत्मा' के नाम से स्मरण किया जाता है। हमारे लिए इसे अनुभव करना आवश्यक है। यह हमें प्रत्यक्ष रूप से दिखाया तो नहीं जा सकता; फिर भी इसे संस्कृत भाषा में रहस्यपूर्ण शब्दों द्वारा अनुभव कराया जा सकता है। वेदान्त द्वारा जिस क्रिया-विधि को अपनाया गया है उसके द्वारा ज्ञान और तर्क-पूर्ण विश्लेषण करके 'असीम' को समझाया जा सकता है। इस दिशा में हमें उन सभी अनुभवों का विवेक-पूर्ण परीक्षण करना होगा जिनमें यह जीवन-शक्ति निरन्तर होते रहने वाले कार्यों द्वारा क्रियाशील होती रहती है।

यदि हम दूर की किसी घाटी से धुआँ निकलता देखें तो हम तुरन्त इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वहाँ अग्नि जल रही है। इस तरह जब हम गतिहीन जड़-तत्व को गतिमान होते हुए देखते हैं तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चेतन-शक्ति इस क्रियमाण जड़-तत्त्व के सम्पर्क में अवश्य आई होगी। इसलिए ऋषियों के पास इस 'यथार्थता' को समझाने का केवल एक ही साधन रह गया और वह थी इसकी ग्राह्य क्रियाशीलता जिस के द्वारा यह जड़-तत्व को गति प्रदान करता रहता है।

बिजली को हम न तो देख सकते हैं और न ही उसकी व्याख्या कर सकते हैं; फिर भी हम एक नवागन्तुक ग्रामीण को इसके विविध रूप दिखा कर विद्युत् शक्ति का सामान्य ज्ञान करा सकते हैं।

यदि किसी दिन सैर करते हुए आपका पुत्र समुद्र के तट पर खड़ा होकर यह पूछे—"पिता जी! समुद्र किसे कहते हैं?" तो आपके पास उसे समझाने के लिए एक ही साधन होगा और वह समुद्र के उन विविध रूपों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की व्याख्या करना है जिनसे वह बालक भली भाँति परिचित हो। उस समय आप यह उत्तर देंगे—जिन लहरों, तरंगों, झाग, फेन आदि को तुम अपने सामने देख रहे हो वे संसार के उन सभी भागों में पाये जाते हैं जिन्हें तुमने अभी तक नहीं देखा है। ऐसे सभी सागरों के मिलने से महासागर (समुद्र) बनता है। केवल लहरों, तूफानों और भयावने दृश्यों से 'समुद्र' का ज्ञान नहीं होता। वे तो केवल उसकी सतह पर दृष्टिगोचर होते रहते हैं। इनसे कई मील नीचे वह विस्तृत स्थिरता विद्यमान है जिसे सूर्य की ज्योति, लहरों की हल-चल, तूफ़ान आदि डाँवाडोल नहीं कर पाते। इससे भी नीचे समुद्र की निधि—अमूल्य मोती आदि—पड़े हुए हैं। इस प्रकार पिता के लिए उस बालक को समुद्र के सभी रूप समझाने अनिवार्य होंगे। अन्त में वह कहेगा कि समुद्र वह जल-निधि है जिस में उपरोक्त सभी रूप एवं स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं।

इस तरह हमारी प्राचीन संस्कृति के जनक ऋषियों ने साधकों के शिष्य-वर्ग की ज्ञान-पिपासा को शान्त करने का प्रयास करते हुए सनातन 'सत्य' और इसकी विशेष प्रत्यक्ष चेष्ठाओं की ओर अनुरोध-पूर्ण संकेत किया। '**माण्डूक्योपनिषद्**' में महर्षियों ने हमें 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' को इसके विविध रूपों द्वारा समझाने की चेष्ठा की है। इस प्रवचन के लिए शिष्य को तैयार करने के विचार से ही कीर्त्तिमान ऋषि ने कहा—इस आत्मा के चार 'पाद' हैं।

इससे यह न समझा जाय कि अविभक्त तत्व के भाग किये गये हैं। अपने भाष्य में श्री **शंकराचार्य** ने विशेष रूप से यह कहा है कि यहाँ 'पाद' शब्द का अर्थ 'अंग' न किया जाय, जैसे गाय की चार टाँगें। यदि हम शब्द-कोष के इस अर्थ को मान लें तो समस्त वेदान्त-शास्त्र के मौलिक स्वरूप तथा सिद्धान्तों में अव्यवस्था दिखायी देगी। यदि हम यह मान बैठें कि "(इसके) चार अंग हैं" तो उस एकरूप 'सत्य' में स्वगत-भेद पाया जायेगा। जिसमें स्वगत-भेद पाया जाय वह (वस्तु) द्रव्य बनकर रह जायगी। इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शाश्वत 'सत्य' भी सीमित तथा नाशमान हो जायेगा।

इस प्रकरण में 'श्रुति' चार क्रिया-क्षेत्रों की ओर संकेत करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा स्वयं इन चतुर्विध क्रियाओं में गतिमान होता है यद्यपि पहली तीन क्रियाएँ (अवस्थाएँ) चौथी अवस्था में विलीन हो जाती हैं। उपनिषद् के मंत्रों की व्याख्या करते हुए हम इस बात को समझ लेंगे। इस समय तो इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा, जैसा श्री शंकराचार्य ने कहा है कि ये 'पाद' मुद्रा-संसार की रेज़गारी के सिक्कों के समान हैं।

चार आने एक चवन्नी कहलाते हैं, दो चवनियों से एक अठन्नी बनती है और तीन चवन्नियों से बारह आने। यदि हम इनमें एक और चवन्नी जोड़ दें तो सब मिल कर एक नया रूप धारण कर लेंगे जिसे हम रुपया कहते हैं। इस (रुपये के) सिक्के में उन चवन्नियों का व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं रहता।

ठीक एसे ही यदि मनुष्य के अन्तर्जीवन का विश्लेषण किया जाय तो हमें तीन चेतनावस्थाओं का ज्ञान होगा। हम प्रतिदिन इन्हें अनुभव करते रहते हैं। ये हैं—'जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्थाएँ। जब हम इन तीन अवस्थाओं से परे चौथी 'तुरीय' अवस्था की चेतना से इन्हें सम्बद्ध कर देते हैं तो सब मिलकर एक स्वरूप धारण कर लेती हैं। यही वह **अशेष तत्व है**। आत्मा में तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं का अस्तित्व नहीं पाया जाता। मंत्र में इस भाव को सामने रख कर कहा गया है कि आत्मा के चार पाद हैं। ये 'पाद' क्या हैं, कैसे गतिमान होते हैं और इनके क्रिया-क्षेत्र कौन कौन से हैं—इन बातों को आगे समझाया जायेगा।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूल-भुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

प्रथम चरण (पाद) को 'वैश्वानर' कहते हैं जिसका क्रिया-क्षेत्र जाग्रतावस्था है। यह संसार के बाह्य पदार्थों से अभिन्न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रहता है । इसके सात अंग हैं और उन्नीस मुख । यह संसार के स्थूल पदार्थों का सेवन करता है ।

जीवन के एकाङ्क (इकाई) का नाम है 'अनुभव' जो तीन भागों ('अनुभवी', 'अनुभूत' और इन दोनों को मिलाने वाली क्रिया 'अनुभव') में विभक्त किया जाता है । इस स्थूल संसार के विज्ञानाचार्य्यों ने बाह्य-जगत के पदार्थों के अन्वेषण को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया हुआ है । इसके विपरीत विविध धर्म्मों तथा न्याय-शास्त्रियों द्वारा भीतर के जगत की खोज की जाती है । इस भीतरी खोज में इन्होंने जीवन-रूपी आभूषण में तीन मणियाँ ढूंढ निकालीं । इन्हें **जाग्रत, स्वप्न** और **सुषुप्त** अवस्थाएँ कहा जाता है । उन्होंने यहभी बताया है कि चेतना के इन तीन समक्षेत्रों में हमारी चेष्ठाएँ भिन्न प्रकार से होती रहती हैं मानों हम तीन प्रकार का व्यक्तित्व रख रहे हों । हमारा 'जाग्रत' व्यक्तित्व 'स्वप्न' व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न है; इसी प्रकार सुषुप्तावस्था के हमारे अनुभव उन अनुभवों से एकदम अलग होते हैं जिनकी हमें पहली दो (जाग्रत तथा स्वप्न) अवस्थाओं में अनुभूति होती है ।

उपनिषद् हमें इस अनुभव-कर्त्ता के स्थापन, इसकी पहचान और कार्यक्षेत्र के विषय में निश्चित् जानकारी देते हैं । ऋषियों ने जाग्रतावस्था के इस अनुभवी को संस्कृत में 'वैश्वानर' कहा है । यह वैश्वानर (अथवा विश्व) जाग्रतावस्था की चेतना को अनुभव करता तथा संसार के बाह्य-पदार्थों का उपभोग करता है । इन पदार्थों से परिचित होने के साथ वैश्वानर इन्द्रिय-सुख के क्षेत्र में स्वच्छंद रूप से विचरता है । यही शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का आस्वादन करता है । इस पञ्चेन्द्रिय सीमित क्षेत्र के अतिरिक्त इसे और किसी उपभोग का अनुभव नहीं होता । उपनिषदों के पारंगत विद्वानों ने कहा है कि 'विश्व' के सात अंग तथा उन्नीस मुख हैं । स्थूल बुद्धि वाले व्यक्ति इस तरह के कथनों को समझने तथा इनके लालित्य का आनन्द लेने में असमर्थ होते हैं । वे यह नहीं जान पाते कि इनमें कितना महत्वपूर्ण एवं सारभूत भण्डार छिपा रहता है । वे तो इन शब्दों का शब्दशः अर्थ निकाल कर इन्हें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तिरस्कृत समझने लगते हैं । हम उन्हें अनेक मुखों वाले अजगर या नाग कह कर उनका अपमान नहीं करना चाहते । हम तो वर्त्तमान युग के इन वैज्ञानिकों तथा शिक्षित-वर्ग के साथ सहानुभूति रखते हैं क्योंकि ये खुल्लमखुल्ला उस साहित्य का घोर विरोध करते हैं जो इन्हें भीषण अजगर कहने की धृष्टता करता है । हम किसी प्रकार इनका तिरस्कार न करने की भावना से इस बात को विस्तार से समझायेंगे ।

यहाँ 'मुख' शब्द का व्यापक अर्थ लिया गया है अर्थात् उपभोग का उपकरण । इस अर्थ के अनुसार हम साधारणतः कह सकते हैं कि हम सब पाँच मुखों (पञ्चेन्द्रियों) द्वारा संसार के पदार्थों का उपभोग तथा अनुभवों को प्राप्त करते रहते हैं । इस मन्त्र में कहा गया है कि जाग्रतावस्था का अनुभवी उन्नीस मुख रखता है जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पञ्च-प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के योग से बने हैं ।

जाग्रतावस्था के अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राण-शक्तियों तथा अपने भीतर के मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सहायता लेनी पड़ती है । यदि इनमें से एक कम हो जाय तो उस अनुपात से हमारे अनुभव में न्यूनता आ जायेगी । जब हम इस रहस्य को समझ लेंगे तो वे शब्द, जिनके अर्थ निन्दनीय समझे जाते रहे हैं, अनुपम एवं रहस्यपूर्ण भाव लिये हुए दिखाई देंगे । उपनिषदों के विधिवत् अध्ययन के लिए गुरु का समीप रहना आवश्यक है न कि निर्देश-पुस्तकों के बड़े ढेर का ।

प्रारम्भ में हमें बताया गया था कि आत्मा 'ब्रह्म' है, व्यक्तिगत अहंकार व्यापक अहंकार है और संकुचित आत्मा विश्व-व्यापी आत्मा है । इस धारणा के लिए वेदान्त के द्वारा इस सिद्धान्त को अपनी आधार शिला बनाना पड़ता है कि "व्यष्टि ही समष्टि है ।" इसी सिद्धान्त की पुष्टि में उपनिषदों में कहा गया है कि जाग्रतावस्था के अनुभवी (अर्थात् 'वैश्वानर' के स्थूल शरीर में प्रकट होकर आत्मा) के सात अंग भी हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'सात अंग' से सम्बन्धित यह उक्ति हमें 'छान्दोग्य उपनिषद्' में उल्लिखित प्रसिद्ध व्याख्या का स्मरण दिलाती है। शास्त्रीय परम्परा में कुशल विद्वानों को यह उक्ति 'विराट्' को जगत्-सम्बन्धी रचना का पर्याप्त रूप में स्मरण दिला देगी। यदि व्यक्तिगत अहंकार एक व्यक्ति के सीमित क्षेत्र (वैश्वानर) में रह सकता है तो व्यापक अहंकार (विराट्) समस्त जगत में निश्चय रूप से रमण करता होगा। 'विराट्' की व्याख्या करते हुए शास्त्र अपनी पारिभाषिक शैली में यह कहते हैं—"उस वैश्वानर का देदीप्यमान अंग उसका शिर है, सूर्य्य चक्षु है; वायु प्राण है; आकाश कटिभाग है; जल मूत्राशय (गुर्दा) है, पृथ्वी पाँव है और 'अह्वनीय' अग्नि उसका मुख है"—छान्दोग्य उप० V १८ (ii)।

'आर्य्य' स्वभाव से ही 'कवि' थे और इस सुन्दर देश के रमणीय तथा उपजाऊ गंगा के मैदानों में रहने से सम्भवतः उनमें इस कला का विशेष विकास हुआ। अपने शरीर, मन, बुद्धि और सब पदार्थों से अछूता रहने पर भी आर्य्य निज महत्वपूर्ण अनुभवों को प्रकट करते हुए हृदय-स्थित कवित्व-शक्ति को गुप्त न रख सके और यह धारारूप में प्रवाहित होने लगी। इसी कारण हमारे धर्म-ग्रन्थों में उक्तियों को पदावली द्वारा लाक्षणिक ढंग से व्यक्त किया गया है। संस्कृत भाषा में इस शैली को अपनाना कोई कठिन काम नहीं है; अतः ऋषियों ने इस का पूरा पूरा उपयोग किया। जब तत्कालीन शिष्य अपने गुरु के चरणों में बैठ कर 'पूर्ण-तत्त्व' की व्याख्या सुमधुर कविता में सुनते तो वे मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा करने लगते। प्रस्तुत मंत्र में दार्शनिक अभिव्यक्ति के साथ साथ कविता का पर्याप्त उपयोग किया गया है यद्यपि 'माण्डूक्य' के शब्द 'सप्ताङ्गः' (सात अंगों वाले) द्वारा इसे संक्षेप में कहा गया है।

'माण्डूक्योपनिषद्' में ऐहिक पुरुष, व्यापक वैश्वानर, विश्व-व्यापी अहंकार की एक एक शब्द द्वारा व्याख्या 'छान्दोग्योपनिषद्' में दी गयी विस्तृत व्याख्या के आधार पर की गयी है। 'वैश्वानर' के ऐहिक स्वरूप को 'विराट्' नाम दिया जाता है। अब आप 'श्रीमद्भगवद्गीता' में दिये गये भगवान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के 'विराट्-स्वरूप' का रहस्य भली भाँति समझ गये होंगे। पिछले मंत्र के महा-वाक्य "यह आत्मा 'ब्रह्म' है" में वर्णित अध्यात्म-तत्व के अनुरूप 'सत्ता' का विराट्-स्वरूप में यहाँ दिया गया वर्णन है।

यदि कमरे का आकाश वस्तुतः व्यापक-आकाश है तो हम कमरे के आकाश को वह वायु-मण्डल कह सकते हैं जो सीमा-रहित होते हुए सकल भ्रमणशील भूमण्डल को धारण किये रहता है। वास्तव में समस्त विश्व आकाश में घूम रहा है। इस अभिप्राय से प्रारम्भ में यह कहा गया कि उपनिषदों में बताये गये 'अध्यात्म-तत्त्व' के सार को समझने और अनुभव करने के लिए कोरी बुद्धि या विवेक पर आधारित निर्दिष्ट-सिद्धान्त (Data) तथा पदार्थमय साधन हर प्रकार अपर्याप्त होंगे, चाहे विज्ञान तथा तर्क की दृष्टि में ये प्रतीतिकर भले ही हों।

नीचे दिये गये मंत्र में स्वप्न-द्रष्टा से हमारा परिचय कराया गया है:—

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

(इसका) दूसरा 'पाद' तैजस है जिसका क्रिया-क्षेत्र स्वप्न है, जो भीतर के पदार्थमय जगत् से अभिज्ञ है, जिसके सात अंग तथा उन्नीस मुख हैं और जो मानसिक संसार के पदार्थों का उप-भोग करता है।

जब आत्मा स्थूल शरीर से सम्पर्क स्थापित करके निज वास्तविक स्वरूप को भुला देती तथा स्थूल पदार्थमय जगत् को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करती है तो जाग्रतावस्था के मिथ्या ज्ञान से विमूढ़ होकर यह एक निश्चित् व्यक्तित्व को अपना लेती है, जिसे हम 'वैश्वानर' कहते हैं।

जब यह जीवन-शक्ति बाह्य-जगत् के विनोदपूर्ण क्षेत्र का त्याग करके सूक्ष्म शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ती है तो इसका एक नवीन व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है। इसको हम 'तैजस' कहते हैं जिसका अपना अलग स्वप्न-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षेत्र है। इस मन्त्र में स्वप्न-द्रष्टा की विस्तृत व्याख्या की गयी है और उसके क्रिया-क्षेत्र तथा भोग्य पदार्थों पर प्रकाश डाला गया है।

दो 'चरणों' की व्याख्या कर चुकने के बाद उपनिषद् के अगले मंत्र में (इसके) तीसरे पाद 'सुषुप्त व्यक्ति' को वर्णन किया जाता है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। तत्सुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥४॥

'सुषुप्त' वह अवस्था है जिसमें सोने वाला न तो किसी पदार्थ की कामना करता है और न ही काइ स्वप्न देखता है। तीसरा पाद 'प्राज्ञ' कहा जाता है जिसमें वह घोर निद्रा के वशीभूत हो जाता है, जिसमें सभी अनुभव एकरूप होकर भेद-रहित हो जाते हैं। वास्तव म यह एक समान-जाति पूण-चतना है और इसी अवस्था स यह शक्ति पहली दो अवस्थाओं (जाग्रत तथा स्वप्न) में व्यवहृत होती है।

निद्रावस्था के विषय में पश्चिमी संसार को बहुत कम ज्ञान है! पश्चिमी मनोविज्ञान के द्वारा अभी तक इस मानसिक अनुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती है। सुषुप्तावस्था को वर्णन करने में बड़ी कठिनाई यह है कि उस समय हमे संसार के विषय में कोई अनुभव नहीं होता क्योंकि हमारी स्थूल इन्द्रियां निष्क्रिय होती हैं। जो कुछ हमें पता चल सका है वह यह है कि इस अवस्था में सब दृष्ट-पदार्थ अदृष्ट हो जाते हैं।

इस गृह-रूपी शरीर के पाँच वातायनों (इन्द्रियों) द्वारा हम जो कुछ अनुभव करते हैं उन्हें सामूहिक रूप में दृष्ट-जगत का ज्ञान कहा जाता है। स्थूल संसार का हमें जितना मात्रा में ज्ञान उपलब्ध है वह हमारी पांच इन्द्रियों द्वारा पहुँचायी गया जानकारी के अनुसार होता है। निद्रा वह अवस्था है जिसमें मन तथा बुद्धि विश्राम पाते हैं अर्थात् ये खिड़कियां बन्द हो जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह निद्रावस्था में हमें अज्ञान अथवा पूर्ण अभाव का अनुभव होता है। सोये हुए हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसमें शब्द, रूप, गन्ध और स्पर्श का अस्तित्व नहीं होता। संक्षेप में सुषुप्तावस्था में हमें केवल यह ज्ञान रहता है कि "हम कुछ भी नहीं जानते।"

वर्त्तमान युग के विज्ञान-विशारद, जो अनात्मवादी हैं, बहुत समय के बाद ही उस उपयुक्त भाषा की खोज कर सकेंगे जिसके द्वारा इस सुषुप्तावस्था को (जब इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं) वर्णन करना सम्भव हो।

ऊपर वाले मंत्र में सुषुप्तावस्था की अत्युत्तम परिभाषा की गयी है; परन्तु यहाँ भी नकारात्मक भाषा का प्रयोग करके इसे वर्णन करने का प्रयास किया गया है। इस मंत्र के अनुसार यह अवस्था ऐसी है जिसमें सोने वाला न तो स्थूल-जगत (जाग्रतावस्था) और न ही स्वप्न-जगत (स्वप्नावस्था) का अनुभव करता है। इस अवस्था को, जहाँ हम 'जाग्रत' अथवा 'स्वप्न' अवस्था को अनुभव नहीं कर पाते, **'सुषुप्तावस्था'** कहा जाता है।

यदि हम पहली दो अवस्थाओं से इसकी तुलना करें तो हमें पता चलेगा कि सुषुप्तावस्था में मनुष्य की समूची चेतना-शक्ति संचित होकर सुरक्षित रहती है। जाग्रतावस्था में इस शक्ति का बाह्य जगत में मन तथा इन्द्रियों द्वारा ह्रास होता रहता है, जिससे हमें पदार्थ-जगत का आभास होता है। स्वप्नावस्था में यह चेतना मानसिक जगत के विचारों को आलोकित करती रहती है। इसे हम 'स्वप्न' का नाम देते हैं।

जब हम इन दो पहली अवस्थाओं को लाँघ कर सुषुप्तावस्था में प्रवेश करते हैं तब हमारी चेतना शक्ति न तो बाह्य पदार्थों को ज्योतिर्मान करती है और न ही मानसिक क्षेत्र के सूक्ष्म जगत को। सुषुप्तावस्था में समस्त शक्ति घनीभूत होकर चेतना-पुंज की स्फटिक मणि के रूप में व्यवहृत हुई प्रतीत होती है। इस अवस्था में हमें जो अनुभव होता है वह चेतना के अखण्ड रूप में एकत्रित हो जाता है। इसे हम **'प्रज्ञान-घन'** कहते हैं।

इस एकरूप चेतना को **'परम-सुख'** समझा जाता है क्योंकि इस अवस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में उन सभी कारणों का अभाव होता है जो 'जाग्रत' एवं 'स्वप्न' अवस्था में हमें मानसिक क्षोभ देते रहते हैं । इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय हम वस्तुतः उस **'परम-सुख'** से परिचित होते हैं जो हमारे अनुभव का मूल-कारण है; किन्तु गहरी निद्रा से जागने पर जब हम अपने इन अनुभवों की 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था के अनुभवों से तुलना करते हैं तब हम सहसा कह उठते हैं कि सुषुप्तावस्था में पूर्ण सुख एवं शान्ति मौजूद रहती है ।

इस प्रकार महान् उपनिषदों ने सुषुप्तावस्था की चेतना को 'प्रज्ञान-घन' कहा है । जब हम यह कहते हैं कि इस अवस्था में किसी अनुभव का कारण नहीं रहता तो इससे यह न समझा जाना चाहिए कि उस समय केवल निश्चित् (Positive) अनुभव विद्यमान नहीं होता । हमारे मन में क्षोभ और अस्थिरता रहने का यह कारण है कि स्थूल-जगत की अनेकता तथा विविध पदार्थों की हमारे मन पर गहरी छाप हमें विचलित रखती है । इन्द्रिय-सुखों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने पर हम उन्हें प्राप्त करने की आकाँक्षा रखते हैं और जब हम इस प्रयास में असफल रहते हैं तो हमें चित्त-क्षोभ होता है ।

संसार के पदार्थ न तो हमें हर्षित करते हैं और न ही उद्विग्न । बाह्य-जगत के साथ सम्पर्क स्थापित करने पर जब हम मिथ्या, स्थूल पदार्थों का मूल्य आँक लेते हैं तो हमें इनमें प्रसन्नता अथवा दुख देने की शक्ति का संचार होता प्रतीत होता है । सुषुप्तावस्था में, जब हमारा मन गतिहीन हो जाता है और बुद्धि अन्तर्मुखी, तो हम स्थूल जगत से अनभिज्ञ हो जाते हैं । इनका आभास न रहने पर हम इनके मोह-जाल में फँस नहीं पाते, जिससे हमारा मन चलायमान नहीं होता ।

इस कारण 'श्रुति' द्वारा इस आवरण को **'आनन्दमय'** कोष कहा जाता है । परमात्मा का इससे सम्बन्ध होने पर इस सुषुप्तावस्था को 'प्रज्ञा' कहा जाता है । 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था के अनुभवों से अलग रह कर **'प्राज्ञ'** आनन्द प्राप्त करता है । इसे आनन्द कहने का यह कारण है कि इसमें **'शोक'** का अभाव रहता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

घोर निद्रा में रहने वाले व्यक्ति की स्थिति को वर्णन करत हुए 'श्रुति' कहती है कि 'प्राज्ञ' ज्ञान के द्वार तक जा पहुँचता है। यहाँ उच्चकोटि की कविता द्वारा इस सर्व-श्रेष्ठ दर्शन-शास्त्र को समझाया गया है। यही उपनिषदों का विशेष गौरव है। प्राचीन ऋषि न्यायाचार्य्य होने के साथ ओजस्वी कवि भी थे। निद्रावस्था (चित्) जो ज्ञान का प्रवेश-द्वार है, की विशेषता बताते हुए आचार्य्य यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि पदार्थ-ज्ञान प्राप्त करने वाली समस्त शक्ति इस स्थिति में संचित होकर घनीभूत हो जाती है।

सुषुप्तावस्था से बाहर निकल कर यह शक्ति हमारी स्वप्नावस्था को आलोकित करती है और जब यह और आगे बढ़ती और बाह्य जगत में प्रवेश करती है तो हमें स्थूल पदार्थों को जाग्रतावस्था में समझने में सहायता मिलती है। जब हम जाग्रतावस्था के स्थूल क्षेत्र एवं शरीर से सिमिट कर अंतर्मुखी होते हैं तो हमारे मन और बुद्धि द्युतिमान होते हैं। इसे हम 'स्वप्नावस्था' कहते हैं।

जब हम स्वप्नावस्था से भी आगे भीतर की ओर बढ़ते हैं तो हमें ऐसी अवस्था अनुभव होती है जिसमें जाग्रति तथा स्वप्न दोनों का अभाव होता है। यह 'सुषुप्तावस्था' कहलाती है। इस तरह यह कल्पना करना कि निद्रा वह तोरण-द्वार है जिसमें से चेतना की तीव्र रश्मि निकल कर 'स्वप्न' तथा 'जाग्रत' क्षेत्रों को जाज्वल्यमान करती है, सर्वश्रेष्ठ कविता का एक अनुपम उदाहरण है। इसे अति-सूक्ष्म दर्शन-शास्त्र के विश्लेषण के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

संसार के अनुभव से समीकरण प्राप्त करने पर आत्मा प्राज्ञ-अहंकार कहा जाता है। यह आत्मा का तीसरा चरण है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

यह सब का ईश्वर है और सब कुछ जानता है। यह भीतर का नियंत्रण करने वाला और सब पदार्थों का स्रोत है। इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप से सब की उत्पत्ति होती है और इसी में सब लीन होते हैं ।

सुषुप्तावस्था में चेतना की स्थिति को वर्णन करते हुए ऋषियों ने एक और मंत्र बताया है । सम्भवतः आचार्य्य ने यह अनुभव किया कि साधारण व्यक्ति के लिए ममता से पृथक् होकर सुषुप्तावस्था को अनुभव करना अति दुष्कर कार्य्य है ।

जाग्रतावस्था में निज व्यक्तित्व को समझ लेना बहुत आसान है । एक सामान्य व्यक्ति स्वप्नावस्था से इतनी सुगमता से परिचित नहीं हो पाता; फिर भी वह तनिक सक्रिय होकर इस व्यक्तित्व को जान सकता है । उसके लिए सुषुप्तावस्था में 'अहंकार' को अनुभव करना अति कठिन है क्योंकि हम तो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त की हुई वार्त्ता का ज्ञान पाने के अभ्यस्त हो चुके हैं ।

सुषुप्तावस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा विवेक क्रियमाण नहीं होते । जिस क्षण अपने इस संसार में हम रमण करते हैं, जहाँ हमारी कोई ज्ञानेन्द्रिय हमारे अनुभव के लिए गतिमान नहीं होती, हम सामान्यतः एक विचित्र अज्ञात एवं न जानने योग्य क्षेत्र में विचरते हुए प्रतीत होते हैं । इस तरह शिष्य पर अनुग्रह करके उपनिषदों के ऋषियों ने 'प्राज्ञ' की व्याख्या करने के उद्देश्य से एक और मंत्र दिया है ।

हम यह कह चुके हैं कि सुषुप्तावस्था में चेतना एक-रूप होकर घनीभूत् हो जाती है । उस समय यह केवल एक भाव को दीप्तिमान करती है और वह है—"मैं नहीं जानता ।" वेदान्त में इस स्थिति को 'अविद्या' कहते हैं; इसलिए उन्होंने अपनी भाषा में यह कहा कि गहरी निद्रा में आत्मा 'अविद्या' अर्थात् 'कारण' शरीर से निज सम्पर्क स्थापित करता है ।

इस अवस्था में हमारी चेतन-शक्ति एकत्र होकर सतत नकारात्मक स्थिति को आलोकित करती है । इसे 'सर्वेश्वर' कहा गया है क्योंकि यदि यह क्रियमाण शक्ति न होती तो हम सब चेतनायुक्त प्राणी न होते ।

उस शक्ति को 'सर्वज्ञ' भी कहा गया है क्योंकि यदि यह जाज्वल्यमान जीवन स्फुलिंग हमारी 'जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्थाओं को आलोकित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा स्पन्दित करता हो तो हमें इनका रत्ती भर ज्ञान न रहता। इससे इसका 'आत्म-नियन्ता' होना स्वयं-सिद्ध होता है।

चेतन-शक्ति निश्चय रूप से सब का उत्पत्ति-स्थान (गर्भाशय) है। यदि ऐसा न होता तो सूर्य्य, चन्द्रमा, तारागण, स्थूल एवं सूक्ष्म जगत का अस्तित्व न होता। ये सब हमें इसलिए दिखायी देते हैं कि हमें इन के अस्तित्व का ज्ञान रहता है। यदि हम यह कहें कि "मनुष्य के दो सींग होते हैं किन्तु हमें इस बात का ज्ञान नहीं" तो इसका यह अर्थ होगा कि मनुष्य दो सींगों वाला प्राणी नहीं है। ऐसे ही यदि हम में यह शक्ति न होती तो हमारे लिए समस्त संसार इस प्रकार अविद्यमान रहता जैसे हमारे शिर पर उगे हुए दो सींग।

यह चेतन-तत्व इन्द्रिय, मन और बुद्धि स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म जगत् तथा भावनाओं के द्वारा क्रियमाण होता है। यदि यह दीप्तिमान तत्व किसी शरीर से अलग हो जाय तो उस शरीर के द्वारा बाह्य-जगत के पदार्थ तथा विचार ग्राह्य न हो पाएँगे। इस तरह न केवल शास्त्रीय विचार से, बल्कि वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर भी, हम यह कह सकते हैं कि इस विशुद्ध चेतन-शक्ति से हमारे बाह्य एवं भीतरी संसार की उत्पत्ति होती है। इसके पृथक् होते ही ये दोनों जगत् इसी शक्ति में विलीन हो जाते हैं।

जब रश्मि-रेखा प्रिज़्म में से निकाली जाती है तो यह सप्त-वर्ण रश्मियाँ होकर बाहर निकलती हैं। सात रंगों वाली ये किरणें उस ज्योति में से निकलती हैं जो इस में प्रविष्ट होती हैं। ये सब वर्ण-रश्मियाँ सूर्य्य की ज्योति में पहले से थीं और अन्त में उसी में लौट जायेंगी। एक किरण को सात रंगों में विभक्त करना उस प्रिज़्म का ही काम था क्योंकि इस ने उस रोशनी की वास्तविक दिशा को बदल दिया।

इस तरह जब हमारी चेतन-शक्ति मन तथा बुद्धि-रूपी प्रिज़्म में से हो कर आगे बढ़ती है तो हमें अनेक रूप संसार का आभास होता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। यदि किसी आध्यात्मिक साधन द्वारा हम मन एवं बुद्धि को लाँघने में समर्थ हों तो हमारी बहिर्मुखी चेतना 'सर्व-व्यापी'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चेतना में विलीन हो जायेगी और इसके परिणाम-स्वरूप हमें सभी नाम-रूप पदार्थों में सर्व-व्यापक 'तत्व' का दर्शन होगा। इस मंत्र में यह भाव स्पष्ट तौर पर समझाया गया है।

(यहाँ श्री गौड़पाद की कारिका आरंभ होती है।)

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वोह्यन्तः प्रज्ञस्तुतैजसः,। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

प्रथम चरण 'विश्व' वह शक्ति है जो सर्वव्यापक होते हुए बाह्य स्थूल पदार्थों को अनुभव करती है ('जागने वाला'); 'तैजस' वह द्वितीय पाद है जो भीतर के सूक्ष्म पदार्थों को पहचानता है (स्वप्न-द्रष्टा); 'प्राज्ञ' चेतना का घनीभूत पुंज है। यह 'शक्ति' ही तीन चेतनावस्थाओं में तीन विविध नाम तथा रूपों से जानी जाती है।

श्री गौड़पाद की कारिका से यह मन्त्र सम्बन्ध रखता है। इसमें सर्व-प्रथम हम इस टीकाकार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं। हमें इसके द्वारा यह भी पता चला है कि किस प्रकार शास्त्र के गंभीर तथा गहन विषय को बड़ी अच्छी तरह समझाया गया है। अभी तक हम इस बारह मंत्रों वाले महान् एवं पवित्र ग्रन्थ के पहले छः मन्त्रों की व्याख्या करते आ रहे हैं। छठा मंत्र वर्णन करने के बाद यह टीकाकार मंत्रों में संकेत की हुई महत्वपूर्ण मुख्य बातों की संक्षेप से व्याख्या करना आरम्भ करता है।

उपनिषद् अत्यन्त संक्षिप्त ग्रन्थ हैं और हमने अपनी भूमिका में पहल ही बता दिया था कि हिन्दु शास्त्रों में ऋषियों ने एक निश्चित शैली को अपनाया है। इस संक्षिप्त विवरण के कारण यह आवश्यक हो गया है कि साधारण व्यक्तियों के लिए बहुत व्याख्या की जानी चाहिए क्योंकि इसके बिना ये ग्रन्थ निरर्थक, वरन् हास्यास्पद, जान पड़ेंगे।

कारिका के व्यापार तथा निर्माण की व्याख्या करते हुए हम इसके और भाष्य के भेद को समझा चुके हैं। भाष्यकार का उद्देश्य ग्रन्थ अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मंत्रों की परिभाषा तथा प्रत्येक शब्द को विस्तार पूर्वक समझाना है। इसके विपरीत कारिका या टीकाकार उस समय अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है जब वह उन पारिभाषिक शब्दों, कथनों आदि की व्याख्या कर लता है जिन्हें वर्णन करना वह आवश्यक समझता है। इस तरह श्री गौड़पाद ने साधारण पाठकों को समझाने के लिए शास्त्रीय विषय से सम्बन्धित कठिन आवश्यक शब्दों की व्याख्या तक नहीं की। इसमें टीकाकार में किसी प्रकार की कमी न समझी जानी चाहिए क्योंकि कारिका के व्यापार को समझने से हम ऐसी धारणा नहीं कर सकते।

यदि कोई महान् आचार्य्य 'श्रुति' के इस अभिप्राय को स्पष्ट रूप से समझाने में समर्थ हो जाय कि मनुष्य अपने पार्थिव जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव प्राप्त करता रहता है तो उसका सब प्रयास सफलता पूर्वक सम्पन्न हो जाता है। मनुष्य की जीवन से मरण पर्य्यन्त यात्रा अनुभव-पूर्ण होती है। वह प्रति-क्षण बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आकर अनुभव प्राप्त करता रहता है। जब ये अनुभव उसे प्राप्त नहीं होते, उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

पश्चिमी दर्शनाचार्य्य तथा बहुत से भारतीय नैयायिक अपने विचारों को जीवन के एक ही पक्ष पर केन्द्रित रखते हैं। यह है जाग्रतावस्था; किन्तु यह जीवन केवल इन्द्रिय-पदार्थों वाली जाग्रतावस्था पर निर्भर नहीं रहता। जीवन तो सभी पहलुओं का योगफल है। इसमें जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त तीनों अवस्थाओं के अनुभवों का समावेश है। यदि हम केवल जाग्रतावस्था के स्थूल संसार को समझने के लिए पदार्थों तथा उनके साथ हमारे सम्बन्ध का विश्लेषण करें तो हमारा यह प्रयास जीवन के एक अंश का मूल्यांकन करने तक सीमित रहेगा।

यदि कोई जौहरी एक सुन्दर तथा कीमती आभूषण में जड़े हुए एक हीरे के किसी पहलू को ध्यान में रख कर ही उसका मूल्य आँकता अथवा उसे खरीदता है तो उसे एक सफल स्वर्णकार नहीं कहा जायेगा। उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह सब परिस्थितियों तथा विविध प्रकार की रोशनी में उस हीरे के सभी पार्श्वों को परखे। ऐसे ही यदि कोई दार्शनिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निष्पक्ष भाव से जीवन का मूल्याँकन करना चाहे तो उसे समूचे जीवन के सब अंग-प्रत्यंगों का अध्ययन करना होगा। उसके लिए उन सभी अनुभव-क्षेत्रों तथा चेतनावस्थाओं को ध्यान में रखना होगा जिनसे मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में साक्षात्कार करता है।

सम्भवतः संसार के साहित्य में सबसे प्रथम धर्म-ग्रन्थ **'माण्डूक्योपनिषद्'** है जिसमें जीवन के सभी पक्षों पर विचार किया गया और जिससे प्राप्त किये गये विस्तृत ज्ञान से ऋषियों ने अपने तत्वों का निरूपण किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने विविध प्रकार के ममत्व की पूरी व्याख्या की है। जाग्रतावस्था के हमारे अहंभाव की क्रिया दूसरी दो अवस्थाओं के ममत्व से भिन्न है। हममें जागने वाली चेतना स्वप्न तथा सुषुप्तावस्थाओं की शक्ति से स्पष्टतः अलग है। इस मंत्र में टीकाकार तत्त्वों के महत्व का निरूपण करने का प्रयास कर रहा है जिसे हमारे महर्षियों ने इतने घोर परिश्रम के बाद हमारे लिए एकत्रित किया है। इस मन्त्र के अन्तिम भाग में बलपूर्वक कहा गया है कि 'इन तीन अवस्थाओं में क्रियमाण होने वाली महान् शक्ति एक ही है।"

इसका यह अभिप्राय है कि हममें एक ही जीवन-तत्त्व अथवा विशुद्ध चेतन-शक्ति व्याप्त है। स्थूल शरीर से सम्बन्ध जोड़ लेने से यह शक्ति बाह्य पदार्थों का दिग्दर्शन करती है। जिस अवस्था में यह बाह्य-जगत का ज्ञान रखती है उसे 'जाग्रत' अवस्था कहते हैं। यही चेतन-शक्ति हमारे शरीर से सिमिट कर मन एवं बुद्धि से सम्पर्क स्थापित कर लेती है। इसे तब 'स्वप्नद्रष्टा' कहा जाता है क्योंकि यह शक्ति स्थूल जगत से भिन्न मानसिक संसार की छाप से सम्बन्धित दृश्य (स्वप्न) देखता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर से अलग होकर जब हमारी 'चेतना' कारण-शरीर के अनुरूप होती तथा घोर निद्रा में प्रवेश करती है तो इस तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी चेतना को 'सुषुप्तावस्था' कहते हैं।

इस तरह अपने विविध सम्पर्कों द्वारा हम यह अनुभव प्राप्त करते दिखायी देते हैं कि इन तीन अवस्थाओं में हमारा अलग-अलग व्यक्तित्व क्रियमाण होता है। वैसे यह तथ्य सभी बुद्धिमानों द्वारा मान्य है कि इन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीन विविध अवस्थाओं को स्पन्दित तथा आलोकित करने वाला जीवन-तत्त्व एक ही है और यह इन तीन अनुभव-क्षेत्रों में ममत्व की भावना का संचार करता है।

यह केवल सिद्धान्त नही बल्कि अनुभव करने योग्य वस्तु है। यह अन्ध-विश्वास नहीं अपितु घोषणा और बुद्धि के लिए एक ललकार है। ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थों के विपरीत हिन्दु शास्त्रों में धर्म में अन्ध-विश्वास रखने वालों की प्रशंसा नहीं की जाती बल्कि इस बात पर बल दिया जाता है कि साधक तर्क-बुद्धि से काम लेकर व्यक्तिगत निश्चय की प्राप्ति करें। हम यह बात युक्ति-पूर्ण ढंग से कह सकते हैं कि इन तीन चेतनावस्थाओं में अनुभवी अथवा द्रष्टा एक ही होता है।

हम दूसरों के अनुभवों को स्मरण नहीं रख सकते। उदाहरण के तौर पर आप मेरे किसी अनुभव को याद नहीं रख सकते और न ही आपके किसी अनुभव को मैं स्मरण रख सकता हूँ। इसके विपरीत मैं अपने अनुभवों को इसी तरह याद रख सकता हूँ जैसे आप अपने अनुभवों को। यह बात स्वाभाविक है क्योंकि स्मरण शक्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त के अनुसार स्मरण-कर्त्ता तथा अनुभवी अभिन्न हैं। यदि आप इस सामान्य, व्यावहारिक तथा उचित मत से सहमत हों तो आपको इस तर्क को मान लेने में कोई कठिनाई नही होगी कि तीन चेतनावस्थाओं पर एक ही शक्ति का आधिपत्य स्वीकार करना अनिवार्य है।

क्या मुझे यह स्मरण नहीं कि कल मैं कितना जागा और कब तक सोया तथा मैंने क्या कुछ खाया? यदि मैं गत २४ घंटों में इन तीन अवस्थाओं को याद रख सकता हूँ तो क्या यह बात सिद्ध नहीं होती कि इन अनुभवों को प्राप्त करने वाली सत्ता एक ही है। मेरे जीवन के तीन क्रिया-क्षेत्रों के अनुभवों को जानने वाला समभाजक वही 'अहम्' है जिसे शुद्ध चेतन-शक्ति कहा जाता है।

इस मंत्र में टीकाकार ने हमारे मन में यह विचार भरने का प्रयत्न किया है कि वास्तविक तत्व तथा जीवन-शक्ति एक ही है यद्यपि यह विविध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवस्थाओं में अनेक प्रकार से क्रियमाण होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे अलग-अलग तीन प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं। इस बात की फिर व्याख्या की जायेगी कि यह सम-भाजक तत्व क्या है। उस मंत्र को समझाते हुए हम इस पर पूरा प्रकाश डालेंगे।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तुतैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥ २॥

'विश्व' दाईं आँख से क्रियमाण होता है, 'तैजस' मन से और 'प्राज्ञ' हृदय-स्थान से; इस तरह यह धारणा की जाती है कि एक (आत्मा) ही तीन स्पष्ट रूपों में तीन प्रधान स्तरों से गतिमान होता है।

'माण्डूक्योपनिषद्' में इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि तीन चेतनावस्थाओं में त्रिविध-अहंकार क्रियाशील होता है। कारिका में श्री गौड़पाद ने हमें 'विश्व,' 'तैजस' और 'प्रज्ञा' के समीकरण तथा उत्पत्ति-स्थान से परिचित कराया है और यह बात ठीक भी है। 'कारिका' को शास्त्र नहीं कहा जा सकता। 'शास्त्र' में न्याय-दर्शन के सभी पहलुओं का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया जाता है किन्तु 'कारिका' में इसके किसी एक अंग का विस्तृत वर्णन होता है। इसलिए 'कारिका' को सामान्य ग्रन्थ कहने के स्थान में एक 'उपदेश-ग्रन्थ' कहना उपयुक्त है। इस कारण श्री गौड़पाद ने साधक को आध्यात्मिक पथ पर चलने तथा अभ्यास करने का विस्तार से परामर्श दिया है; यह बात दूसरे अध्यायों में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। 'कारिका' के प्रत्येक अध्याय के अन्त म आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित पूरी हिदायतें पायी जाती हैं।

एक टीकाकार होने के नाते श्री गौड़पाद ने एक व्यक्ति के त्रिविध-अहंकार के क्रिया-क्षेत्र को विशेष ढंग से वर्णन किया है। इसे जानना ध्यान, विश्लेषण और वास्तविक ज्ञान में सहायक होता है। जब हम यह पढ़ते हैं कि जाग्रतावस्था के अहंकार (विश्व) का निवास-स्थान दाईं आँख है तो हमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राचीन ऋषियों की इस प्रकार की उक्तियाँ हास्यास्पद दिखायी देती होंगी। जब आधुनिक-युग का कोई शिक्षित व्यक्ति जल्दबाज़ी में रेलवे बुक स्टाल से खरीदे गये उपनिषद्-ग्रन्थ से, जिसमें मंत्रों का शब्दशः अर्थ दिया गया है, इस तरह के गूढ़-रहस्य को तुरन्त जान लेने का प्रयास करता है तो उसे इन बातों पर हँसी आने लगती है। ऐसा बेसमझ व्यक्ति शास्त्रों में दी गयी बातों को शब्द-जाल, निरर्थक तथा सारहीन समझ बैठता है—इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं।

आइए, हम इसे भली भाँति समझने का यत्न करें। हमारे जाग्रत-संसार को अनुभव करने वाला 'विश्व' है। जाग्रतावस्था में शरीर से सीधा सम्पर्क होने के कारण हम बाह्य-जगत् के विविध स्थूल पदार्थों को ही जान पाते हैं। दृष्ट जगत् को जाग्रतावस्था में ही जानना संभव है। अब ऋषि गौड़पाद ने हमें प्रत्येक 'अहंकार' के वास्तविक-स्थान को दिखाने की कोशिश की है।

यह अहंकार निश्चय रूप से कोई विशेष विन्दु नहीं है जैसे कोई अंगूठी या बटन। यह शक्ति सारे शरीर में व्यापक है; तो भी जब हम जाग्रतावस्था की स्थिति का परीक्षण करने तथा इसके केन्द्र-स्थान को, जहाँ से बाहर निकल कर यह गतिमान होता प्रतीत होता है, जानने का प्रयत्न करते हैं तो हमें यह पता चलता है कि हमारी सभी इन्द्रियों में 'नेत्रों' का विशेष महत्व और लाभ है।

यदि हम दोनों नेत्रों की तुलना करें तो हमें पता चलेगा कि बाईं आँख की अपेक्षा दाईं आँख में अधिक सामर्थ्य होती है। किसी और अंग के न होने पर हम बाह्य-जगत् से इतना अनभिज्ञ नहीं होते जितना आँखें न होने पर। यदि हमारे नेत्र ठीक हैं तो हम बधिर तथा 'लकवा' होने पर भी संसार को एक नेत्र-हीन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मात्रा में अनुभव कर सकेंगे। इस प्रकार विश्लेषण करने से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि (१) हमारे नेत्र वह मुख्य-स्थान हैं जहाँ से जाग्रतावस्था का 'अहंकार' विभिन्न अनुभव प्राप्त करता है और (२) दोनों आँखों में 'दक्षिण' नेत्र 'विश्व'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की क्रिया-शक्ति का मुख्य केन्द्र है। इस विचार से माण्डूक्य कारिका में 'विश्व' का निवास-स्थान दाईं आँख बताया गया है।

'तैजस' स्वप्न-द्रष्टा है। स्वप्नावस्था में 'अहंकार' मानसिक-क्षेत्र में प्रवेश करके स्वप्न-जगत को देखता है। इसलिए मन को 'तैजस' का प्रधान-स्थान कहना उपयुक्त है।

जब हम 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था से सिमिट कर सुषुप्तावस्था में प्रवेश करते हैं तो हमारी समूची चेतन-शक्ति एकरूपता (प्राज्ञ) में घनीभूत् हो जाती है। यही कारण है कि हृदय को 'प्राज्ञ' का निवास-स्थान कहा गया है।

आजकल के जीव-विद्या-विशारदों को हमारे ऋषियों की इन उक्तियों से, जो उन्हें निरर्थक दिखायी देती हैं, आघात पहुँचता है। उन्हें यह बात याद रखनी चाहिए कि प्राचीन ऋषि इतने ज्ञान रहित न थे। वे मनुष्य के शरीर विज्ञान से अपरिचित न थे और प्रायः सब पश्चिमीय-विज्ञान उन्हें भली भाँति ज्ञात था। महान् उपनिषद्-ग्रन्थों से तो यह भी पता चलता है कि वे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण और बहुत से ऐसे अनेक विज्ञान-सम्बन्धी विषयों से परिचित थे जो पश्चिमी-जगत के वैज्ञानिकों के हाल के अन्वेषण कहे जाते हैं। इस पर भी हृदय-स्थान की ओर संकेत किया गया है। इससे यह न समझ लिया जाय कि वे इस तत्व से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य के हृदय में किसी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता। वायु के एक बुलबुले के हृदय में प्रविष्ट होते ही मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। अतः 'हृदय-स्थान' से उनका अभिप्राय इसके शाब्दिक अर्थ से नहीं है।

'हृदय' मनुष्य के दयालु-स्वभाव तथा अन्य दैवी गुणों का अधिष्ठान है। यह हमारे भाव, आवेग और दयालुता, प्रेम तथा दया सरीखी कोमल भावनाओं का निवास-स्थान है। हमारे शिर में तर्क तथा विवेक-पूर्ण बुद्धि की सत्ता पायी जाती है। प्राचीन महर्षियों की यह धारणा थी कि वास्तविक बुद्धि का अधिकरण 'हृदय' है। इसका यह अर्थ था कि अनन्य प्रेम, सहज सहनशीलता और दया-पूर्ण सन्तोष वाले वायु-मण्डल की उसी समय रचना हो सकती है जब मनुष्य का हृदय तर्क-शक्ति से ओत-प्रोत हो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिस प्रखर-बुद्धि व्यक्ति में इन हृदय-प्रधान लक्षणों का अभाव हो उसे संसार भर में समाज का एक अनुपयोगी, अनिष्टकर तथा घातक अंग समझा जाता है। ऐसा मनुष्य कोरी बुद्धि की सहायता से केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता रहता है। असंस्कृत एवं नकारात्मक बुद्धि तो एक आत्मघाती विष के समान है।

सर्प का अपना विष उसे समाप्त नहीं करता, इसका कारण यह है कि यह विष उसके फनों में सुरक्षित रहता है। यह विष वहाँ से उस क्षण बाहर निकलता है जब साँप के दाँत किसी को काट रहे हों। यदि यह बात न होती तो उस विष से वह स्वयं मर जाता। ठीक ऐसे ही जिस मनुष्य के हृदय-कोष में ये विशेष गुण नहीं पाये जाते वह तर्क एवं विवेक-पूर्ण विशेषता रखता हुआ भी विनाश के गड्ढे में जा गिरता है।

संसार की वर्त्तमान बुराइयों में से एक बुराई यह भी है। हमारे 'मस्तिष्क' ने 'हृदय' की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नति कर ली है और हम केवल बुद्धि के बल पर अपनी गृह-सम्बन्धी, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं का पुनर्संमंजन करने निकल खड़े हैं जब कि हममें हृदय से सम्बन्ध रखने वाले विशेष गुणों का अभाव रहता है। यही कारण है कि भरसक प्रयत्न करने पर भी हम उस अनुपम आदर्श की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं जो हमें वास्तविक सुख देकर शान्ति तथा ज्ञान के वायु-मण्डल की स्थापना कर सके जिससे हम अधिक से अधिक आध्यात्मिक उन्नति करने में समर्थ हों।

इस स्थल में श्री गौड़पाद विशुद्ध चेतना अथवा चेतन-तत्त्व के लिए हृदय-स्थान की ओर संकेत करते हैं। इससे उनका यह अभिप्राय है कि इस विवेक-बुद्धि की हृदयस्थल में स्थापना की जानी चाहिए।

इस त्रिविध-अहंकार के तीन स्थानों को 'ध्यान' के प्रसंग में यहाँ व्याख्या की गयी है। प्रत्येक दीक्षित साधक ध्यान-मग्न होने के लिए किसी न किसी निश्चित स्थान को जाना चाहेगा।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन्हें त्रिविध अनुभव जानिए । 'वैश्वानर'सदा स्थूल पदार्थों को अनुभव करता है; 'तैजस्' सूक्ष्म-जगत् के पदार्थों का उपभोग करता है और 'प्राज्ञ' परम सुख का ।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ।।४।।

इन्हें त्रिविध-तृप्ति जानिए । 'वैश्वानर' स्थूल पदार्थों से सन्तुष्ट होता है, 'तैजस्' सूक्ष्म पदार्थों से तृप्त होता है और 'प्राज्ञ' परम-सुख में विचरण करता है ।

उपनिषद् के तत्सम्बन्धी स्थलों की व्याख्या करते हुए हम इन दो मंत्रों में दिये गये विचारों को पहले विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं । इस बात को पूरी तरह समझाने के उद्देश्य से हमने प्रस्तावना वाले अध्याय के आदि-भाग में एक तालिका दी है (देखिए पृष्ठ १६) जिसमें भोग, तृप्ति, स्थानत्रय के विचार से इसका वर्गीकरण किया गया है । श्री शंकराचार्य्य ने इस पर कोई टीका-टिप्पणी न करके केवल यह लिखा है कि इन परिभाषाओं की पहले व्याख्या की जा चुकी है ।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः,
वेदैतदुभयं यस्तु स भुंजानो न लिप्यते ।।५।।

जो व्यक्ति ऊपर बताये गये अनुभवी तथा अनुभूत को तीन उपरोक्त अवस्थाओं में क्रियमाण होते हुए जानता है उस पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता चाहे वह इन तीन ('जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्त') अवस्थाओं से सम्बन्धित जगत् के कितना ही सम्पर्क में क्यों न आता रहे ।

यहाँ हमें यह न समझ लेना चाहिए कि इस त्रिविध-अहंकार को समझ लेने तथा उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही हम उस सम्पूर्णता से सम्पन्न हो जायेंगे जहाँ हमें हमारे कर्म अथवा नश्वर अनुभव लिप्यमान नहीं कर सकते । उदाहरण के तौर पर आप ने उपनिषद् के ज्ञान को सुना और समझा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, किन्तु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि आपने जीवन की सभी स्थितियों में सन्तुलन प्राप्त कर लिया है। इसके लिए आपको असाधारण प्रयत्न करके 'ध्यान-क्रिया' द्वारा इस सजीव अनुभव को अंगीभूत करना होगा। पाक-विज्ञान की पुस्तक को पढ़ लेने से हमारी क्षुधा कभी शान्त नहीं होगी।

इस तरह हमने त्रिविध अहंकार की गति को भली भाँति समझ लिया है। जब हमें यह तत्त्व-ज्ञान हो जायेगा कि विशुद्ध चेतना (आत्मा) के बिना इन तीन अवस्थाओं का कोई अस्तित्व नहीं और समाधिस्थ होने पर हम अपने सहज-गुण आत्मा' से साक्षात्कार करते हैं तो इन अवस्थाओं से प्राप्त किये गये अनुभव हमें हर्ष-विषाद में नहीं फँसा सकेंगे।

असीम को सीमित उदाहरणों द्वार समझाना एक निष्फल एवं निराशा-जनक प्रयत्न है। तो भी यदि हम अपने मन की उस स्थिति को समझाना चाहें जिससे अनुभव करते हुए भी हम अछूते रहते हैं तो हमारे लिए ऐसी स्वप्नावस्था को जानना होगा जिससे हमें अपने 'जाग्रत' अहंकार का पूर्ण ज्ञान रहता है। कल्पना कीजिए कि अपनी जाग्रतावस्था के अनुभवों का ज्ञान रखता हुआ मैं स्वप्न-जगत् में भी भ्रमण कर सकता हूँ; उस अवस्था में स्वप्न-जनित अनुभव मुझे स्पर्श तक नहीं करेंगे। स्वप्न में राजा बनने पर भी मैं उससे कोई प्रसन्नता न प्राप्त कर पाऊँगा। ऐसे ही यदि स्वप्न में कोई सिंह मेरे पीछे भाग रहा हो तो मैं अपनी प्राण-रक्षा के लिए निज वास्तविक स्थान से एक इंच भी इधर-उधर नहीं कूद सकता; कारण यह है कि मुझे यह ज्ञान है कि वह सिंह मिथ्या एवं मेरे स्वप्न-जाल का एक तन्तु-मात्र है।

सिनेमा घर में देखे जाने वाले चल-चित्र का यहाँ उदाहरण देना भी युक्तिपूर्ण होगा। किसी चित्र के सुखान्त एवं दुखान्त दृश्यों का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी विशेष दृश्य में हम किसी हत्याकाण्ड को देख रहे हों तो उसका हमें वह भावुकता-पूर्ण आघात नहीं पहुँचेगा जो मार्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में वास्तविक हत्या को देखने पर। इसका कारण यह है कि सिनेमा में बैठे हुए हमें पूरा ज्ञान रहता है कि उस चल-चित्र के विविध दृश्य हमारे मनोरंजन के लिए दिखाये जा रहे हैं और उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत आपके पास बैठा हुआ एक छोटा बालक अपने वास्तविक व्यक्तित्व को भूल कर उन विविध दृश्यों से हर्ष, विषाद, भय, करुणा आदि रसों का प्रदर्शन करने लगता है।

इस तरह प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आत्म-साक्षात्कार के बाद जब हम अपने भीतर के जीवन-केन्द्र का अनुभव कर लेते हैं तो इन तीन चेतनावस्थाओं में जीवन-क्रीड़ा करते रहने पर भी हम उनमें लिप्त नहीं होते, चाहे हम कितने इष्ट एवं अनिष्ट अनुभवों के सम्पर्क में क्यों न आये हों।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस को गले में कैन्सर (Cancer) होने पर भी यह अनुभव 'वैश्वानर' द्वारा भुक्त प्रतीत होता रहा। ईसा मसीह की यातनाएँ केवल उसके शरीर, मन और हृदय से सम्बन्ध रखती थीं न कि उसकी आत्मा से।

इनसे पृथक् रह कर ही हम विरक्त भाव से संसार को देख सकते हैं। इस अवस्था में ही हमें यह पता चलेगा कि यह संसार तो हमारे मनोरंजन के लिए विविध दृश्य प्रस्तुत कर रहा है। इस भाव को समझाने के उद्देश्य से ही यहाँ कहा गया है कि ऐसा मनुष्य संसार के पदार्थों का उपभोग करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता।

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोशून्पुरुषः पृथक् ॥६॥

यह बात स्वतः सिद्ध है कि यथार्थ कारण से ही 'कार्य' की उत्पत्ति हो सकती है; 'प्राण' सभी चेतन-पदार्थों को प्रकट करता है; 'पुरुष' चेतनायुक्त प्राणियों की सृष्टि करता है जो अनेक नाम-रूप से क्रियाशील होते रहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ श्री गौड़पाद ने प्रस्तुत प्रसंग के स्थान में 'सृष्टि' के भाव की व्याख्या की है। जब हम 'अहम्' अर्थात् 'कर्त्ता' के विषय में जानकारी प्राप्त करने का मनोरथ करते हैं तो हमारे लिए सर्व-प्रथम इस सिद्धान्त को पूरी तरह समझना आवश्यक है कि संसार के पदार्थ मिथ्या हैं और ये उस समय हमारे अनुभव में आते हैं जब चेतना 'कर्त्ता' से निकल कर मानसिक संक्षेत्र (mind-prism) में प्रवेश करती है। जब तक यह अन्यमनस्कता (distraction) रहती है तब तक हम मिथ्या जगत् से बाहर नहीं निकल सकते और न ही अपने भीतर के 'कर्त्ता' अर्थात् 'आत्मा' के क्षेत्र में प्रवेश करके इसे जानने की ओर अग्रसर हो पाते हैं।

इसलिए प्रत्येक महानाचार्य ने स्थूल जगत् के कारण, गति और मौलिक स्वरूप की व्याख्या करना आवश्यक समझा। शास्त्रों के इस परम्परागत साधन का अनुकरण करते हुए श्री गौड़पाद ने भी कुछ मन्त्रों में स्थूल संसार तथा इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों की विविध उक्तियों को संक्षेप से वर्णन किया है।

सम्पूर्ण आत्म-तत्त्व में क्रियाशीलता तथा चेतना दोनों का अस्तित्व विद्यमान है। इसकी क्रियाशीलता को हम 'प्राण' कह सकते हैं। इसके चेतन-स्वरूप को हम 'चेतना' का नाम देते हैं। प्रत्यक्ष संसार में 'स्थावर' एवं 'जंगम' का अस्तित्व है। भिन्न प्रकार के दो 'परिणाम' देखने पर हम अपने सीमित अनुभवों का यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उनके दो अलग-अलग कारण होंगे क्योंकि एक ही कारण से दो विभिन्न फल प्राप्त नहीं हो सकते। 'स्थावर' और 'जंगम' में पारस्परिक विरोध पाया जाता है; इसलिए उनकी उत्पत्ति के दो अलग-अलग कारण होने आवश्यक हैं।

यहाँ श्री गौड़पाद इन कारणों की व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं। उनके विचार में वास्तविकता के क्रियमाण स्वरूप (प्राण) से संसार के अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है और इसके चेतन-स्वरूप (पुरुष) से चेतनायुक्त प्राणियों का उद्भव होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

कई सृष्टि-तत्त्व ज्ञानी यह धारणा करते हैं कि यह (सृष्टि) ईश्वर की दैवी शक्ति का 'आरोप' है। दूसरे (विद्वान) इस संसार को स्वप्न-जगत् के समान मिथ्या समझते हैं।

दर्शन-शास्त्र में वर्णित सृष्टि-सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए श्री गौड़पाद ने प्रारम्भ में ही यह संकेत किया था कि 'सृष्टि-सिद्धान्त' में उनका रत्ती भर विश्वास नहीं है। उनके अपने विचार में 'परम-तत्त्व' अजन्मा है और इसके द्वारा जगत् की सृष्टि कभी नहीं हुई। संसार के दृष्ट-पदार्थ हमारा अपना आरोप-मात्र हैं। इसे 'अजातवाद' सिद्धान्त कहा जाता है।

'माण्डूक्य कारिका' तथा 'योग-वसिष्ठ' जैसे वेदान्त के आदि-ग्रन्थों में मुख्यतः 'अजातवाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जब कि आधुनिक वेदान्त के श्री शंकराचार्य्य सरीखे विद्वानों ने हमारे दृष्टिगोचर होने वाले दृष्ट-पदार्थों में भी आंशिक वास्तविकता का निरूपण किया है। इन दो सिद्धान्तों में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है; हमें इनका सहानुभूति-पूर्ण अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

'अजातवाद सिद्धान्त' के समर्थक भी संसार को एक दीर्घ-स्वप्न कहते हैं। आगे चलकर हमें पता चलेगा कि 'जाग्रत' एवं 'स्वप्न' अवस्था के अनुभवों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए श्री गौड़पाद ने भी अन्त में यह सिद्ध किया है कि किसी तर्क-पूर्ण दृष्टि से भी हम 'जाग्रत' संसार को 'स्वप्न' जगत् से अधिक वास्तविक नहीं कह सकते। जब 'सृष्टि' सिद्धान्त के समर्थक संसार को स्वप्नमात्र कहते हैं तो वे स्वप्न-जगत् को एक मानसिक मिथ्यात्व नहीं मानते बल्कि उनके मतानुसार यह स्वप्न आदि-अन्त तक वास्तविक होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भारतवर्ष के विचारकों का एक समुदाय स्वप्न की यथार्थता में विश्वास रखता है। इनके मत में स्वप्न-द्रष्टा वास्तव में स्वप्न देखता है। इनकी यह धारणा है कि तांत्रिक चमत्कारों के सदृश स्वप्न भी उस क्षण तक अस्तित्व रखते हैं जब तक स्वप्न-द्रष्टा इन्हें अनुभव करता रहता है। जब तक हम किसी वस्तु का बोध रखते तथा उस के विषय में कोई धारणा करते हैं तब तक उस पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है, चाहे यह अनुभव-काल कितना ही कम क्यों न हो।

इस विचार से यहाँ सूक्ष्म संसार की स्थूल-जगत् के साथ तुलना की गयी है।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरितिसृष्टौ विनिश्चितः
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥८॥

'सृष्टिवाद' के विद्वानों का यह मत है कि परमात्मा की इच्छा पर सृष्टि का होना निर्भर है। 'काल' की वास्तविकता में विश्वास रखने वाले अन्य व्यक्ति इस विचार में आस्था रखते हैं कि सब पदार्थों की उत्पत्ति काल से हुई।

उस समय के सृष्टि-सम्बन्धी दो अन्य सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करते हुए टीकाकार ने कहा है कि परमात्मा के दृढ़ संकल्प से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। दूसरे विचारक 'काल-तत्त्व' को ही सभी नाम-रूप पदार्थों का स्रष्टा समझते हैं क्योंकि ये 'काल' पर ही आश्रित रहते हैं।

दर्शन के स्तरीय भावों को यहाँ एक साथ रखकर श्री गौड़पाद ने अन्त में इन सिद्धान्तों को निर्मूल सिद्ध किया। इसके परिणामस्वरूप ऋषि ने विशुद्ध वेदान्त के महत्व का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया। विद्यार्थी के मन बुद्धि में वेदान्त को कूट कूट कर भरने का यही एकमात्र सफल साधन है। आने वाले मंत्र में यह बताया जायेगा कि श्री गौड़पाद ने इस बात को कितने चातुर्य्य से स्पष्ट किया।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीड़ार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥९॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरे यह समझते हैं कि इस सृष्टि की रचना परमात्मा के मनोरंजन के लिए की गयी है; एक और विचार-धारा वाले इसे भगवान की क्रीड़ा से सम्बन्धित क्रिया का ही फल कहते हैं; किन्तु यह तो उस दिव्य–शक्ति के स्वभाव के कारण ही अस्तित्व में आयी। जिस की कामना एवं इच्छा पहले से ही फलीभूत् हो चुकी है भला उस परमात्मा को किस प्रकार की इच्छा हो सकती है ?

कई विद्वान यह विश्वास रखते हैं कि इस सृष्टि की रचना किसी विशेष उद्देश्य से हुई और वह थी भगवान् की तुष्टि अथवा उसका मनोरंजन। इन छः विविध सिद्धान्तों की ओर संकेत करने के बाद श्री गौड़पाद ने इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में अपना विचार प्रकट करके हमें यह बताया है कि वेदान्त द्वारा सृष्टि की रचना होने के विचार में भी विश्वास नहीं किया जाता।

इस ऋषि के विचार में सृष्टि की एक ही तर्क-पूर्ण व्याख्या की जा सकती है और वह है 'परम-तत्त्व' के सहज स्वभाव की प्रतिक्रिया। कोई वस्तु अपने मूल-स्वभाव से पृथक् नहीं रह सकती। असीम का स्वभाव सीमित से क्रीड़ा करना है।

इसे एक उदाहरण द्वारा अधिक समझा जा सकेगा। समुद्र अपनी लहरों की स्वयं रचना नहीं करता किन्तु लहरों का होना ही उसकी प्रकृति है। केवल लहरों से समुद्र का समूचा ज्ञान नहीं होता। समुद्र की कई मील की गहराई में जो गम्भीरता एवं स्थिरता पायी जाती है वही उसका वास्तविक स्वभाव अथवा धर्म है। इस प्रकार ताप (गर्मी) अग्नि का धर्म है और उसके बिना अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं रह पाता। ठीक इस तरह 'दिव्य-तत्त्व' का यह स्वभाव है कि वह 'गति' तथा 'चेतन' में अपने आपको प्रकट करे। इसके फलस्वरूप क्रियमाण पदार्थ तथा 'चेतन' प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह परमात्म-तत्त्व स्वयं कोई इच्छा अथवा कामना नहीं रखता। हम में किसी पदार्थ के लिए कामना उसी समय होगी जब उसके लिए हमारे मन में लालसा पायी जाय। यदि मैं पेट भर कर स्वादिष्ट भोजन खा कर फल आदि भी सेवन कर लूँ तो कोई व्यक्ति चाहे कितने ही स्वादु व्यंजन मेरे सामने रख दे, मैं यही कहूँगा, "बस, बस। मुझे कुछ नहीं चाहिए। इने ले जाइए।" उस समय भोजन के लिए मुझे रत्ती भर लालसा न रहेगी क्योंकि मुझमें उसका अभाव नहीं है। इस प्रकार जब परमात्मा स्वयं 'परिपूर्ण' है तो उसे कोई इच्छा कैसे हो सकती है?

उपनिषद्-आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इच्छा-रहित होना **'पूर्णावस्था'** का द्योतक है। इस कारण यहाँ श्री गौड़पाद ने सृष्टि-रचना के मिथ्या विचार का खंडन करते हुए यह प्रश्न किया है—'भला उसे कोई इच्छा कैसे हो सकती है जो स्वयं परिपूर्ण है?"

यहाँ यह टीकाकार इस धारणा की पुष्टि करना चाहते हैं कि 'परिपूर्ण' म कोई कामना नहीं रह सकती; इस कारण यह किसी की रचना नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति श्री गौड़पाद के इस सिद्धान्त का खण्डन करने का साहस करता है तो उसे पहले इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार रहना होगा कि "भगवान् ने किस प्रयोजन से इसकी रचना की?" यदि हम यह उत्तर दें कि परमात्मा ने किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए यह कार्य्य किया तो हम इसके साथ साथ यह बात नहीं कह सकते कि परम-तत्त्व 'परिपूर्ण' है।

इस मतभेद को प्रकट करने के बाद श्री गौड़पाद ने इस उपनिषद् के पहले छः मन्त्रों से सम्बन्धित अपनी टीका समाप्त कर दी। अब हम 'माण्डूक्योपनिषद्' के सातवें मन्त्र में चेतना की 'तुरीयावस्था' की ओजस्वी व्याख्या को समझायेंगे।

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

यह वह तत्व नहीं जो भीतरी, बाह्य और इन दोनों संसारों से परिचित हो। यह न चेतन है और न अचेतन। यह किसी इन्द्रिय द्वारा देखा नहीं जा सकता, न किसी से व्यवहार करता और न मन द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। यह लक्षण और विचार से रहित है। इसे वर्णन करना असंभव है; यह निश्चय रूप से आत्मा से अभिन्न है। इसमें कोई प्रपंच नहीं पाया जाता। यह शान्त, कल्याणकारी और अद्वैत है। इसे 'तुरीय' (चतुर्थ) अवस्था कहा जाता है। यही आत्मा है जिसका साक्षात्कार करना हमारा ध्येय है।

परमात्मा को शब्द-बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि शब्दों द्वारा किसी पदार्थ के गुण, धर्म क्रिया आदि की व्याख्या ही की जा सकती है। सत्य-सनातन तत्व निर्गुण और क्रिया-रहित है। धन-पदार्थों को प्राकृतिक विज्ञान द्वारा गुण-युक्त कहा गया है और ये अनित्य होते हैं। यदि हम इस परम-तत्व में किसी गुण का समावेश करें तो यह परमोच्च स्थान से गिर कर सीमाबद्ध हो जायेगा। इस प्रकार यह अमर तत्व मरण के स्तर पर आजायेगा।

इस कारण 'तुरीय' (चतुर्थ) अवस्था को केवल नकारात्मक भाषा द्वारा समझाया जा सकता है। इस परमात्म-तत्व को वर्णन करने का यह एकमात्र साधन है। संसार के किसी देश तथा भाषा के दर्शन-शास्त्र में इसे इतनी सुन्दरता से वर्णन नहीं किया गया है। इसके द्वारा भाषा को साधनमात्र बना कर यह रहस्य समझाया गया है।

इस तरह 'अद्वैत' तत्व में सभी दृष्ट-पदार्थों; भावनाओं और क्रियाओं का अभाव दिखाया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हम बाह्य-संसार को अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से अनुभव करते हैं। मन तथा बुद्धि हमारे भाव एवं विचार-जगत् से हमारा परिचय कराते हैं।

इस स्थूल संसार को हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं और मन तथा बुद्धि हमारे विचार एवं भाव-क्षेत्र में प्रवेश करते रहते हैं। समस्त प्रत्यक्षसंसार तथा वे सभी साधन, जिनकी सहायता से हम अपने दैनिक जीवन के अनुभव प्राप्त करते हैं, पदार्थमय जगत् के वर्ग में आते हैं। 'कर्त्ता' (अनुभवी) एक नित्य-तत्त्व है जो हमें जीवन-प्राण प्रदान करता है। यह शुद्ध-चेतन तथा ज्ञान-स्वरूप है जिसे अनुभव करने के लिए हमें अनुभव-क्षेत्र के सभी पदार्थों का अतिक्रमण करना चाहिए।

अन्धेरे में पड़ा हुआ एक रस्सी का टुकड़ा साँप, छड़ी, पानी की धारा या भूमि में पड़ी हुई दराड़ समझी जा सकती है। इस तरह के भ्रम में पड़े हुए व्यक्तियों को उस रज्जु (रस्सी) का स्वरूप समझाने का एक मात्र उपाय यह है कि उनके मन से इस प्रकार की भ्रान्ति का निवारण कर दिया जाय। प्रायः सभी धर्म-ग्रन्थों में सत्य-सनातन की परिभाषा करने के लिए इस विधि को अधिकतर अपनाया जाता है।

मनुष्य के अनुभवों की व्याख्या करते हुए उपनिषदों ने आत्मा के चार 'पाद' माने हैं जिनमें से पहले तीन की व्याख्या की जा चुकी हैं। ये हैं 'जाग्रत' 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्था। प्रस्तुत मंत्र में चतुर्थ पाद (तुरीया-वस्था) को विस्तार से वर्णन किया गया है।

पिछले मन्त्र में उक्त तीन अवस्थाओं के व्यक्त गुण, अनुभव-क्षेत्र, भोग, तृप्ति आदि की व्याख्या की गयी है; किन्तु चतुर्थ अवस्था को समझाने के लिए ऋषि ने एक विचित्र शैली को अपनाया है। यह है नकारात्मक भाषा का प्रयोग। ऐसा करने का विशेष कारण है। अनुभवी (कर्त्ता) इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का ज्ञान-विषय नहीं है। इस रहस्य को हम दूरबीन के उदाहरण द्वारा पहले समझा चुके हैं। दूरबीन में देखने वाला व्यक्ति उसके द्वारा सब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुछ देखता है परन्तु वह अपने आपको इस उपकरण द्वारा नहीं देख सकता। ठीक इसी प्रकार बुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्योंही आत्मा से अलग होकर बुद्धि इसे देखने का प्रयास करती है उसी क्षण यह चेतना-रहित हो जाती है। बुद्धि को विवेक-शक्ति प्रदान करने वाली यह दिव्य-ज्योति 'आत्मा' है और इसके बिना वह निष्क्रिय हो एक घन-पदार्थ बन कर रह जाती है।

ऋषि ने बड़े चातुर्य्य से नकारात्मक भाषा का उपयोग करके साधकों को इस सत्य-सनातन तत्त्व को, जो सब प्राणियों को शक्ति सम्पन्न करता है, एक पूर्ण परिभाषा दी है।

नान्तः प्राज्ञं—यह हमारे भीतरी जगत को नहीं जानता। यहाँ श्रुति हमें यह बताना चाहती है कि 'तुरीय' स्वप्नावस्था नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है 'तैजस' वह चेतन-शक्ति है जिसे हमारे भीतरी जगत् अर्थात् स्वप्न संसार का ज्ञान रहता है। इसे 'नान्तः प्राज्ञं' कह कर ऋषि ने यह बात स्पष्ट की है कि मनुष्य की जीवन-शक्ति (आत्मा) को स्वप्न-द्रष्टा नहीं कहा जा सकता।

न बहिष्प्रज्ञं—यह बाह्य पदार्थमय संसार का भी ज्ञान नहीं रखता। इसका यह अभिप्राय है कि तुरीयावस्था को 'वैश्वानर' भी नहीं कहा जा सकता। हम यह जानते हैं कि यह 'जागने वाला' प्रत्यक्ष संसार का पूरा-पूरा ज्ञान रखता है।

न उभयतः प्रज्ञं—यह इन दोनों से अनभिज्ञ है। जब हम यह कहते हैं कि बाहर और भीतर के जगत् का इसे ज्ञान नहीं तो शिष्य के मन में स्वतः यह शंका उठ सकती है कि तब यह इन दोनों ('जाग्रत' और 'स्वप्न') अवस्थाओं की मध्यवर्ती अवस्था का ज्ञान रखता होगा। उस अवस्था में हमें 'जाग्रत' एवं 'स्वप्न' दोनों अवस्थाओं का अल्प ज्ञान रहता है। हम बहुधा उस मध्यवर्ती अवस्था को अनुभव करते रहते हैं। पेट भर कर भोजन करने के बाद हम एक ऐसी अवस्था को अनुभव करते हैं जिसमें हम न तो बाह्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संसार से पूरा सम्बन्ध रखते हैं और न ही भीतरी जगत् से पूर्णतः पृथक् होते हैं। यहाँ इस अवस्था को भी नकारात्मक भाषा द्वारा बताया गया है।

न ज्ञानघनं—यह चेतना का घन नहीं है। जब यह 'वैश्वानर', 'तैजस' और इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था नहीं तो स्वभावतः यह 'प्राज्ञ' (सुषुप्तावस्था वाला) होगा—ऐसी धारणा साधक में हो सकती है। इससे पहले हम 'प्राज्ञ' से सम्बन्धित मन्त्र में यह बता चुके हैं कि इस (प्राज्ञ) अवस्था में हमारी समूची चेतन-शक्ति स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से सिमिट कर घनीभूत् हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ऋषि ने कहा है कि 'तुरीय' अवस्था 'प्राज्ञ' से भी अछूती है।

न प्रज्ञं—यह ('तुरीय') साधारण चेतना भी नहीं रखता। इस नकारात्मक शब्द-शृंखला से विद्यार्थी एक ही सम्भावना कर सकता है। वह यह है कि आत्मा एक साधारण चेतना है। हिन्दु दर्शन-शास्त्र के महान विचारज्ञ निर्भयता से अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान के मंच पर दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहे हैं। युक्ति एवं तर्क के अमोघ अस्त्र से सुसज्जित रह कर उन्होंने यह घोषणा की है कि हमारी आत्मा के लिए 'चेतना' जैसे शब्द का भी प्रयोग करना अयुक्त है। यह इसलिए कहा गया है अपरिमित तत्त्व का किसी सीमित 'गुण' द्वारा वर्णन करना उसे सीमित करने का ही प्रयास होगा।

'चेतना' शब्द का प्रयोग केवल उसके विपरीतार्थक शब्द के प्रसंग में किया जाता है। 'सूर्य्य' के साथ 'ज्योति' शब्द को जोड़ना एक व्यर्थ क्रिया होगी क्योंकि सूर्य्य स्वतः तेज-पुंज है; इसलिए ज्योतिर्मान् सूर्य्य कहना निरर्थक है। इस तरह 'चेतन' प्राणी का तो संसार में कुछ न कुछ महत्व समझा जाता है क्योंकि यहाँ जड़-पदार्थों का भी अस्तित्व रहता है। 'तुरीय' तो जड़ और चेतन दोनों को प्रकाशित करता है।

न अप्रज्ञं—यह जड़ भी नहीं। अब इस तत्व को केवल जड़ माना जा सकता है, यहाँ यह भाव भी अमान्य है। हम यह पहले जान चुके हैं कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्मा 'नान्तः प्राज्ञं', 'न बहिष्प्रज्ञं', 'न उभयतः प्रज्ञं', 'न प्रज्ञाघनं', 'न प्रज्ञं', और 'न अप्रज्ञं' है। इस कारण इसे 'जड़' ही माना जा सकता है। ऋषियों ने इस संभावना का भी खंडन किया है।

इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में नकारात्मक भाषा द्वारा यह बताया गया है कि 'तुरीय' इन तीन विदित अवस्थाओं से परे है। यहाँ इस बात को दृढ़तापूर्वक बताया गया है कि 'असीम' की परिभाषा 'परिमित' शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में तत्व-वेत्ता ने आत्मा के कुछ निश्चित् विशेषणों की ओर संकेत किया है। हमें यहाँ भी इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि 'नकारात्मक' शब्दों में इस भाव को समझाया गया है। यहाँ दिये गये प्रत्येक शब्द में एक व्यापक रहस्य छिपा है और इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें 'तुरीय' का यथार्थ लक्षण जान लेना चाहिए।

अदृष्टं—न देखा जाने वाला। यहाँ कहा गया है कि 'आत्मा' को इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता। अदृष्ट का अर्थ केवल यह नहीं कि 'आत्मा' आकार-रहित है बल्कि इससे यह भी जान लेना चाहिए कि नकारात्मक शब्दों को प्रयोग में लाकर यह कहा गया है कि यह इन्द्रियों द्वारा अगम्य है। इसे हमारी किसी भी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता।

अव्यवहार्यं—बिना किसी सम्बन्ध के। इसका अर्थ यह है कि 'आत्मा' सर्व-व्यापक होने के कारण संसार के किसी पदार्थ से सम्बद्ध नहीं है बल्कि संसार के सब जड़ तथा चेतन इस से व्यवहार करते हैं। उदाहरण के तौर पर 'आकाश' को लीजिए। 'आकाश' का किसी पदार्थ से व्यवहार नहीं, यद्यपि कोई भी पदार्थ इसके बिना नहीं रह सकता। ठीक ऐसे ही 'आत्मा', जो अक्षर एवं अमृत है, जगत के सब नाम-रूप के व्यवहार का एकमात्र साधन है और इसके कारण जगत् का मिथ्या व्यापार चल रहा है।

अग्राह्य—जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऊपर दिये गये आत्मा के दो लक्षण इस बात की पुष्टि करते हैं कि मन द्वारा 'आत्मा' को अनुभव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं किया जा सकता क्योंकि मन तो उन्हीं पदार्थों की पहचान कर सकता है जो इन्द्रियों द्वारा उस तक पहुँच पाते हों । यदि 'आत्मा' इन्द्रिय-विषय बने तभी इसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है । नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा---पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, केवल अपने विषय-धर्म को अनुभव करने में समर्थ हैं जो क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। 'आत्मा' न तो इन्द्रिय-विषय है और न ही इन्द्रियों से सम्बन्धित; अतः यह मन द्वारा गम्य नहीं ।

अलक्षणं—बिना लक्षण के । यदि हम किसी पदार्थ को अपने सामान्य इन्द्रिय-साधन द्वारा नहीं जान सकते तो उसे जानने के लिए हमें केवल अनुमान का ही सहारा लेना होता है । रसोई में जल रही अग्नि के साथ धूआँ भी ऊपर उठता रहता है । इससे हमने इस तथ्य का निरूपण किया है कि जहाँ धूआँ है वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है । जब हम धूआँ ऊपर उठता देखते हैं तो हम सहसा कह देते हैं कि उस स्थान पर अग्नि जल रही है, चाहे वह (अग्नि) दूर उठ रहे धूए से ढकी हुई क्यों न हो ।

यहाँ अग्नि के होने का अनुमान इसके प्रभाव 'धूएँ' से हुआ जिसे हमने एक दूर के स्थान पर ऊपर उठते हुए देखा । इसे संस्कृत में 'लक्षण' कहते हैं । आत्मा का ऐसा कोई प्रभाव नहीं जिस के द्वारा इसके अस्तित्व का पता चल सके । अतः उपनिषदों के महानाचार्यों ने आत्मा को 'अलक्षणम्' कहा है ।

अचिन्त्य—बिना सोचे जाने के । ऊपर दी गयी व्याख्या से यह बात स्वतः सिद्ध हो गयी कि जो तत्त्व अदृष्ट, अग्राह्य और अलक्षण हैं वह स्वभावतः अचिन्त्य भी होगा ।

अव्यपदेश्यं—अवर्णनीय । यह बात तर्क द्वारा पुष्ट है कि इन परिस्थितियों में 'आत्मा' की व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि हम केवल उस अनुभव को वर्णन कर सकते हैं जो हमारी इन्द्रियों या मन अथवा बुद्धि के क्रिया-क्षेत्र में आता हो ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकात्मप्रत्ययसारं—निश्चय से आत्मा का सार। जब हम ऊपर के नकारात्मक शब्दों को समझते हुए इस परिणाम पर पहुँच चुके हैं कि परमात्म-तत्त्व श्रवणनीय है तो प्रखर बुद्धि वाले विद्यार्थी के लिए यह बात अस्पष्ट एवं निराशा-पूर्ण बन कर रह जाती है और उसकी इस दयनीय अवस्था में उसके मुख को देख कर गुरु इस वास्तविक-तत्त्व की सविस्तार व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

आचार्य्य ने कहा कि आत्मा शुद्ध, चेतन तत्त्व है। हमें संसार का ज्ञान प्राप्त होता है। जगत् के पदार्थ अथवा हमारे भाव या विचार ही हमारे सांसारिक ज्ञान के मूल-स्रोत हैं। हम किसी ध्वनि या किसी दूसरी इन्द्रिय के अनुभव से अपने भाव या विचार से पूर्णतः परिचित रहते हैं; किन्तु हमें यह ज्ञान नहीं है कि वह कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा हमें पदार्थ, भाव और विचार के क्रिया-क्षेत्रों का पता चल सकता है। यहाँ ऋषि ने कहा है कि यह परम-तत्त्व ही वह ज्ञान-शक्ति है और यह सब पदार्थों से अछूता है। यह एकमात्र शुद्ध ज्ञान है जिस के द्वारा आलोकित हो कर सब इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापार करती हुई प्रत्येक पदार्थ को प्रकाशमान करती रहती हैं।

ऐसे सभी गुणों तथा विशेषणों का आत्मा में अस्तित्व न मानते हुए, जिन के द्वारा हम पदार्थमय जगत् को सामान्यतः अनुभव करते हैं, महर्षि अब 'आत्मा' के कई निश्चित् लक्षण देने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ भी हमें यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि ऋषि ने निश्चित शब्दों का प्रयोग किया है तथापि उनका उद्देश्य उनके विपरीत अर्थ को समझाना है।

प्रपंचोपशमं—सब प्रपंचों से रहित। 'तुरीयावस्था' वह क्षेत्र है जिस में यह नाशमान-संसार और इसके अधूरे अनुभव प्रवेश नहीं कर पाते। इन अनेक अनुभवों का अपूर्ण ज्ञान हमें केवल 'तुरीय' के प्रवेश द्वार तक ही होता है। इस नाशमान पदार्थमय संसार की तीन अवस्थाओं में ही प्रपंच पाया जाता है। ज्योंही हम उनको पार कर लेते हैं त्योंही हम उस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तविक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जहाँ (तुरीयावस्था में) इस नश्वर संसार के विकार, दुःख, अपूर्णता, छल-कपट, यातनाओं आदि के लिए कोई स्थान नहीं।

शान्तम्—जो शान्त है। पहले यह कहा जा चुका है कि अशान्ति तथा मनोवेग केवल हमारे रागद्वेष आदि भावों के कारण हमें अस्त-व्यस्त रखते हैं। जब हम इस द्वैत संसार से निकल कर 'आत्मा' के साम्राज्य में प्रवेश करते हैं, हमें शाश्वत एवं पूर्ण शान्ति का अनुभव होने लगता है।

शिवम्—जो सर्व कल्याणकारी है। शान्ति में सुख और कल्याण पाया जाता है। सुख वास्तव में वह सन्तुलन-स्थिति है जो हमें शान्त रखने के साथ पूर्ण कल्याण प्रदान करता है। अकल्याण अथवा अप्रिय स्थिति केवल वास्तविक संसार में रह सकती है। इस कारण हम 'तुरीयावस्था' को 'कल्याण' का अधिष्ठान कहते हैं।

अद्वैतं—बिना द्वैत भाव के। जब हमें खम्भे के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसमें से वह 'भूत' बाहिर निकल भागता है जिसका हमने उस खम्भे में आरोप किया हुआ था। उस समय हमें एकमात्र खम्भे के दर्शन होते हैं। 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था में ही जगत के द्वैतभाव का हमें ज्ञान है। सुषुप्तावस्था में एकरूपता का अस्तित्व होता है यद्यपि हम इसे उस समय अनुभव नहीं कर पाते। 'तुरीयावस्था' में प्रवेश करने के बाद समस्त जगत् अदृश्य हो जाता है और हम इस सत्य-सनातन 'अद्वैत' तत्त्व को अनुभव करने लगते हैं।

'तुरीय' अवस्था की नकारात्मकता की इसके विशेष लक्षणों द्वारा परिभाषा करने के बाद ऋषि ने अन्त में कहा कि यही **'तुरीय'** अवस्था है। इस मंत्र में यद्यपि इस वास्तविक तत्त्व के सुन्दर विशेषण दिये गये हैं तो भी इसकी पूर्ण परिभाषा नहीं की जा सकी। इसे तो नकारात्मक भाषा में वर्णन करने का प्रयासमात्र किया गया है। इन सांसारिक पदार्थों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है—इस बात को समझाने के बाद आचार्य 'जाग्रत',

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'स्वप्न' तथा 'सुषुप्त' अवस्था से परे की अवस्था की ओर संकेत करते हुए शिष्य से कहते हैं—**"यही आत्मा है।"** यह कह कर मानो गुरु अपने शिष्य के सम्मुख 'आत्मा को रख कर इसे प्राप्त करने का आग्रह कर रहे हैं।

इस मन्त्र के अन्तिम भाग के इन शब्दों (स आत्मा स विज्ञेयः) का एक विशेष तथा पवित्र महत्व है। इस प्रकार इस 'परमात्म तत्त्व' की यथासम्भव परिभाषा करने का प्रयास करते हुए गुरु ने शिष्य से कहा, "जिसे तुमने अब अपनी बुद्धि द्वारा समझा है उसे केवल शास्त्राध्ययन से प्राप्त नहीं किया जा सकता"। शास्त्रों के रहस्यपूर्ण भाव को निस्सन्देह विवेक-बुद्धि की सहायता से समझा जाता है किन्तु इतने पर ही हम 'ब्रह्म-विद्या' की पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच पाते। इस रहस्य पर मनन करना नितान्त आवश्यक है। यह बात तभी सम्भव होगी यदि साधक इन बाह्य आवरणों से अलग रह कर अपने भीतर के व्यापक एवं पवित्र आत्म-तत्त्व की फिर से खोज तथा प्राप्ति करे। स्थूल जगत के अनेक पदार्थों का चिन्तन करते रहना 'मृग-तृष्णा' के सदृश है। भला मरुस्थल में प्रतीत होने वाली उस 'जल-धारा' से सिक्ता (रेत) का एक भी कण क्या सिंचित् हो सकता है ?

यहाँ जो कुछ बताया गया है उससे यह समझा जाता है कि दृष्ट-जगत् से परे रहने वाला अद्वैत-तत्त्व हमारे भीतर ही अनुभव किया जा सकता है। जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल अध्ययन तथा विचार की सहायता से नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन के इस ध्येय को प्राप्त करने का एकमात्र साधन 'ध्यान' के राज-मार्ग को अपनाना है।

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुःस्मृतः ॥१०॥

इस 'परमात्म-तत्त्व' में, जो परिवर्तन-रहित है, सब दुःख पूर्ण रूप से शान्त हो जाते हैं। इस नाम-रूप जगत् में 'अद्वैत' तत्त्वों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यही है । इसे 'तुरीय' कहा जाता है जो दिव्य तथा सर्व-व्यापक है ।

इस 'कारिका' में जिन शब्दों तथा विशेषणों का उल्लेख किया गया है वे गत मन्त्र में वर्णित भाव की दृष्टि में स्वतःसिद्ध हैं । उपनिषद् में 'आत्मा' की जो परिभाषा की गयी है उसके मुख्य अंगों की टीकाकार (श्री गौड़पाद) ने व्याख्या करने का प्रयत्न किया है ।

पिछले मन्त्र में उपनिषद् ने जिन अनुपम शब्दों द्वारा 'आत्मा' की परिभाषा की है उसने एक असंभव बात को भी प्रायः संभव बना दिया है । इसे हम यथार्थ रूप से परिभाषा नहीं कह सकते क्योंकि किसी वस्तु या रूप की परिभाषा करना उसे पूर्ण रूप से शब्द-बद्ध करना है । हम यह भी जानते हैं कि पिछले मन्त्र में 'तुरीय' को स्पष्ट रूप से निश्चित विशेषणों द्वारा इतनी सफलता से समझाया नहीं जा सका जितना नकारात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा ।

स्वाभाविक है कि एक ऐसा विद्यार्थी, जिसे अभी दीक्षा नहीं दी गयी है, इस गुह्य ज्ञान को इतनी सुगमता से प्राप्त नहीं कर पाता । ऐसे अवसर पर 'गुरु' के अनुग्रह की आवश्यकता है जिससे विचार तथा तर्क द्वारा यथार्थ मार्ग का प्रदर्शन किया जा सके क्योंकि ऐसा होने पर ही इन शब्दों के गूढ़ रहस्य को जाना जा सकता है । एक टीकाकार के नाते श्री गौड़पाद अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि वह हमारा उचित पथ प्रदर्शन करें । नीचे दिये गये मन्त्रों ने हमें वह मार्ग दिखाया है जिस पर निष्ठापूर्वक चलते रहने से हम उपनिषदों के इन संकेत-मात्र शब्दों को ठीक तरह समझ कर अपने निश्चित् ध्येय की ओर अग्रसर हो सकें ।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥

'विश्व' तथा 'तैजस' दोनों कारण और कार्य द्वारा बँधे हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं; किन्तु 'प्राज्ञ' का स्रोत केवल कारण है। 'तुरीय' में इन दोनों (कारण तथा कार्य) का अस्तित्व नहीं होता।

कारण वह स्थिति है जिसके अन्तर्निहित उसका कार्य्य होता है। जब कारण से 'कार्य' की उत्पत्ति होती है तो वह कारण स्वत: कार्य में परिणत हो जाता है। 'विश्व' (जाग्रतावस्था) में कारण और कार्य्य दोनों का अस्तित्व रहता है। आध्यात्मिक जगत् में हमारे वास्तविक स्वरूप का अज्ञान (अविद्या) ही कारण होता है। हम इस तथ्य को नहीं जानते कि हम सनातन, शाश्वत, सर्वव्यापक, शुद्धचैतन्य स्वरूप हैं और हम अपनी इच्छा से पदार्थ जगत् को अनुभव करते रहते हैं। ऐसा करते हुए हम इन पदार्थों के जाल में फँस कर राग और द्वेष के शिकार हो जाते हैं। इस राग-द्वेष से पूर्ण 'जाग्रत' अवस्था में हम सुख तथा दु:ख के बीच भटकते हुए व्याकुल एवं संतप्त रहते हैं।

इस तरह 'विश्व' अहंकार में कारण (अविद्या) तथा कार्य्य (पदार्थमय जगत्) दोनों विद्यमान रहते हैं। इस पदार्थमय जगत् में स्थूल संसार की जड़ वस्तुओं तथा चेतन प्राणियों के साथ साथ हमारे मन, बुद्धि और अविद्या की भी गणना की जाती है। यह 'जागने' वाला न केवल बाह्य पदार्थों एवं परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होता है बल्कि हमारे मानसिक तथा विज्ञानमय व्यक्तित्व के आघात भी सहन करता रहता है।

प्रस्तुत मंत्र में दिया गया यह भाव केवल उस विद्यार्थी की भली भाँति समझ में आयेगा जिसमें स्वयं अति-सूक्ष्म मनन शक्ति हो। श्री गौड़पाद कहते हैं कि यहाँ उपनिषद् की इस उक्ति का यह अभिप्राय है कि 'तुरीय' अवस्था में बाह्य एवं आन्तरिक पदार्थों का किञ्चिदपि ज्ञान नहीं रहता। दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ है कि 'तुरीय' न तो 'विश्व' है और न ही "तैजस"। टीकाकार यह समझाना चाहते हैं कि जब यह 'परम-तत्त्व' विश्व नहीं तो और क्या हो सकता है। जाग्रतावस्था में हम अविद्या से घिरे रहते हैं। इस अविद्या से हम में स्वाभिमान की उत्पत्ति होती है जो हमारे मन, बुद्धि और मायामय बाह्य संसार को दूषित कर देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्नावस्था (तैजस) में जब आत्मा सूक्ष्म शरीर के साथ सम्पर्क स्थापित करता है तो इसे स्थूल संसार का कोई ज्ञान नहीं रहता किन्तु यह स्वप्न-जगत् के पदार्थों से लिप्त हो जाता है। इसलिए श्री गौड़पाद ने कहा है कि 'तैजस' में भी कारण तथा कार्य्य का अस्तित्व रहता है। इसे हम मन के भीतर का पदार्थमय-जगत कहते हैं।

जब 'विश्व' तथा 'तैजस' दोनों में कारण और कार्य्य बने रहते हैं तो 'प्राज्ञ' इन दोनों से किस बात में भिन्न होगा ? यहाँ यह कहा गया है कि सुषुप्तावस्था (प्राज्ञ) में केवल 'कारण' रहता है। इस अवस्था में हमें नाना पदार्थों वाले स्थूल संसार तथा सूक्ष्म जगत् का कोई ज्ञान नहीं रहता। उस समय तो हम केवल इस बनीभूत नकारात्मक एकरूपता से परिचित रहते हैं जिसे "मैं नहीं जानता" भाव से स्पष्ट किया जाता है। यही भाव निरन्तर हममें बना रहता है। अतः जाग्रतावस्था में हमें केवल अज्ञान (अविद्या) का आभास होता है। यही अविद्या जगत् की माया और भ्रान्ति, अनेकता तथा नश्वरता की जननी है। इसलिए अविद्या वह कारण है जिससे नाना दृष्ट-पदार्थों (कार्य) का प्रादुर्भाव होता है।

यदि आचार्य्य का यह कथन सत्य है कि 'विश्व' तथा 'तैजस' में कारण और कार्य्य दोनों बने रहते हैं और 'प्राज्ञ' में केवल कारण मौजूद रहता है तो यह पूछा जा सकता है कि तुरीय (चतुर्थ) अवस्था का वास्तविक स्वरूप क्या है। इस मन्त्र में यह भाव संक्षेप में समझाया गया है। यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तुरीय (शाश्वत) में 'कारण' तथा 'कार्य्य' दोनों नहीं रह सकते। जहाँ तक खम्भे का सम्बन्ध है उसके अस्तित्व पर भयावने भूत के विविध अंग, वस्त्र, रूप आदि कोई प्रभाव नहीं डाल सकते; खम्भे में तो भूत है ही नहीं।

खम्भे में भूत का आरोप करना एक मिथ्या भाव है और अवास्तविक पदार्थ (माया) का वास्तविक स्वरूप (आत्मा) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। यह कहा जा चुका है कि मरुस्थल की भ्रान्ति-पूर्ण जल-धारा रेत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के एक कण को भी गीला नहीं कर सकती । इस प्रकार 'कारण' और 'कार्य्य', जिनका क्रिया-क्षेत्र 'जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्था तक सीमित रहता है, इन तीनों से परे रहने वाली वास्तविक (तुरीय) अवस्था में कभी प्रवेश नहीं कर सकते ।

यह बात कहने से टीकाकार का अभिप्राय है कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तावस्थाएँ केवलमात्र 'तुरीय' (आत्मा) पर आरोप हैं ।

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि अनृतम् ।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

'प्राज्ञ' सत्य अ वा असत्य के विषय में कुछ नहीं जानता और न ही आत्मा या अनात्मा के सम्बन्ध में उसे कोई ज्ञान है । 'प्राज्ञ' इन सबसे अनभिज्ञ है । 'तुरीय' सब से परिचित है और यह सर्वज्ञ एवं सर्व-द्रष्टा है ।

ऊपर जिस अज्ञान (अविद्या) की व्याख्या की गयी है वह वास्तव में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना है । इससे माया-पूर्ण पदार्थमय संसार की उत्पत्ति होती है । इस प्रभाव (कार्य्य) को अज्ञान कहा जा सकता है जो हमारे जीवन में भ्रान्ति को जन्म देता है । 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्थाओं को अनुभव करने वाले को सदा अज्ञान (अविद्या) तथा भ्रान्ति का अनुभव होता रहता है । सुषुप्तावस्था में यह (आत्मा) केवल 'अविद्या' की स्थिति में रहती है । गत कारिका में इस बात को समझाया जा चुका है ।

जब हम यह कहते हैं कि तुरीयावस्था में 'अविद्या' तथा 'भ्रान्ति' दोनों विद्यमान नहीं होते तो यह शंका उठ सकती है कि तुरीय (आत्मा) और सुषुप्तावस्था (प्राज्ञ) में क्या भेद है ।

नकारात्मक भाषा के प्रयोग से सदा यह भय बना रहता है कि छात्र 'परम-तत्त्व' को वह सत्ता मानता रहे जिसकी इस (नकारात्मक) भाषा द्वारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिभाषा न की जाय। इस स्थिति में विद्यार्थी सहसा यह परिणाम निकाल सकता है कि सुषुप्तावस्था में अहंकार का क्रियमान होना ही आत्मा का सूचक है। इस मिथ्या भावना को दूर करने के लिए इस मन्त्र में और अधिक व्याख्या तथा युक्तियों का समावेश किया गया है।

यहाँ 'जाग्रत' अवस्था के स्थूल संसार की 'सुषुप्त' अवस्था के 'रिक्त' जगत से तुलना की गयी है। जब हम सुषुप्तावस्था को इतना अधिक नहीं जान सकते तो उपनिषदों द्वारा वर्णित सुषुप्तावस्था के रहस्य को समझ सकना एक विफल प्रयास ही होगा।

इस मंत्र में टीकाकार सुषुप्तावस्था के अहंकार (प्राज्ञ) की व्याख्या कर रहे हैं। इनके विचार से इस अवस्था में सत्य अथवा असत्य का पता नहीं चलता और युक्त-अयुक्त तथा आत्मा-अनात्मा का रत्ती भर ज्ञान नहीं रहता। इस को हम पूर्णावस्था नहीं कह सकते और न ही यह विशुद्ध चेतना की स्थिति है। सुषुप्तावस्था में हमें "साक्षात् अविद्या" का ही ज्ञान होता है।

अन्धकार को देखना ज्योति के दर्शन करने से सर्वथा भिन्न है। 'तुरीय' शाश्वत एवं सनातन ज्ञान का अधिष्ठान है। 'तुरीय' तथा 'प्राज्ञ' में वही भेद है जो 'ज्योति' और 'अन्धकार' में। सुषुप्तावस्था में हमें यह ज्ञान होता है कि "हम कुछ भी नहीं जानते।" इसके विपरीत तुरीयावस्था में हमें निरन्तर यह ज्ञान रहता है कि "हम सब कुछ जानते हैं।" शुद्ध ज्ञान होने के कारण 'तुरीय' स्वयमेव ज्ञान-स्वरूप है।

ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए किसी और ज्योति की आवश्यकता नहीं होती। इस लिए ज्योति-स्वरूप 'ज्ञान' (आत्मा) को जानने के लिए कोई अन्य ज्ञान आवश्यक नहीं है। 'आत्मा' के अनुभव के लिए किसी दूसरे अनुभव-कर्त्ता से सहायता नहीं मिल सकती। आत्मा (तुरीय) 'ज्ञान' है; इसलिए टीकाकार ने स्पष्टतः कहा है कि 'तुरीय' सदा सर्व-द्रष्टा है।

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयो प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'सुषुप्तावस्था' और 'तुरीय' में समान रूप से 'द्वैत' को अनुभव नहीं किया जा सकता किन्तु गहरी निद्रा लेने वाला कारण द्वारा प्रभावित होता है जब कि यह कारण (अविद्या) तुरीयावस्था में विद्यमान नहीं होता ।

पिछले दो मंत्रों पर गहरा विचार करने के बाद एक शंका उत्पन्न हो सकती है जिसका यहाँ समाधान किया जाता है। वह संदेह यह है कि यदि सुषुप्तावस्था तथा तुरीयावस्था में समान रूप से 'द्वैत' भाव नहीं रहता तो 'तुरीय' 'सुषुप्त' से किस बात में भिन्न हुई ? संक्षेप में प्रश्न-कर्त्ता यहाँ यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है कि इस दिशा में इन दोनों अवस्थाओं में समानता होने के कारण 'तुरीय' भी 'सुषुप्त' का रूप हुई ।

संसार के नास्तिक, विशेषतया साम्यवादी (कम्यूनिस्ट), अपने अस्पष्ट एवं भ्रान्तिपूर्ण उद्देश्य की पूर्त्ति के कारण धर्म को रीता तथा निरर्थक सिद्ध करना चाहते हैं। वे महान् शास्त्रों का गहरा अध्ययन न कर के अपना ही परिणाम निकाल बैठते हैं। मुझे अनेक साम्यवादी व्यक्तियों से बात करने का अवसर मिला है। उनकी धारणा यह है कि जब सब बातों को कहा और समझा जा सकता है तो वेदान्ती वर्त्तमान युग वालों को मुक्ति का मार्ग इतने वैज्ञानिक एवं विज्ञानमय ढंग से क्यों दिखाते हैं। उनके इस तर्क की विफलता उन के रिक्त ज्ञान का प्रतिबिम्ब है। वेद-शास्त्रों के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए केवल बुद्धि सहायक नहीं हो सकती, चाहे अध्ययन करने वाला एक प्रकाण्ड विद्वान क्यों न हो। सुष्ठुतया मनन एवं अनुकरण द्वारा ही हम वेदान्त में निहित रहस्य को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

यहाँ 'सुषुप्त' तथा 'तुरीय' के मुख्य भेद को स्पटष्तया समझाया जा रहा है। एक सुषुप्त व्यक्ति को परमात्म-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का लेशमात्र ज्ञान नहीं होता और यही अज्ञान अनेकता की पहचान करने का कारण होता है। 'तुरीय' अवस्था में इस सनातन तत्त्व का अनुभव होता रहता है जिसका सुषुप्तावस्था में पूर्ण अभाव रहता है। अतः इन दोनों अवस्थाओं में समानता नहीं होती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्म-साक्षात्कार के सौभाग्यशाली क्षणों में अबाध रूप से इस दिव्य-तत्त्व का पूर्ण ज्ञान रहता है और यहाँ तिमिर के लिए कोई स्थान नहीं। यह शाश्वत, सर्व-व्यापक, अनन्त और सनातन विशुद्ध ज्ञान है। अतः तुरीयावस्था में कारण-स्थिति के लिए कोई स्थान नहीं। 'तुरीय' सम्पूर्ण ज्ञान है जहाँ अज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता।

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां चैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

पहली दो अवस्थाओं 'विश्व' तथा 'तैजस' का स्वप्न तथा निद्रा से सम्बन्ध रहता है। 'प्राज्ञ' में स्वप्न-रहित निद्रा का अनुभव होता है। जिन व्यक्तियों ने सनातन-तत्त्व को अनुभव किया है उन्हें 'तुरीय' अवस्था में निद्रा तथा स्वप्न की अनुभूति नहीं होती।

हम जानते हैं कि जब वास्तविक तत्व 'आत्मा' स्थूल शरीर म से बाह्य संसार की ओर अभिमुख होता है तो इसे 'जाग्रतावस्था' के अनेक अनुभव प्राप्त होते हैं। यही जाग्रत व्यक्ति का जीवन है। जब यह स्थूल शरीर का त्याग करता है तो पदार्थमय संसार भी लुप्त हो जाता है। तब यह सूक्ष्म शरीर से संपर्क स्थापित करता है जहाँ मन तथा बुद्धि का साम्राज्य है। इसे 'स्वप्नावस्था' कहते हैं, जिसके अपने अनुभव अलग दृष्टिगोचर होते हैं।

टीकाकार के यह कहने का, कि 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्थाओं को अनुभव करने वाला प्राणी स्वप्न एवं निद्रा की अनुभूति करता है, यह अभिप्राय है कि इन दोनों अवस्थाओं में 'कारण' तथा 'कार्य्य' दोनों बने रहते हैं। इसे भ्रान्ति और अज्ञान कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में मनुष्य स्वप्न-रहित निद्रा को अनुभव करता है। इसका यह अर्थ है कि यह स्थिति भ्रान्ति के बिना केवल अज्ञान (अविद्या) के कारण अनुभव की जाती है। दूसरे शब्दों में सुषुप्तावस्था में केवल अविद्या विद्यमान रहती है और इस पर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थूल संसार तथा सूक्ष्म जगत् का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इन दोनों का उद्गम वही अज्ञान (अविद्या) है।

इस कारिका में श्री गौड़पाद हमारे लिए उन अवस्थाओं, जिन्हें हम अपने साधारण जीवन में अनुभव करते रहते हैं, और उपनिषदों में वर्णित वास्तविक तत्त्व की अज्ञात एवं विचित्र अनुभूति (तुरीय) के भेद को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। इसी कारण यहाँ पर कहा गया है कि तुरीयावस्था में निद्रा अथवा स्वप्न के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए कि यह धारणा कोई विज्ञानमय स्वयं-सिद्ध विचार अथवा नैयायिक सिद्धान्त नहीं, बल्कि हर सच्चे साधक के लिए अनुभव करने का विषय है, तत्त्वदर्शी ऋषियों ने यह घोषणा की है कि 'तुरीय' अवस्था में न तो स्वप्न (भ्रान्ति) पाया जाता है और न ही निद्रा (अज्ञान)। अतः इस मंत्र से हमें यह समझ लेना चाहिए कि 'तुरीय' की परिपूर्ण अवस्था को उपनिषदों ने पहली दो अनुभूत अवस्थाओं से भिन्न बताया है।

इस महान् 'सत्य' को अनुभव करने के लिए ऐसे उपकरण से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती जो ज्ञातव्य पदार्थ को अपने सम्मुख देखता रहता है। 'तुरीय' वह स्थिति है जिसमें कर्त्ता (द्रष्टा) और कर्म (दृष्ट) परस्पर मिल कर एकरूप शुद्ध ज्ञान में घनीभूत हो जाते हैं। यही परम-ज्ञान (आत्मा) है।

आगे आने वाले विविध मंत्रों में यह बताया जायेगा कि यह बात किस प्रकार संभव है।

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

स्वप्न का कारण वास्तविक ज्ञान का मिथ्या आभास होना है। निद्रा वह स्थिति है जिसमें इस 'तत्त्व' का ज्ञान ही नहीं होता। जब दो प्रकार की यह भ्रान्ति दूर हो जाती है तो 'तुरीय' की अनुभूति होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चेतना की चतुर्थ अवस्था का अनुभव कब होता है ? इस बात को यहाँ समझाया गया है । यहाँ स्वप्न एवं निद्रा का इनके आध्यात्मिक रूप में वर्णन किया गया है, जिसे हम 'भ्रान्ति' तथा 'अज्ञान' कहते हैं । यहाँ जाग्रतावस्था को विशेष रूप से वर्णन नहीं किया गया है क्योंकि 'स्वप्न' म जाग्रतावस्था को भी गणना की गयी है; इसका कारण यह है कि इन दोनों अवस्थाओं में हमें सनातन-तत्त्व के प्रति भ्रान्ति होती है । यदि कोई व्यक्ति रज्जु (रस्सी) में 'सर्प' को देखता है अथवा एक 'छड़ी' को तो दोनों अवस्थाओं में वह भ्रान्ति का शिकार बना रहता है । ऐसे ही 'जाग्रत' एवं 'स्वप्न' से सम्बन्धित हमारे सभी अनुभव मिथ्या होते हैं और हम परम-तत्त्व को जान नहीं पाते ।

इस मंत्र में हमें यह बताया जा रहा है कि 'तुरीय' इस मिथ्यात्व से परे है । यहाँ निद्रा का प्रयोग भ्रान्ति को दिखाने के लिए किया गया है । हम पहले यह बता चुके हैं कि 'सत्य' के प्रति ज्ञान का अभाव होने से 'जाग्रत' एवं 'सुप्त' अवस्था में हम दृष्ट तथा सूक्ष्म जगत् में भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करते रहते हैं । इसलिए इन दोनों अवस्थाओं में मिथ्या ज्ञान अनुभव करने का मूल-कारण अज्ञान (अविद्या) है ।

जब हम 'कारण' (अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति अज्ञान) को लाँघ लेते और साथ ही इसके कार्य्य (विविध मिथ्या अनुभवों वाले संसार) की वास्तविकता को जान जाते हैं तो हमें चतुर्थ अवस्था 'तुरीय' का अनुभव हो जाता है ।

'ज्ञान स्वरूप' को जान लेने पर अज्ञान (अविद्या) का नाश हो जाता है । 'कारण' के बिना 'कार्य्य' का अस्तित्व नहीं रह सकता । अज्ञान के दूर हो जाने पर सूक्ष्म संसार एवं स्थूल जगत् तथा इनसे प्राप्त होने वाले अनेक अनुभव लुप्त हो जाते हैं ।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिदमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब प्राणी अनादि माया-रूपी निद्रा का त्याग कर देता है तो यह निद्रा-स्वप्न से रहित अपने नित्य तथा अद्वैत स्वरूप को जान लेता है ।

'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' का अभिप्राय वास्तविक तत्त्व का मिथ्या ज्ञान और अविद्या है, यह बता चुकने के बाद टीकाकार हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि ऐसा समय आता है जब हम महान् सत्य को, जो चेतना की चतुर्थी अवस्था है, अनुभव कर सकते हैं और वेदान्त-साधना तथा ध्यान द्वारा इस दिव्य चेतना के प्रति जागरूक हो जाते हैं । यहाँ आचार्य्य ने इस तथ्य पर आग्रहपूर्ण बल दिया है कि उपनिषदों में निहित सत्य मिथ्या नहीं बल्कि ये ऐसे अनुभव हैं जिनको प्रत्येक साधक अपने जीवन में ढाल सकता है ।

मनुष्य आत्म-प्रवंचना के कारण सुषुप्तावस्था को अनुभव करता रहता है । इसका यह अर्थ है कि उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह स्वयं सर्व-व्यापक चेतना है । सृष्टि के निर्माण से ही मनुष्य के भाग्य में यह क्रम घटित हो रहा है । सृष्टि का सृजन होने के बाद ही समय का प्रादुर्भाव हुआ । इस कारण सृष्टि को 'अनादि' कहा गया है । सृष्टि के आदि से इस क्षण पर्यन्त हम 'सुषुप्ति' का अनुभव करते आये हैं अर्थात् हमें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहा । जब यह मिथ्याभिमानी जीव इस घोर निद्रा का त्याग करके निज वास्तविक स्वरूप को जान लेगा तब यह इस अद्वैत, अनादि तथा स्वप्न-रहित तत्त्व के प्रति जागरूक हो जायेगा ।

स्वप्न-रहित का अर्थ यह है कि 'सत्य' का अनुभव होने पर अज्ञान (अविद्या) की समाप्ति हो जाती है । दूसरे उपनिषदों, विशेषतः ऋषियों की "उत्तिष्ठत, जाग्रत" की शास्त्रीय चेतावनी में इसी भाव की पुनरावृत्ति की गयी है । जब हम स्वप्नयुक्त होते हैं तब हमारे भ्रान्ति-पूर्ण स्वप्न-जगत् का अन्त हो जाता है । इस प्रकार अपने सहज स्वरूप से साक्षात्कार कर लेने पर नश्वरता, अल्पज्ञता, मृत्यु आदि से सम्बन्धित हमारी सभी धारणाएँ लुप्त हो जायेंगी ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'जीवात्मा' के लिए ही संसार का अस्तित्व है और इसका अहंभाव नष्ट हो जाने पर इन मिथ्या धारणाओं एवं सीमित शक्तियों का अन्त हो जायेगा। इससे पहले यह बताया जा चुका है कि इस मिथ्याभिमान का निर्माण किस प्रकार होता है और हमें इस माया-रूपी पृथकत्व का आभास कैसे होने लगता है। जब हमें इस वास्तविक-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब हमें चेतना की तुरीयावस्था का ज्ञान होता है। उस समय 'सत्य' के प्रति न तो कोई मिथ्या ज्ञान होता है और न ही अविद्या।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

यदि दृष्ट-प्रपञ्च (अनेकता) वास्तविक होता तब यह अवश्य अदृश्य हो जाता। दृष्टिगोचर होने वाला यह द्वैत केवल भ्रान्ति या माया है। अद्वैत ही परम सत्य है।

पिछले मंत्र में हमें यह बताया गया है कि जब अनेकता वाला 'द्वैत' लुप्त होता है तब हमारे अनुभव का एक-मात्र विषय अद्वैत रह जाता है। यहाँ इस बात को समझाया गया है। यदि यह बहु-रूप संसार वास्तविक होता तो ऐसी शंका न्याय-संगत होती। यह सब मिथ्या है, जैसे रज्जु में सर्प-दर्शन। इसलिए इसका अस्तित्व नहीं। जिस समय हम इस परम-तत्त्व को समझ लेते हैं उस समय सब मिथ्या पदार्थ अदृष्ट हो जाते हैं।

यह उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त उत्तर है जो इस अनेकता वाले संसार में ही विश्वास बनाये रखते हैं और कहते हैं कि जिस 'अद्वैत' को वे देख नहीं पाते उसकी सत्ता में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस मंत्र की 'रज्जु में सर्प-दर्शन' का उदाहरण दे कर व्याख्या की है। माया से मुग्ध होने पर हमें सर्प, न कि रस्सी, दिखायी देती है किन्तु जिस क्षण हम इस भ्रान्ति-पूर्ण सर्प के परोक्ष पदार्थ (रज्जु) को जान लेते हैं तभी हमें उस अद्वैत-रूपी रस्सी के दर्शन हो जाते हैं। यही बात इस स्थूल संसार के विषय में घटित होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत मंत्र के पूर्वार्द्ध में 'अनुकूल-तर्क' विधि को अपनाया गया है जिसका भारतीय दार्शनिकों द्वारा उपयोग किया जाता है । इस पंक्ति में वस्तुतः यह कहा गया है कि "संसार का अस्तित्व नहीं है और यदि है तो वह भी दूर हो जायेगा । यह लुप्त नहीं होता; इसलिए इसकी सत्ता नहीं है ।"

विविध पदार्थमय संसार की यदि सत्ता है तो वह निश्चय से अदृश्य हो जायेगी; किन्तु यह है ही नहीं क्योंकि द्वैतभाव मिथ्या है । यदि वास्तविक सत्ता है तो वह केवल "अद्वैत-तत्त्व" की है ।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

(इस सम्बन्ध में) यदि किसी ने विविध संकल्प-विकल्प किये हों तो वे दूर हो सकते हैं । यह व्याख्या तो उपदेश देने के लिए की जाती है । इसमें द्वैतभाव के विषय में जो कुछ कहा गया है वह 'परम-सत्य' का ज्ञान होने पर जाता रहेगा ।

पिछले मंत्र पर जो वाद-विवाद हुआ है उसे सुन कर इस सत्संग के कोई एक सज्जन यह आपत्ति उठा सकते हैं—"महाराज ! जैसा आपने कहा है यदि दृष्ट-संसार मिथ्या तथा माया-स्वरूप है तो क्या हम गुरु, शिष्य और इस ग्रन्थ अर्थात् सब को 'मिथ्या' नहीं कह सकते हैं ?"

वेदान्त वाले सदा एक ही उत्तर देंगे । सत्य-सनातन का ज्ञान होने पर आचार्य्य, शिष्य, धर्म-ग्रन्थ आदि के विषय में मिथ्यात्व की भावना अवश्यमेव हो जायेगी । 'आत्मा' में गुरु, शिष्य और शास्त्रों का अस्तित्व नहीं है । इन तीनों की धारणा इस उद्देश्य से की जाती है कि इन उपकरणों की सहायता से 'परम-पद' की प्राप्ति करके उसे अनुभव किया जाय । जिस समय साधक को इस तत्त्व का पूर्ण अनुभव हो जाता है उसी क्षण सभी विविधता की इतिश्री हो जाती है । आत्म-तत्त्व (कर्त्ता) में किसी वस्तु (कर्म) के लिए कोई स्थान नहीं है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ एक 'तर्क' उठता है। इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में तर्क से सम्बन्धित एक उदाहरण मिलता है। दर्शन-शास्त्र में पाये जाने वाले अनेक सिद्धान्तों में इस 'तर्क' का प्रायः प्रयोग किया जाता है। युक्ति इस प्रकार दी जाती है—"यदि यह विश्व मिथ्या होता तो यह सहसा लुप्त हो जाता; किन्तु यह बात घटित नहीं होती। इस कारण इसे मिथ्या कहना अनुचित है।" इस युक्ति से यह सिद्ध किया जाता है कि 'विश्व' सत्तामय है। इस विचार से अद्वैतवादी सहमत नहीं हैं। वास्तव में श्री गौड़पाद की कारिका द्वारा रचित वेदान्त-दुर्ग की दुर्भेद्य प्राचीरों (दीवारों) में छेद करने (दोष ढूँढने) के उद्देश्य से कुछ आलोचक यह युक्ति प्रस्तुत किया करते हैं।

इस मंत्र के यथार्थ रहस्य को ये आलोचक समझ नहीं पाते। यहाँ इस का यह अर्थ किया जायेगा कि "यदि किसी ने पदार्थमय संसार की धारणा की हो तो वह जाती रहेगी। वस्तुतः इसकी केवल प्रतीति होती है; इसकी वास्तविकता नहीं है। जब हम 'ध्यान' द्वारा परम-तत्त्व को अनुभव कर लेंगे तो 'द्वैत' की प्रतीति भी न रह पायेगी।" इस मंत्र के अन्तिम भाग में यह बात पूर्णरूप से सिद्ध होती है कि इस 'सत्य' का अनुभव कर लेने पर पदार्थमय संसार सर्वथा लुप्त हो जाता है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

मात्रा के विचार से यह आत्मा ही ॐ है। मात्राओं के अनुसार इसके पाद किये जाते हैं। इसके पाद मात्राएँ हैं और मात्राएँ पाद। यहाँ अक्षर 'अ', 'उ' और 'म्' हैं।

इस मंत्र में सनातन-ध्वनि 'ॐ' की फिर व्याख्या की गयी है। आत्मा की व्याख्या करते हुए पिछले मंत्रों में ॐ का पूरा वर्णन किया गया था। यहाँ ॐ की तीन मात्राओं (अ, उ और म्) का अर्थ स्पष्ट रूप से समझाया जा रहा है।

इससे पहले हमने ॐ की तीन मात्राओं (अ, उ और म्) में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं का आरोप किया था। इस प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब तक हमें ॐ के रहस्य पर ही विचार करने का अवसर मिला है । अब ॐ की तीन मात्राओं पर विचार करते हुए हम इस का अर्थ जानने का प्रयत्न करेंगे ।

यहाँ उपनिषद द्वारा हमें बताया जा रहा है कि ये तीन मात्राएँ ही तीन पद हैं ।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति स एव वेद ॥९॥

(ॐ की) 'अ' मात्रा जाग्रतावस्था के वैश्वानर को प्रकट करती है क्योंकि यह सर्व-व्यापक ॐ का प्रथमाक्षर है । दोनों में यह विशेषता समान रूप से पायी जाती है। जो व्यक्ति इसे जान लेता है उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और वह सर्व-शिरोमणि हो जाता है ।

हम पहले बता चुके हैं कि जब आत्मा स्थूल शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ कर पदार्थमय बाह्य-संसार को देखता है तो इसे जाग्रतावस्था (वैश्वानर) के अनुभव होने लगते हैं । ध्यानावस्था में जाग्रतावस्था के जीवात्मा का ॐ की 'अ' मात्रा में आरोप किया जाता है ।

किसी वस्तु में विशेष अर्थ अथवा भाव का आरोप करना एक गुह्य साधन है जिसे हम 'मूर्ति-पूजा' कहते हैं । एक गोलाकार पत्थर के खण्ड में हम कैलाशपति भगवान् शिव की धारणा करते हैं । ऐसे ही क्रॉस में, जो असह्य यातना का सूचक है, ईसाई ईसामसीह के दिव्य रूप की धारणा करते हैं । ज्योंही वे किसी बड़े अथवा छोटे क्रॉस को देखते हैं त्योंही उनमें दिव्य भावना का संचार हो जाता है और उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो 'ईसा' स्वयं उन्हें आशीर्वाद दे रहे हों ।

वेदान्त के विद्यार्थी के लिए भी, चाहे उसे अमूर्त्त-तत्त्व (आत्मा) का ध्यान धरने के लिए विशेष साधन को अपनाना होता है, पहले-पहल किसी ऐसे पदार्थ अथवा 'लक्ष्य' की आवश्यकता होती है जिसे अपने सामने रखते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुए वह ध्यानावस्थित होने का अभ्यास कर सके। इस सम्बन्ध में यहाँ शास्त्रों ने एक पवित्र मूर्त्ति की व्यवस्था की है जिसकी व्याख्या करते हुए 'ॐ' पर ध्यान करने की विधि बताई गई है। स्वरूप के स्थान में ध्वनि होने के कारण ॐ पर ध्यान जमाना एक कठिनतर क्रिया है।

यहाँ ॐ के पाद समझाने के बदले इसकी उच्चारण करने वाली मात्राओं की व्याख्या की गयी है और इनमें ही मनुष्य के व्यक्तित्व के विविध अंगों का आरोप किया गया है। वेदान्त के विद्यार्थी के लिए ध्यान की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मनोवैज्ञानिक एवं स्थूल भाव रखने वाले पदार्थों में ॐ की मात्राओं का आरोप करने का अभ्यास करना आवश्यक है। प्रस्तुत मंत्र तथा अगले दो मंत्रों में इस विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

दो वस्तुओं की तुलना करते समय हमें यह देखना है कि उनमें किस किस बात में समानता पायी जाती है। यदि इन दोनों में कोई समान विशेषता न हो तो इनमें तुलना करने का प्रयास विफल होगा। हम दूध को मधु के समान नहीं कहते किन्तु चन्द्रमा की छटा को इससे (दूध से) उपमा देते हैं।

इस प्रकार यदि 'श्रुति' जाग्रतावस्था के वैश्वानर की ॐ की 'अ' मात्रा से तुलना करना चाहे तो इसे उन विशेषताओं का उल्लेख करना होगा जो इन दोनों में समान रूप से हों। इस मंत्र में इन विशेष गुणों की व्याख्या की गयी है। ऋषि ने कहा है कि वैश्वानर तथा मात्रा 'अ' में सर्वव्यापकता पायी जाती है और ये दोनों पहले आते हैं।

सब ध्वनियों का मूल 'अ' है। मनुष्य तनिक मुख खोल कर बाहिर की ओर वायु निकालने से 'अ' का उच्चारण कर सकता है। संसार की प्रायः सब भाषाओं की वर्णमालाओं का पहला अक्षर 'अ' है। नव-जात शिशु के प्रथम रुदन का श्री गणेश 'अ' ध्वनि से ही होता है। इस तरह सबसे पहला उच्चारण किया जाने वाला अक्षर 'अ' है और हमारी अनुभव-शृंखला की पहली कड़ी जाग्रतावस्था है क्योंकि स्वप्नावस्था में हम उन्हीं वासनाओं को प्रकट करते हैं जिन्हें हम जाग्रतावस्था में प्राप्त कर चुके होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'अ' की व्यापकता भी स्वयं-सिद्ध है क्योंकि सब ध्वनियों में 'अ' विद्यमान रहता है। वैश्वानर भी समस्त विश्व में व्याप्त रहता है। इस बात की तुष्टि 'श्रुति' की घोषनाओं से होती है क्योंकि कहा गया है कि "वैश्वानर आत्मा का शिर एवं दिव्य स्वर्ग है" इत्यादि। प्रस्तुत उपनिषद् में इस समानता के महत्त्व को दिखाया गया है। शास्त्र कहते हैं कि 'अ' मात्रा से निज जाग्रतावस्था को जिस व्यक्ति ने मिला दिया है उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और वह संसार का शिरोमणि बन जाता है अर्थात् अपने युग में उस की कीर्त्ति-पताका फहराती है। उपनिषदों में इस ढंग को उन स्थानों पर अपनाया गया है जहाँ वे किसी आध्यात्मिक साधन का वर्णन करते हैं ताकि विद्यार्थी को इन आध्यात्मिक साधनों के सक्रिय प्रयोग में प्रोत्साहन मिले क्योंकि इस प्रयास का विशेष माहात्म्य बताया जाता है।

यदि हम इस बात को पक्षपात की भावना से जानने का प्रयत्न करें तो सहसा हम यह समझ बैठेंगे कि साधक को आध्यात्मिक जीवन को उत्साह-पूर्वक व्यतीत करने की प्रेरणा देने के लिए प्राचीन ऋषियों ने इस अपरिष्कृत उपाय का उपयोग किया है; किन्तु वर्त्तमान संसार तथा इसके मनोविज्ञान के विषय में हमें जो कुछ ज्ञान है उसके आधार पर हम निश्चय से कह सकते हैं कि कार्य्य-विरत संसार में इसी प्रथा द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित किया जाता है। मन में नियमित रूप से ॐ का जप करते रहने के साथ यदि मनुष्य निज जाग्रतावस्था को भी ध्यान में रखता है तो उसके मन तथा बुद्धि दोनों विकसित होते हैं और इस आत्म-विकास के परिणाम-स्वरूप उसका जाग्रतावस्था का व्यक्तित्व निश्चय रूप से सन्तुलित तथा मनोहारी क्रियाशीलता में परिणत हो जाता है।

इस बात को समझाने के लिए किसी दर्शनाचार्य्य की आवश्यकता नहीं कि ऐसे व्यक्तित्व वाला मनुष्य लोलुपता एवं स्पर्द्धा पूर्ण वर्त्तमान संसार में सर्वांगीन सफलता प्राप्त करता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। सामान्य योग्यता वाला कोई प्राणी इस साधन का निष्कपट भाव से सतत उपयोग करके एक उच्चकोटि का बुद्धिमान् व्यक्ति बन सकता है। क्रोधी, अयोग्य और असहाय रहते हुए हममें नकारात्मक प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि हम एक बार किसी व्यक्ति को अपने दुर्गुण एवं दुर्बलताओं तथा मानसिक व्यस्तताओं को लाँघ लेने की शिक्षा दे दें तो उसकी सभी मानसिक त्रुटियाँ तथा दुर्बलताएँ दूर हो जायेंगी और वह महान् शक्तिशाली, कुशल, विद्वान् और निर्भीक पुरुष सिद्ध होगा। इसलिए स्वभावतः वह जीवन के सभी अंगों में ख्याति प्राप्त कर लेगा।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारा द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्चभवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

'तैजस' कहा जाने वाला स्वप्नावस्था का अनुभवी जीवात्मा ॐ का दूसरा अक्षर 'उ' है क्योंकि यह श्रेयस है अथवा (ॐ की) दो मात्राओं के मध्य आता है। इसे जानने वाला व्यक्ति उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उससे सब समान व्यवहार करते हैं और उसके कुल में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं पाया जाता जो ब्रह्म को नहीं जानता।

मूर्ति-पूजा के साधन को समझाते हुए हमें विस्तार से यह समझाया जा रहा है कि ॐ की दूसरी मात्रा 'उ' में हम किसका आरोप करें। हमारे सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित करने वाला अहंकार, जिसे स्वप्न-द्रष्टा कहते हैं, स्वप्न को अनुभव करते समय हमारे भीतरी जगत के सूक्ष्म पदार्थों में विचरता रहता है। उस का ॐ की दूसरी मात्रा 'उ' में आरोप किया जाता है।

स्वप्न-द्रष्टा तथा मात्रा 'उ' में जो समानता पायी जाती है उसे ऋषि ने इस उद्देश्य से समझाया है कि शिष्य सुगमता से ॐ में ध्यान लगा सके।

कहा गया है कि इन दोनों में एक समानता यह है कि ये श्रेयस हैं। 'उ' अक्षर 'अ' के बाद आने के कारण वरीयस है। इस प्रकार स्वप्नावस्था तैजस को भी जाग्रतावस्था (वैश्वानर) से श्रेयस कहा गया है क्योंकि दूसरी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवस्था पहली अवस्था के बाद ही अनुभव में आती है। पदार्थमय संसार से प्राप्त अनुभवों द्वारा 'विश्व' अपने मानसिक क्षेत्र की वासनाओं का बाह्य-संसार में निक्षेप करता है। इन्हीं वासनाओं से भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है जो स्वप्न-द्रष्टा के लिए मिथ्या-जगत के स्वप्नों की रचना करती है।

इन दोनों में एक और समानता पायी जाती है और वह इन दोनों ('उ' तथा 'स्वप्नावस्था') का मध्यवर्ती होना है। एक 'अ' और 'म्' के बीच में है और दूसरी 'जाग्रत' तथा 'सुषुप्ति' के मध्य विद्यमान रहती है।

जो व्यक्ति ॐ का उच्चारण करते समय उसकी मात्रा 'उ' तथा सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित करते हैं उनके मन एवं बुद्धि असाधारण रूप से विकसित होते हैं जिससे उनकी संसार के असामान्य प्रखर-बुद्धि व्यक्तियों में गणना होती है। इस संसार में भी जहाँ लाभ तथा पारस्परिक प्रतियोगिता ही मनुष्यों के मुख्य व्यवसाय हैं, इस कोटि के विशेष बुद्धि-चातुर्य्य वाले मनुष्यों का बड़ा सम्मान होता है। 'डालर' की ईश्वरवत् पूजा करने वाले देश में भी मस्तिष्क-निधि (Brain Trust) को सब अपना शिर झुकाते हैं।

वैदिक युग में सर्व-साधारण लोगों में पर्याप्त आध्यात्मिक पूर्णता थी; इसलिए उस काल की आर्य्य-संस्कृति बहुधा आध्यात्मिक-जीवन की दृढ़ नींव पर खड़ी थी। इसी कारण तब एक गृहस्थी को यह उपदेश विशेष प्रोत्साहन देता था कि ॐ का उच्चारण करने से उसके वंश में पवित्रता तथा आध्यात्मिक संस्कृति का संचार होगा।

आजकल भी हम यह देखते हैं कि एक इंजिनीयर पिता कम से कम एक पुत्र को इंजीनियर बनाना चाहेगा। हमें यह बात भी विदित है कि यदि कोई पिता किसी विशेष व्यवसाय (जैसे वकालत अथवा डाक्टरी) में सफल होता है तो उसकी सन्तान को भी इस व्यवसाय में रुचि होती है। मनुष्य की इस मनोवैज्ञानिक वंश-परम्परा (haredity) को ध्यान में रखते हुए उपनिषद् कहता है कि जिस वंश में इस उच्च कोटि के प्रकाण्ड पण्डित का जन्म होता है उसमें कोई व्यक्ति संस्कृति-प्रेम तथा धर्म-रुचि में कोरा नहीं पाया जायेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वामिनोती ह वा इद ँ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

'प्राज्ञ', जिसका क्रिया-क्षेत्र सुषुप्तावस्था तक सीमित रहता है, ॐ की तीसरी मात्रा 'म्' है क्योंकि ये दोनों 'मापक' हैं और इनमें सब एक-रूप हो जाते हैं। जो कोई 'प्राज्ञ' के इस स्वरूप तथा 'म्' को अनुभव कर लेता है वह संसार के प्राणियों एवं पदार्थों को समझ लेता है और सबको वह अपने आप में देखने लगता है।

जिन पाठकों ने पिछले दो मन्त्रों को ध्यानपूर्वक समझा है वे सुगमता से सुषुप्तावस्था तथा 'म्' मात्रा में समानता पायेंगे। यहाँ भी उपनिषद् द्वारा इन दोनों में दो विशेष समान-गुण बताये गये हैं।

संस्कृत के 'मिति' शब्द का अर्थ 'मापक' है; जैसे एक औंस का माप-गिलास, जिसे द्रव-पदार्थ को मापने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। इसकी साधारण विधि यह है कि जिस गिलास में बिना नापा हुआ जल पड़ा है उसमें से इस औंस-गिलास में जल डाल कर इसे पहले नापे हुए जल के गिलास में उँडेल दिया जाय। इस क्रिया के द्वारा द्रव-पदार्थ पहले-पहल इस गिलास को भर देता है और बाद में यह रिक्त (खाली) हो जाता है। इस क्रम से यह भरता तथा खाली होता रहता है।

ऐसे ही ॐ में 'म्' की मात्रा और सुषुप्तावस्था दोनों की तुलना की जा सकती है। ये दोनों ऊपर बताये गये औंस-गिलास की भाँति हैं। यह इस प्रकार है—ॐ का उच्चारण करते समय इसकी पहली दो मात्राएँ ('अ' तथा 'उ') तीसरी मात्रा ('म्') में समा जाती हैं। जब हम फिर ॐ का उच्चारण करते हैं तो इसकी तीसरी मात्रा 'म्' से 'अ' तथा 'उ' की उत्पत्ति होती प्रतीत होती है। पहली तीन अवस्थाओं पर विचार करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सुषुप्तावस्था में भी पहली दोनों ('जाग्रत' तथा 'स्वप्न')

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवस्थाएँ समा जाती हैं। जब हम गहरी निद्रा से जाग उठते हैं तो इसमें से 'जाग्रत' एवं 'स्वप्न' का प्रादुर्भाव होता दिखायी देता है। इसी समानता को दिखाने के लिए इन दोनों की 'ओंस' गिलास से तुलना की गयी थी।

यह बात स्पष्ट है कि ॐ की अन्तिम मात्रा 'म्' तथा सुषुप्तावस्था से पहले-पहल अनेकता और विषमता का अनुभव होता है और बाद में इन दोनों में व्याप्त होकर एक ही स्वरूप को धारण कर लेते हैं।

जो मनुष्य इस समानता को जान लेता है वह सभी रहस्यों को जान कर 'विवेक' से युक्त हो जाता है। इस तरह वह अपने भीतर और बाहिर सब पदार्थों एवं तत्त्वों को जान कर उनका मूल्य आंक लेता है। साथ ही अपने भीतर के अनुभव प्राप्त करके वह सब विषम समस्याओं को हल कर लेने की योग्यता रखता है। उसके लिए कोई वस्तु जाने बिना नहीं रहती और न ही वह किसी स्थिति को दुर्गम पाता है।

कारिका

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम्।
मात्रा संप्रतिपत्तौस्यादाप्ति सामान्यमेव च ॥१६॥

जब 'विश्व' तथा 'अ' मात्रा में समानता बतायी जाय तो इन दोनों के 'पहले' आने और सर्व-व्यापकत्व के भाव को ध्यान में रखना चाहिए।

अब श्री गौड़पाद हमें उपनिषदों के उस भाग का भावार्थ समझाते हैं जिसमें ऋषि द्वारा ॐ का ध्यान करने की क्रिया-विधि निर्धारित की गयी है।

उपनिषद् के इन मंत्रों की संक्षिप्त व्याख्या करने का प्रयास करते हुए श्री गौड़पाद ने इसमें कुछ परिवर्त्तन कर दिया है—ऐसा हमें प्रतीत होता है। उपनिषद् के नवें मन्त्र में 'अ' तथा जाग्रतावस्था में समानता दिखाते हुए ऋषि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने कहा है कि ये दोनों पहले आते अथवा व्यापकत्व रखते हैं; किन्तु इस मन्त्र में यह बताया गया है कि 'विश्व' तथा मात्रा 'अ' इस कारण समान हैं कि ये दोनों 'पहले आते तथा सर्व-व्यापक' हैं ।

उपनिषद् तथा श्री गौड़पाद की व्याख्या में इस भेद के कारण कई आलोचकों की यह धारणा होगयी है कि पहले 'कारिका' लिखी गयी और बाद में उपनिषद् के गद्य-मंत्र । यह बात ठीक नहीं और कम से कम इस प्रकार का जघन्य परिणाम निकाल लेना तो हमारे पवित्र देश की परम्परागत आस्था के सर्वथा विरुद्ध है । यहाँ उपनिषदों द्वारा **अथवा** का प्रयोग **तथा** के समान ही बल रखता है ।

टीकाकार का यह काम है कि वह पाठकों के सामने उपनिषदों की उक्तियों, इनके रहस्य तथा श्रेष्ठ सुझावों का अर्थ पूरी तरह रखे । साधारणतः उपनिषदों का ध्यानपूर्वक पाठ करने वाला विद्यार्थी उपनिषद् में **अथवा** के प्रयोग से यह समझ लेगा कि यहाँ यह शब्द 'विकल्प' (alternative) के भाव को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया है न कि समुच्चय-बोधक (Conjunction) के रूप में ।

इस प्रकार एक यथार्थ टीकाकार होने के नाते श्री गौड़पाद ने प्रस्तुत मंत्र में इस रहस्य को समझाने के लिए एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जो प्रत्यक्षतः उपनिषद् के शब्द से भिन्न दिखायी देता है । इसलिए यह कहना, कि उपनिषद् से पहले कारिका लिखी गयी, एक असंगत बात की पुष्टि करना है। फिर भी कुछ आलोचकों ने घोड़े के आगे गाड़ी रख कर उल्टी गंगा बहाने का विफल प्रयास किया है ।

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षोदृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥

यह बात व्यक्त है कि 'तैजस' तथा ॐ की 'उ' मात्रा में समानता है । ये दोनों उच्च कोटि के हैं और साथ ही इनकी स्थिति मध्यवर्ती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रा संप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥

'प्राज्ञ' और 'म्' दोनों स्पष्ट रूप से समान हैं क्योंकि ये दोनों 'मापक' हैं और साथ ही 'प्राज्ञ' तथा 'म्' में सभी कुछ समा जाता है ।

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
सः पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥२२॥

जो मनुष्य इन तीन मात्राओं और तीन अवस्थाओं के समान गुणों को निश्चयपूर्वक जान लेता है वह सब प्राणियों द्वारा पूज्य एवं वन्दनीय होता है और वास्तव में वह सब से महान् ऋषि होता है ।

ऊपर लिखे चार मन्त्रों की व्याख्या जानबूझ कर नहीं की गयी है क्योंकि उपनिषदों के सानुरूप गद्य-मन्त्रों में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है ।

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्रज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥२३॥

(साधक) मात्रा 'अ' द्वारा सहायक जाग्रतावस्था के सन्तुलित व्यक्तित्व (विश्व) को प्राप्त करता है; 'उ' मात्रा उसके मन एवं बुद्धि का विकास करके उसे 'तैजस' की पदवी देती है और 'म्' की मात्रा का ध्यान करने से वह 'प्राज्ञ' बन जाता है। 'अमात्रा' में उसे कुछ प्राप्ति नहीं होती ।

इस मन्त्र में ॐ की तीन मात्राओं (अ, उ और म्) की व्याख्या करने वाले उपनिषद-मन्त्रों द्वारा जो लाभ होते हैं उनकी आवृत्ति की गयी है। इसे पहले ही वर्णन किया जा चुका है । ॐ के 'अमात्र-भाग' का ध्यान करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से साधक को इस नाशमान संसार के किसी विशेष पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती और न ही कोई लाभ होता है; किन्तु इससे वह परमोच्च अविनाशी तत्त्व का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है । इसे नीचे दिये मन्त्र में वर्णन किया गया है ।

अमात्रश्चतुर्थोव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽत्मानं य एवं वेद ॥१२॥

जो अखंड, अनुच्चारणीय, अचिन्त्य, इन्द्रियों से परे, सभी प्रपञ्चों को शान्त करने वाला, कल्याणकारी और अद्वैत ॐ है वह 'चतुर्थ' है । यह वस्तुतः 'आत्मा के अनुरूप है । जो इसे अनुभव करता है वह परमात्म-तत्त्व में इस प्रकार समा जाता है जैसे समष्टि में व्यष्टि ।

अभी तक तो उपनिषद् में ॐ की तीन मात्राओं की व्याख्या की गयी है और हमें यह सविस्तार बताया गया है कि उच्चारण तथा ध्यान करते समय इनमें किस प्रकार आरोप किया जाना चाहिए; किन्तु ॐ की तीन मात्राओं का उच्चारण प्रारम्भ करने तक कुछ शान्ति के ऐसे क्षण आते हैं जिनकी ओर उन व्यक्तियों का सहसा ध्यान नहीं होता जो इस पवित्र मन्त्र का उच्चारण बिना सोचे समझे करते हैं । बार बार ॐ का उच्चारण करते हुए दो उच्चारणों के बीच निस्तब्धता का होना अनिवार्य है, चाहे हमें इसका ज्ञान भले ही न हो । यहाँ ऋषि अपने शिष्यों को इस 'अमात्रा' का रहस्य समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं और वह यह बात स्पष्ट करना चाहते हैं कि 'अनादि-तत्त्व' की इस निस्तब्धता का ध्यान करने से साधक को परम-सुख की प्राप्ति किस प्रकार होती है ।

इससे पहले हम बता चुके हैं कि हमारी चेतना स्थूल शरीर से सम्बन्ध जोड़ कर पदार्थमय संसार का अनुभव करती है; इस अवस्था में इसे 'जाग्रत' कहा जाता है । जब यह स्थूल शरीर तथा बाह्य संसार से ध्यान हटा कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित करती है तो इस चेतना को भीतरी पदार्थों का अनुभव करने के कारण 'स्वप्न-द्रष्टा' कहते हैं। जिस समय यह उपरोक्त वास्तविकता के प्रति भ्रम पैदा करने वाली अवस्थाओं से भी सिमिट कर इनके उत्पत्ति-क्षेत्र में प्रवेश करती है तो इसे 'सुषुप्त' कहा जाता है। अविद्या से ओत-प्रोत इस अवस्था में हमें तीसरी स्थिति का अनुभव होता है जिसमें हम प्रतिदिन विहरण करते रहते हैं।

अब हमें यह बताया जाता है कि 'विश्व', 'तैजस' और 'प्राज्ञ' वस्तुतः परम-तत्त्व में आरोप मात्र हैं। इस चतुर्थ अवस्था को 'तुरीय' कहा जाता है जो अनादि, अजर, सर्वविद् और सब प्रकार से 'सुखमय' है।

ध्यान की क्रिया-विधि, जो अब तक समझायी जा चुकी है, का उद्देश्य ॐ के तीन अक्षरों में, 'विश्व', 'तैजस' तथा 'प्राज्ञ' के हमारे व्यक्तित्व का आरोप करना है। अब ऋषि द्वारा ॐ के अमात्र भाग के इच्छित ध्येय के सम्बन्ध में, जो आत्मा का अनुरूप है, हमें संकेत दिया जा रहा है।

यह ॐ का अविच्छिन्न भाग है और इसे ॐ के दो उच्चारणों की मध्यवर्ती निस्तब्धता में अनुभव किया जाता है। इसे हम ठीक तरह से समझ नहीं पाते क्योंकि उस समय हमारी कोई इन्द्रिय क्रियमाण नहीं होती और हम पर इसकी किसी प्रकार की छाप नहीं पड़ती। 'अव्यवहार्य' शब्द से हमें यह पता चलता है कि अमात्र ॐ मन द्वारा ग्राह्य नहीं। यदि यह निस्तब्धता हमारे इन्द्रिय-मन से परे है तो इसका यह अभिप्राय है कि उस अवस्था में इनकी क्रिया समाप्त हो जाती है। स्वभावतः यह अवस्था पूर्ण सुखमयी है क्योंकि संसार के विविध विक्षेप उस अस्थायी अनेकता के कारण होते हैं। यह हमारी इस मिथ्या भावना से अनुभव में आती है कि इनके उपभोग से हमें नित्य तथा शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा; किन्तु हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो पाती जिसके फल-स्वरूप हम भयभीत, आतंकित तथा असन्तुष्ट रहते हैं।

महानाचार्य्य ने हमें यह परामर्श दिया है कि अमात्र ॐ को 'तुरीय' के अनुभव के सदृश समझा जाय। शिष्यों से यह कहा गया है कि इस विधि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को अपनाते हुए वे 'तुरीयावस्था' का, जिसे ९वें मंत्र में विस्तार से नकारात्मक भाषा में समझाया जा चुका है, इस अमात्र ॐ में आरोप करें।

जिस प्रकार ॐ की तीन मात्राओं पर ध्यान जमाने से होने वाले लाभ का पिछले मंत्रों में उल्लेख किया गया है उसी प्रकार यहाँ आचार्य्य ने शिष्य से कहा है कि ॐ की निस्तब्धता-पूर्ण अवस्था का नियम-पूर्वक ध्यान करते रहने से साधक का पृथकत्व भाव इस दिव्य, सनातन तथा अनादि सर्वात्मा तत्त्व में समा जाता है। यहाँ 'जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' का कोई भौतिक लाभ प्राप्त नहीं होता। यह बात स्वतःसिद्ध है क्योंकि हमारे ध्यान का विषय दृष्ट-जगत् से परे (प्रपञ्चोपशमः) है। इसलिए जब हम इस पर ध्यान जमाते हैं तब हमें किसी सांसारिक लाभ की प्राप्ति नहीं हो सकती; किन्तु यह 'ध्यान' अकारथ नहीं जा सकता। यह नियम अटल है कि साधक जिसका ध्यान करता है वह उसी का स्वरूप हो जाता है। अमात्र ॐ का ध्यान करने का उसका यह उद्देश्य है कि इस विधि को अपना कर वह अपने विविध आरोपों तथा मिथ्याभिमान का अन्त कर देता है क्योंकि सनातन-तत्त्व ही अलौकिक, सर्वव्यापक और परिपूर्ण है।

दूसरे उपनिषदों में भी इस विचार की कई बार पुनरावृत्ति की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् ऋषियों ने अपने अनथक प्रयास से शिष्य को ध्यान की ऐसी अवस्था तक पहुँचा दिया जहाँ उसने कम से कम एक निमेष के लिए भूत-भविष्यत् को भुला कर वास्तविकता की झलक ले ली। ऋषि यह चाहते थे कि अपने जीवन में वह शिष्य एक क्षण के लिए 'काल' की सभी अवस्थाओं को लाँघ ले। इसी काल-विन्दु में अविनाशी-तत्त्व अधिष्ठित है।

अनादि एवं अनन्त तत्त्व किसी विशेष काल अथवा युग में नहीं प्राप्त होता। इसे हम इस क्षण अनुभव कर सकते हैं। हमारे जीवन का प्रतिक्षण दैवी तथा पवित्र है, जिसमें इस अनादि का निवास रहता है; किन्तु हम इसे अनुभव नहीं कर पाते। हम तो गड़े मुर्दों को उखाड़ने अथवा भविष्य के गर्भ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में विहरण करने में निरन्तर व्यस्त रहते हैं और इस तरह भटकते हुए हम अपनी आशाओं, योजनाओं तथा उत्कण्ठाओं की तुष्टि के लिए लालायित रहते हैं।

जब हम दो बार ॐ का उच्चारण करते हुए मध्यवर्ती निस्तब्धता में व्याप्त होने का प्रयत्न करते हैं तो हमारा मन एवं बुद्धि दोनों स्थिर तथा कुशाग्र हो जाते हैं। इस तरह ध्यानावस्था में हम शनैः शनैः कालातीत होते हैं ताकि उच्चस्तर को प्राप्त करते हुए हम 'अनादि देव' में ही समा जाएँ। यही हमारा संकल्प तथा ध्येय है जिसे, यदि हम आज न भी प्राप्त कर सके, कभी न कभी अवश्य करेंगे और यह उस समय होगा जब मृत्यु, नश्वरता, शोक और निराशा के हमारे बन्धन कट जाएँ। इतना होने पर हम अपने परिपूर्ण, सर्वज्ञ तथा सर्व-व्यापक स्वरूप से साक्षात्कार कर सकते हैं। यह ऐसी स्थिति है जहाँ शोक, क्लेश आदि का प्रवेश असंभव है।

यहाँ माण्डूक्योपनिषद् समाप्त होता है। शेष भाग में श्री गौड़पाद की कारिका दी गयी है जिसमें उपनिषदों की प्रभावशाली किन्तु संक्षिप्त उक्तियों के गूढ़ तत्त्व और अन्तर्निहित सिद्धान्तों का रहस्योदघाटन किया गया है। इस वेदान्ताचार्य्य ने प्रस्तुत उपनिषद् का सार निज असामान्य बुद्धि-कुशलता से दिया है अर्थात् 'माण्डूक्य' के १२ मंत्रों की व्याख्या १२ लघु खण्डों में की है। ज्यों ज्यों हम इनका विस्तृत वर्णन करेंगे त्यों त्यों हमें पता चलेगा कि श्री गौड़पाद ने किस प्रकार पाठक की अमूल्य सहायता की है। 'माण्डूक्य' के गूढ़ रहस्यों का हमें कितना अधूरा ज्ञान होता यदि इस प्रकण्ड विद्वान् ने 'कारिका' द्वारा इनको भली-भाँति समझाया न होता। इस विषम मार्ग पर 'कारिका' ही हमारा यथार्थ पथ-प्रदर्शन करती है।

ओंकारं पादशो विद्यात् पादामात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥

'ॐ' को इसके हर पाद द्वारा जाना जाए। निस्सन्देह ये पाद इस की मात्राओं के अनुरूप हैं। इस तरह ॐ के पूर्ण रहस्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को जान लेने के बाद किसी और वस्तु की चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

'शास्त्र' वह ग्रन्थ है जो सिद्धान्तों की व्याख्या करने के साथ साथ वास्तविक तत्त्व को वर्णन करता है । 'प्रकरण' वह ग्रन्थ है जो न केवल दर्शन के गूढ़ रहस्यों को समझाए बल्कि अपने मार्ग पर चलने के लिए साधकों का स्पष्ट रूप से पथ-प्रदर्शन करे ताकि वे (साधक) अपनी रक्षा अपने आप कर सकें । प्रस्तुत 'कारिका', जो एक प्रकरण ग्रन्थ है, के इस अध्याय के अन्तिम मंत्रों में श्री गौड़पाद हमें विस्तार-पूर्वक यह बता रहे हैं कि किस प्रकार हमें ॐ में ध्यान लगाना चाहिए ।

मंत्रों की व्याख्या, जो अभी तक की जा चुकी है, से तथा मंत्रों से हमें इस तथ्य का पता चल गया होगा कि साधक के व्यक्तित्व की कौन-कौन अवस्था है और ॐ की कौन-कौन ध्वनियाँ हैं । हमें 'अमात्र' ॐ का भी ज्ञान है जो हर व्यक्ति की आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है । अब श्री गौड़-पाद ध्यानावस्था में बैठे हुए साधक का पथ-प्रदर्शन करते हैं ।

ऋषि का यहाँ शिष्य को इस बात का संकेत देने का प्रयोजन है कि ध्यानावस्थित शिष्य को निरन्तर मन में ॐ का उच्चारण करते रहना चाहिए और साथ ही ॐ की ध्वनि के आरोह, सम तथा अवरोह को अनुभव करना चाहिए । ॐ का उच्चारण करते समय उसे इस के 'अ', 'उ' और 'म्' भाग पर क्रमशः अपनी 'जाग्रत', 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्त' अवस्थाओं का आरोप करना चाहिए । इसके बाद यह आवश्यक है कि वह 'अ', 'उ' और 'म्' का एक दूसरे में इस प्रकार समावेश करे (अ' को 'उ' और 'उ' को 'म्' में) जैसे 'जाग्रतावस्था' 'स्वप्नावस्था' में और 'स्वप्नावस्था' 'सुषुप्तावस्था' में सिमिट जाती हैं । दो 'ॐ' की मध्यवर्ती निस्तब्धता के साथ उसे सम्पर्क स्थापित करना चाहिए । यह काम इतना सुगम नहीं है । यह तो सूक्ष्मतम पथ है जिस पर चलना एक आसान बात नहीं है । इस बात को अपनाने के लिए हमें असाधारण तैयारी करनी होगी । इसका हमारे मन तथा बुद्धि से सम्बन्ध है । इस बात को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आने वाले मंत्रों में समझाया जायेगा । अभी तो हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस भीतरी निस्तब्धता को अनुभव करते समय शिष्य अपने मन में दूसरी विचार-धारा न आने दे । उसे तो इस निस्तब्धता के अबाध प्रवाह में डुबकी लगा कर वहाँ अधिक से अधिक समय तक स्थिर रहने का प्रयत्न करना चाहिए । वह अपने मन में किसी प्रकार के ऐसे विचार न आने दे जो उसके प्राचीन संस्कारों के विषमय कीचड़ से उत्पन्न होते हैं । इस उप-चेतन शक्ति को दबा दीजिए । अपने क्रियमाण मन को निश्चल एवं स्थिर रखिए और किसी अन्य विचार को पास न आने दीजिए ।

युञ्जीत प्रणवेचेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयं ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

मन को ॐ की ध्वनि में निमग्न करें और इस (मन) को ॐ की ध्वनि में लिप्त करें । ॐ ही निर्भय 'ब्रह्म' है । जो (साधक) सदा ॐ से तादात्म्य करता है उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता ।

प्रारम्भिक व्याख्यानों में यह बताया जा चुका है कि आध्यात्मिक साधन में प्रयत्नशील होना विचारों की उत्पत्ति को कम करना और मन के विचार-प्रवाह को नियमित तथा नियंत्रित करना है । इस तरह जब मन अनन्य भाव से ॐ का निरन्तर जप तथा अनुभव करता रहेगा और साथ ही विजातीय विचार-धारा का प्रवाह रुक जायेगा तब यह (मन) एकाग्रता प्राप्त कर के ॐ की तरंगों में लीन हो जायेगा ।

जिस वेग से कोई कामना हमारे मन में उठती है उसी अनुपात से हम उसका अनुभव करते हैं । कल्पना कीजिए कि एक विशेष विचार हमें एक सैकण्ड में बीस हज़ार बार आता है और दूसरा उतने ही समय में दस हज़ार बार । उस अवस्था में पहले विचार की अनुभूति दूसरे विचार की अपेक्षा द्विगुण मात्रा में होगी । इस तरह हमें पता चलता है कि संसार भर के सभी अनुभवों में, जिनका हमें ज्ञान है, पूर्णता तभी आ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकेगी जब हमें आत्म-ज्ञान होगा। हमें सब से अधिक ज्ञान अपने अभिमानी 'व्यक्तित्व' का है क्योंकि 'मैं' तथा 'मेरे' की भावना हमारे मनमें अन्य सभी भावनाओं से अधिक दृढ़ता से बनी रहती है।

ऐसे ही यदि हम अपने मन में ॐ के उच्चारण को उतना ही स्थान दें जो अब हमने 'मैं' और 'मेरे' को दिया हुआ है तो हम ॐ को ठीक उसी तरह समझ पायेंगे जिस तरह हम इस समय अपने मिथ्याभिमान को समझ रहे हैं। यहाँ कारिका का यह परामर्श, कि हमें ॐ में निमग्न होना चाहिए, इसी भाव को स्पष्ट कर रहा है।

जब हम ॐ में (जो 'ब्रह्म' है—जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं) लीन हो जाते हैं तो ॐ का अनुभव 'ब्रह्म' के अनुभव के समान होता है।

इस तरह इस सत्य-स्वरूप आत्मा का अनुभव करने के बाद, जो सर्व-व्यापक, सनातन और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ मेरा अपना ही स्वरूप है, कोई भय नहीं रह पाता क्योंकि सब नाम-रूप का एकमात्र आधार यह तत्त्व है। भय तभी होता है जब कोई और प्राणी अथवा वस्तु मुझ से भिन्न हो। जब इस अद्वैत आत्मा से कोई अलग व्यक्ति अथवा वस्तु विद्यमान नहीं तो भय से क्या काम? जो अपने आप ही अस्तित्व रखता है भला उसे किसी दूसरे का क्या भय हो सकता है?

भय क्या है? यह हमारे मन की विचार-धारा में अवरोध होने की अवस्था है। मन की सत्ता बने रहने पर ही विचार अवरुद्ध हो सकते हैं। यदि मन ही नहीं तो विचार कैसे होंगे और फिर उनमें अवरोध कैसे आ सकेगा? मेरे हाथ, पाँव, नाक आदि से तो विचार नहीं उठते। इनके लिए तो मन का क्षेत्र ही उर्वरा भूमि है। एक ही विचार के प्रवाहित होने पर मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जिसका मन ॐ में व्याप्त हो जाता है उस व्यक्ति के भीतर कोई विशेष विचार-केन्द्र नहीं रह पाता। अतः जहाँ मन नहीं वहाँ भय जैसी मानसिक विषमता नहीं रह सकती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रसंग में भय के लिए मानसिक आवेग के सीमित अर्थ न लेने चाहिएँ। यहाँ भय से अभिप्राय वे सभी कामना, वासना तथा आशाएँ हैं जिन की उत्पत्ति इस (भय) से ही होती है। धन के लिए तृष्णा ही लीजिए। यह तृष्णा इस भय के कारण होती है कि यदि हमारे पास धन न हो तो हमारी क्या अवस्था होगी। आहार, आवास, वस्त्र आदि के लिए, जिन्हें हम सामान्यतः जीवन की उपयोगी वस्तुएँ कहते हैं, हमारी आकांक्षा का उद्गम यही भय है। आवास-रहित होना, भूखा मरना और नंगा रहना—ये तीन प्रकार के भय हैं जो हमें आहार, आवास और वस्त्रादि को उपलब्ध करने के लिए बाध्य करते हैं।

जीवन के सब दुःखों, इसकी परिमितता एवं नश्वरता से हम तभी बच सकते हैं जब हमारा मन ॐ को ध्वनि तथा इसके मर्म को पूर्ण रूप से समझ ले।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोव्ययः ॥२६॥

'ॐ' अपर (छोटी श्रेणी का) ब्रह्म है और इसे परम-ब्रह्म भी कहा गया है। प्रणव (ॐ) अपूर्व है, अनन्त है और साथ ही प्रभावहीन तथा अपरिवर्तनीय।

श्री गौड़पाद, गुरु वसिष्ठ और दूसरे प्राचीन अद्वैतवादी वेदान्त की उस विचार-धारा से सम्बन्ध रखते हैं जो दृष्ट-संसार की वास्तविकता को सापेक्ष रूप से स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि यह संसार निम्न श्रेणी का ब्रह्म है जो अपने गुण, स्वभाव, कर्म आदि के कारण परमात्मा का प्रत्यक्ष कराता प्रतीत होता है। वेदान्त में 'अपर' ब्रह्म की पूजा के लिए मूर्त्ति की व्यवस्था की गयी है। बाद में वेदान्त भाषा में इसे 'सगुण' ब्रह्म कहा जाने लगा। वेदान्त की यह विचार-धारा, जिसे मुख्यतः श्री गौड़पाद तथा मुनि वशिष्ठ ने जन्म दिया, 'अपर' ब्रह्म को नहीं मानती किन्तु आग्रह पूर्वक यह कहती है कि यह (ब्रह्म) प्रत्यक्ष कदापि नहीं हुआ। इस मत वाले, जो सृष्टिवाद सिद्धान्त के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विरोधी हैं, 'खम्भे' तथा 'भूत' में कोई सम्बन्ध नहीं देखते। उनके विचार में 'भूत' को 'खम्भे' का निम्न स्तर पर स्वरूप नहीं कहा जा सकता।

इस भाव के विरुद्ध वेदान्त की एक आधुनिक विचार-धारा, जिसकी श्री शंकराचार्य्य तथा उनके अनुयायियों ने नींव डाली है, प्रत्यक्ष संसार की सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करती है। यह बात इसलिए नहीं मानी जाती कि श्री शंकराचार्य्य किसी अवस्था में संसार की सत्ता में कोई विश्वास रखते थे। इन दो विचार-धाराओं में किसी तरह की पारस्परिक होड़ नहीं पायी जाती। वस्तुतः वे एक दूसरे की अनुपूरक हैं। श्री शंकराचार्य्य का प्रयास 'साधक' के व्यक्त संसार से अव्यक्त सनातन-तत्त्व की ओर मार्ग दिखाना है।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद ने इस भाव पर बल दिया है कि प्रणव (ॐ) न केवल परम-तत्त्व (पर-ब्रह्म) का प्रतिनिधित्व करता है बल्कि यह इस दिखायी देने वाले अपर-ब्रह्म की ओर भी संकेत करता है। सभी प्राणियों की क्रियाओं का उद्गम यह सर्व-व्यापक और विशुद्ध चेतन 'अनादि-तत्त्व' ही है। इस भाव को टीकाकार यहाँ समझा रहे हैं। इसके लिए प्रस्तुत मंत्र की दूसरी पंक्ति में विशेष सुन्दर उक्तियों का चयन किया गया है जो अधिकतर शास्त्रीय साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं। इन उक्तियों के महत्त्व को ध्यानपूर्वक समझ लेने पर हमें इनकी भाषा के सौन्दर्य, लालित्य तथा प्रभाव का पता चल जायेगा।

'अपूर्व'—अनुपम, 'ब्रह्म' से पूर्व कोई नहीं हुआ अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। प्रत्येक जात-प्राणी अथवा निर्मित वस्तु का कारण होता है। उससे पूर्व किसी अन्य प्राणी या वस्तु की सत्ता रहती है। 'ब्रह्म' कारण-रहित है। यह जन्म-मरण तथा विकार से रहित है। यह अपूर्व है; फिर भी यह शंका उठ सकती है कि कारण-रहित ब्रह्म निश्चय से कार्य का कारण होगा। 'सृष्टि' के विचार को स्वीकार न करते हुए हमें एक साधारण छोटे से शब्द (अनपर) में इस भाव का विरोध मिलेगा। इसका अर्थ यह है कि इसके बाद कोई ऐसा स्वरूप नहीं हुआ जिसका यह (ब्रह्म) कारण हो।

अनन्तर—जिस के सदृश और कुछ नहीं। यहाँ श्री गौड़पाद इस भाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को स्पष्ट करना चाहते हैं कि सर्व-व्यापक तत्त्व के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं पायी जाती। इस अद्वितीय तथा सनातन 'आत्मा' के भिन्न कोई विजातीय वस्तु नहीं है जो इसे सीमित कर सके। इसका यह अभिप्राय है कि 'आत्मा' से बाहर किसी प्राणी या वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है। यह एक रूप है और इसमें स्वगत-भेद नहीं पाया जाता।

यदि यह बात मान ली जाए कि इसका न कोई 'कारण' है और न ही 'कार्य' तो इस भेद-रहित 'आत्मा' के सिवाय और किसी की सत्ता नहीं रह सकती, जिससे यह 'तत्त्व' अव्यय (परिवर्त्तन-रहित) सिद्ध हुआ।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्थैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

ॐ ही सब का आदि, मध्य तथा अन्त है। ॐ को निश्चय-पूर्वक जानने वाला इस 'परमात्म-तत्त्व' को तुरन्त प्राप्त (अनुभव) कर लेता है।

जब हम खम्भे में भूत का आरोप कर बैठते हैं तब उसमें दिखायी देने वाले भूत के सभी अंग वास्तव में खम्भे के विविध भाग होते हैं। इस तरह उस खम्भे का प्रत्येक भाग न केवल 'भूत' का आधार होता है बल्कि भूत की भावना उसी में होने लगती है। वह (भूत) उस (खम्भे) में ही प्रकट होता है। जितना समय हमें उस भूत का आभास रहता है उतना समय खम्भे की सत्ता नहीं होती; किन्तु जिस क्षण हमें 'खम्भे' का पता चल जाता है उसी क्षण 'भूत' उस खम्भे में समा जाता है। ऐसे ही 'ब्रह्म' का सांकेतिक चिह्न प्रणव (ॐ) 'आदि', 'मध्य' तथा 'अन्त' में सनातन रूप से सत्तारूढ़ रहता है।

जन्म, विकास तथा मरण (आदि, मध्य और अन्त) की इस जीवन-लीला का सूत्र ॐ ही है—इस भाव को जान लेने के बाद ज्ञाता 'ब्रह्म' ही हो जाता है। वेदान्त तथा इह-लोक के विविध क्षेत्रों के ज्ञान में महान् अन्तर है। वेदान्त में जानने का अर्थ है अनुभव करना अर्थात् तादात्म्य होना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसे केवल विवेक, अध्ययन और मनन द्वारा प्राप्त करना संभव नहीं । इससे यह बात समझ लेनी चाहिए कि 'आत्मा' को जान लेने से ही वेदान्ती साधक पूर्णता को अनुभव नहीं कर सकता । उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन को इसके अनुकूल ढालने के लिए तत्पर हो और नित्य-प्रति ध्यानावस्थित होने में प्रयत्नशील रहे । इससे उसके शुद्ध मन और बुद्धि ऊँचे उठ कर सर्व-विद्, सर्व-व्यापक चेतना-शक्ति के विशुद्ध स्तर पर पहुँच जायेंगे । वेदान्त की भाषा में 'जानना' शब्द का अर्थ आत्मानुभूति को प्रकट करना है ।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

ॐ को ही ईश्वर जानो जो सबके हृदय में सदा विद्यमान रहता है । विवेक-शक्ति के द्वारा सर्वव्यापक ॐ को अनुभव करने वाला कभी शोक को प्राप्त नहीं होता ।

इस अध्याय में ॐ के विस्तार तथा महत्व की व्याख्या की गयी है । श्री गौड़पाद ने 'जाग्रत', 'स्वप्न', 'सुषुप्त' तथा 'तुरीय' अवस्थाओं में मात्रा वाले और अमात्र ॐ के अभिप्राय को समझा कर यह सहज घोषणा की है कि व्यापक रूप ॐ में वह क्रियमाण शक्ति विद्यमान है जो सब प्राणियों के हृदय में सत्तारूढ़ है । नारद-भक्ति-सूत्रों और अन्य भक्ति सिद्धातों में भगवान को अन्तर्यामी भी कहा गया है । यहाँ हमें बताया गया है कि ॐ 'ईश्वर' है जो सबके हृदय में सर्वदा विद्यमान रहता है । इस भाव की श्रीमद्भगवद्गीता म भी व्याख्या की गयी है ।

भगवान को सब नाम-रूप में देखना ही अनुभूति अथवा पूर्णता है । इस प्रकार हम सर्वत्र पूर्णता को अनुभव कर लेते हैं । इस पूर्णता की अपने व्यक्तित्व में अनुभूति हमें सर्व-व्यापक परिपूर्णता को अनुभव करने में सहायक होती है । ज्ञानी की दृष्टि में यह सब लय, एक-रूप तथा सुन्दरता से युक्त है । ऐसा ज्ञानी विभिन्नता में अभिन्नता, असुन्दरता में सौन्दर्य्य तथा दुःख में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परिपूर्णता के दर्शन करता है । वह जो कुछ देखता है उसमें 'सत्य' तथा 'परम-सुख' की मूल-सत्ता निहित होती है । इस प्रकार ॐ को सर्व-व्यापक **'ब्रह्म'** जानकर वह बुद्धिमान् व्यक्ति जीवन की किसी विषम-स्थिति में शोकातुर नहीं होता । सत्य की यह अन्तर्मय तथा बाह्य अनुभूति केवल उस सौभाग्य-शाली व्यक्ति-विशेष को हो सकती है जिसकी विवेक-बुद्धि पूर्णरूप से विकसित हो चुकी हो । इस कारण माता 'श्रुति' ने आग्रह-पूर्वक कहा है कि ऐसा व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होता । वास्तव में वेदान्त वह मार्ग है जो तर्क तथा युक्ति की उत्तुंग शृंखलाओं का भेदन करके पूर्णता के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचता है ।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्यापशमः शिवः ।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

जिसने मात्र तथा अमात्र ॐ को जान लिया है । (जो ध्वनि-युक्त तथा ध्वनि-रहित है) जो द्वैत रहित होने के कारण सदा शिव-स्वरूप है, वह मुनि है न कि कोई और व्यक्ति ।

अमात्र का अर्थ है ध्वनि-रहित ॐ अर्थात् तुरीयावस्था । 'मात्रा' का अर्थ है 'मिक़दार' । जिसकी अपरिमित मिक़दार है वह 'अनन्त-मात्र' कहा जाता है । इसका यह अर्थ है कि "इसके परिमाण को निर्धारित करने के लिए कोई ऐसा मान-दण्ड उपलब्ध नहीं जो इसके ओर-छोर को नाप सके"— यह विचार श्री शंकराचार्य्य का है । यह सब प्रकार पवित्र है क्योंकि सभी मिथ्या नाम-रूप वाले जगत इसके अन्तर्निहित हैं । इस तथ्य को अनुभव कर लेने के बाद मनुष्य अपने आपको सर्व-व्यापक चेतना समझने लगता है जिससे उसे संसार में स्वभावतः कोई हर्ष-विषाद या इष्ट-अनिष्ट दिखायी नहीं देता ।

जो कोई इस 'ओंकार' (न केवल ॐ बल्कि इसके रहस्य) को अनुभव कर लेता है वह यथार्थ आत्मानुभूत विद्वान मुनि है । इस पर बल देने तथा अपने उन शिष्यों को, जो केवल पुस्तक-ज्ञान द्वारा 'मुनि' बनने का स्वप्न लेते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हों। प्रोत्साहन देने के विचार से श्री गौड़पाद ने केवल इस कोटि के व्यक्तियों को मुनित्व का सर्वोच्च पद दिया है "न कि किसी और" को।

चाहे मनुष्य अपने युग में कितना ही मान्य तथा प्रखर-बुद्धि हो वह केवल निज पाण्डित्य, व्याख्यान, लेख अथवा वेदान्त के सिद्धान्तों से सम्बन्धित किसी आकर्षक तर्क आदि के द्वारा परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता।

'मुनि' वह है जिसने अपने वास्तविक सत्य-सनातन स्वरूप को जान लिया है और जो ॐ की मात्राओं द्वारा सूचित सर्व-व्यापकता एवं अनन्त सर्वज्ञता से पूर्ण परिचित है। इतना कहने के बाद श्री गौड़पाद ने माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम अध्याय से सम्बन्धित कारिका को समाप्त कर दिया है।

——:o:——

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरा अध्याय

वैतथ्य प्रकरण

(माया)

इस अध्याय में श्री गौड़पाद ने पदार्थमय दृष्ट-जगत के मिथ्यात्व पर प्रकाश डाला है। इस अध्याय और गत अध्याय में क्रम तथा साहित्यिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए श्री शंकराचार्य्य कहते हैं—"यद्यपि प्रथम अध्याय में यह कहा गया है कि 'द्वैत' का अस्तित्व नहीं है तथापि यह सब अगम प्रकरण को सामने रख कर कहा गया है। दूसरे अध्याय में तर्क तथा युक्ति के आधार पर इसी मिथ्यात्व की पुष्टि की गयी है।" प्रस्तुत प्रकरण में 'द्वैत-भाव' को युक्ति द्वारा मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

इस अध्याय में मुख्यतः 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था में होने वाले अनुभवों की तुलना करके इस तर्क-युक्त स्पष्ट परिणाम तक पहुँचने का प्रयास किया गया है कि इन दोनों अवस्थाओं के अनुभवों में कोई भेद नहीं है। यदि जाग्रतावस्था वास्तविक है तो स्वप्नावस्था भी वैसी होनी चाहिए। जब हम स्वप्न की अवस्था को मिथ्या मानते हैं तो जाग्रतावस्था को भी उसी मात्रा में अवास्तविक समझना चाहिए। इस तथ्य को सिद्ध करने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद ने अनेक तर्कपूर्ण युक्तियों तथा जीवन की आत्मानुभूतियों को शृंखलाबद्ध करके इन दो अवस्थाओं का स्पष्टीकरण किया है।

हम इस बात को तुरन्त मान लेते हैं कि स्वप्नावस्था के अनुभव मिथ्या हैं किन्तु जब हमें यह कहा जाता है कि जाग्रतावस्था भी मिथ्या है तब हम स्वभावतः इसे स्वीकार करने में संकोच करते हैं क्योंकि हम 'जीवन' शब्द को सुनने तथा जानने के इतने अभ्यस्त हैं कि हम इस उक्ति पर विश्वास ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं कर पाते । हमारे लिए तो 'जीवन' का अर्थ जाग्रतावस्था के अनुभवों की प्राप्ति है । जीवन भर तीनों (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त) अवस्थाओं को निरन्तर अनुभव करते रहने पर भी हम अन्य दो क्रिया-क्षेत्रों तथा उनके अनुभवों को विस्मरण कर देते हैं, केवल जाग्रत अनुभवों को ही हम स्मरण रखते हैं । जीवन की समीक्षा तथा विश्लेषण करने में हम ऐसी ही धारणा रखते हैं । इस कारण हम श्री गौड़पाद के इस तथ्य को समझ नहीं पाते और कई बार तो हम जीवन के सुखमय मूल्यांकन में फँस कर इस विचार के प्रति विद्रोह की भावना भी कर देते हैं ।

इस विचार के समर्थन में श्री गौड़पाद ने कई युक्तियाँ दी हैं । उन्होंने सहृदयता का परिचय देते हुए इस सत्य को प्रकट किया है । एक न्यायाचार्य्य दूसरों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से किसी बात को नहीं कहता और न ही वह सर्व-साधारण के जीवन का मूल्यांकन करने के लिए कोई युक्ति देता है । वह अपने युग में जीवन के प्रति पायी जाने वाली मिथ्या भावना के पक्ष में कुछ नहीं कहता । उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह आत्म-तत्व का अनुभव करके दूसरों को उससे परिचित करे । यह सिद्धान्त चाहे कितना अमान्य हो और युग विशेष में यह सत्य कितना ही असाधारण क्यों न प्रतीत होता हो, वह (दर्शनाचार्य्य) किसी औपचारिक ढंग को नहीं अपनाता । वह तो अपने निष्कर्ष एवं अनुभव संसार के समक्ष रख देता है । इस बात को स्पष्ट करने से अद्वैतवादियों का दृढता तथा निर्भीकता से पूर्ण यह सिद्धान्त पक्के से पक्के द्वैतवादियों की भी समझ में आ जायेगा ।

संसार के दर्शन-ग्रन्थों में जीवन की इतने विस्तार से और कहीं व्याख्या नहीं की गयी है जितनी 'माण्डूक्योपनिषद्' में । मानव इतिहास में यह विचार सभी युगों में आता रहा है । समय समय पर संसार के दार्शनिक तथा विचारज्ञ किसी न किसी प्रकार इस विचार को अपने सामने रखते आये हैं; किन्तु वे इसे स्पष्ट न कर पाए । यह शंका जाग्रतावस्था की सदा-शयता के प्रति है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हमारे धर्म-ग्रन्थों में महाराज जनक की एक कथा कही गयी है। उन्हें एक बार यह स्वप्न आया कि वह स्वयं एक अकाल-पीड़ित देश में पीड़ित हुए। निद्रा से जागने पर जनक महाराज ने चिन्तित होकर पूछा कि क्या उनका स्वप्न वाला व्यक्तित्व जाग्रतावस्था में भी बना रहा अथवा जागने पर उन्हें अपनी पूर्व-स्थिति का अनुभव होने लगा। ऐसे ही एक प्राचीन चीनी यात्री ने एक बार कहा कि—"कल स्वप्न में मैं एक तितली था। अब मुझे यह ज्ञान नहीं कि क्या मैं अब तितली के वेष में अपने मनुष्य होने का स्वप्न देख रहा हूँ या मनुष्य होने के नाते मुझे तितली होने का स्वप्न आ रहा है ?"

इस अध्याय में हम इन दोनों अवस्थाओं के अनुभवों को जितना अधिक समझायेंगे उतना अधिक हमें यह पता चलेगा कि यद्यपि जाग्रतावस्था के हमारे अनुभव हमें वास्तविक प्रतीत होते हैं तो भी इनमें उतनी ही यथार्थता पायी जाती है जितनी स्वप्नावस्था के हमारे अनुभवों में।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥१॥

मनीषियों ने यह घोषणा की है कि स्वप्नवर्ती पदार्थ मिथ्या हैं। वे सब शरीर के भीतर विद्यमान तथा सीमित रहते हैं।

इस 'माया' से सम्बन्धित अध्याय का श्री गणेश करते हुए श्री गौड़पाद ने यह महान् घोषणा की है कि जाग्रतावस्था के हमारे अनुभव उतने ही मिथ्या हैं जितने स्वप्नावस्था के। यहाँ ऋषि ने पदार्थमय जगत को मिथ्या सिद्ध करने के लिए तर्क का आश्रय लिया है। यह विधि गत अध्याय की विधि से भिन्न है जहाँ इसके समर्थन में मुख्यतः प्राचीन ऋषियों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था।

श्री गौड़पाद ने 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था में समानता दिखाने के लिए हिन्दु दार्शनिकों की परम्परा को अपनाया है और अपने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सिद्धान्त की पुष्टि में उन विद्वानों के सिद्धान्तों की सहायता ली है ।

हिन्दु धर्म-शास्त्रों में यह एक पवित्र परम्परा है । यहाँ दर्शन-सम्बन्धी तथ्यों को किसी विश्वस्त आचार्य-विशेष के वैयक्तिक विचारों की पृष्ठभूमि पर प्रकट नहीं किया जाता । आजकल के नैयायिक तो व्यक्तिगत अधिकार से अपने सिद्धान्तों का प्रकाश करते हैं । बहुत से विद्वान् 'अपने' अनुभवों की आधार-शिला पर जिन सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं, हिन्दुओं के विचार में यह विधि किसी प्रकार मान्य नहीं है । किसी सिद्धान्त को इस कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उससे सम्बन्धित तथ्यों की नींव किसी विशेष मनुष्य के केवल अपने अनुभव हैं । यहाँ हम यह कह सकते हैं कि यदि श्री गौड़पाद के अपने अनुभव संसार के मिथ्यात्व पर स्थित हैं तो एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह अनुभूत संसार यथार्थ है । अतः ऋषि के अपने अनुभव को ही पर्याप्त न समझते हुए हमें इस विचार की पुष्टि में अन्य महान विचारज्ञों के मत भी प्रस्तुत करने होंगे ।

यदि हम किसी एक का अनुभव मान्य समझते हैं तो दूसरे की अनुभूति को भी हमें उसी मात्रा में मानना होगा । यदि हम किसी पुरुष-विशेष के विचार को स्वीकार करते हैं तो हमें इसका कारण स्पष्ट शब्दों में बताना होगा । इस तरह शास्त्रों में भी हम देखते हैं कि समय समय पर आचार्य्य अपने शिष्यों को यह परामर्श दिया करते थे कि—"यह बात मुझे मेरे गुरु ने बतायी है । गुरु जी ने मुझे कहा था कि इसे उन्होंने अपने आचार्य्य से सुना था ।"

इस प्रकार हम केवल उन घोषणाओं को शास्त्रीय (अगम) मानते हैं जो हम तक गुरु-शिष्य परम्परा से पहुँची हैं । इस परम्परा के अनुसार श्री गौड़पाद ने प्रथम मंत्र में कहा है कि प्राचीन विद्वान् निश्चय से स्वप्न-जगत को मिथ्या कहते आये हैं । यह घोषणा तर्क एवं युक्ति पर आधारित है । प्रस्तुत मंत्र में जो कारण बताये गये हैं वे स्वतः स्वीकार्य हैं ।

अन्तः स्थानात्—भीतर पाया जाने वाला । स्वप्न-जगत को मिथ्या मानने के लिए जो कारण प्राचीन विद्वानों द्वारा दिये जाते हैं उनमें एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण यह है कि स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष होने वाले सभी पदार्थ शरीर में बने रहते हैं। मनुष्य अपने शरीर अथवा बाह्य-संसार (जाग्रतावस्था) से अनभिज्ञ रहता हुआ आँखें मूँदे लेटा होता है; तभी उसे स्वप्नावस्था का अनुभव होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि वह स्वप्न-जगत में सब कुछ अपने शरीर में ही देखता है। हमें भली भाँति विदित है कि हमारे शरीर में यान, भवन, पर्वत, नदी अथवा जानवरों के लिए रत्ती भर स्थान उपलब्ध नहीं है। स्वप्न की बृहदाकार वस्तुएँ तो एक ओर रहीं, यहाँ (शरीर में) एक बाल धरने के लिए भी कोई जगह नहीं है।

संवृतत्वेन—एक स्थान में ही सीमित रहने के कारण स्वप्नावस्था को मिथ्या कहने का एक और कारण है। मनुष्य के हृदय में स्वप्न में देखी जाने वाली वस्तुएँ समा नहीं सकतीं। इसलिए स्वभावतः इसमें वे वस्तुएँ नहीं आ सकतीं जो हमें स्वप्नावस्था में यथार्थ दिखायी पड़ती हैं।

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्नपश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥२॥

बहुत कम समय होने के कारण स्वप्न-द्रष्टा स्वयं जाकर इन वस्तुओं को देख नहीं पाता। जागने पर वह स्वप्न-द्रष्टा अपने आप को उस स्थान पर नहीं पाता जहाँ वह स्वप्न देखते हुए विद्यमान था।

'दर्शन' से सम्बन्धित संस्कृत के धर्म-ग्रन्थों में लेखकों ने अपने शिष्यों को किसी विशेष भाव का दिग्दर्शन कराने के लिए एक बड़े उपयुक्त साधन को अपनाया है। यह है दर्शनाचार्य्य द्वारा बताये गये तथ्यों पर होने वाली आलोचना की पहले से कल्पना कर लेना और उन टीका-टिप्पणियों का स्वतः समाधान कर देना। इस मन्त्र में उस सम्भावित आपत्ति का उत्तर दिया गया है जो पहले मन्त्र को पढ़ने के बाद उठायी जा सकती है।

पिछले मंत्र में श्री गौड़पाद ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि मनुष्य के हृदय में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ स्पप्न में दीखने वाली वस्तुएँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पाई जा सकें। एक आलोचक की दृष्टि में युक्ति ठीक नहीं बैठती। वह तो यह कहता है कि स्वप्न-द्रष्टा इन पदार्थों को अपने भीतर नहीं देखता बल्कि दूरस्थ स्थानों में; इसका कारण यह है कि कई बार वह दूर-दूर के स्थानों तथा उनमें पाये जाने वाले विविध पदार्थों को देखने लगता है। यदि वह स्वप्न में दूर-दूर तक उड़ानें भर सकता है तो वे वस्तुएँ निश्चय से वहाँ (दूर स्थानों में) ही होंगी।

इस शंका का समाधान करते हुए श्री गौड़पाद ने वे युक्तियों दी हैं जिनके द्वारा स्वप्न में लम्बी यात्राएँ करते तथा दूर-दूर स्थानों पर रहने वाले व्यक्तियों को देखते हुए भी हम स्वप्न को मिथ्या मानते हैं। 'स्वप्न' का अनुभव करने के लिए स्वप्न-द्रष्टा अपने शरीर को छोड़ कर कहीं और स्थान पर नहीं जाता क्योंकि जिस क्षण वह निद्रा की गोद में पहुँच जाता है तभी से वह सैकड़ों मील के दूरवर्ती स्थानों को देखने लगता है। 'काल' को आधार मान कर ऐसी बात को मानना यथार्थ नहीं दीखता क्योंकि 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था के बीच का अन्तर इतना कम होता है कि इस (समय) में किसी व्यक्ति को उस के शरीर सहित दूर के स्थानों पर नहीं पहुँचाया जा सकता।

साथ ही स्वप्न द्रष्टा निद्रा से जागने पर अपने कमरे में ही लेटा होता है न कि अपने उस मित्र के घर में जिसके पास वह स्वप्न में बैठा हुआ था। वास्तव में वह उसी स्थान पर पड़ा होता है जहाँ वह सोया था, चाहे स्वप्न में उसने उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव तक लम्बी उड़ानें क्यों न भरी हों। इस लिए श्री गौड़पाद ने कहा है कि स्वप्न में हम दूरस्थ प्रदेश में क्यों न घूमते रहे हों किन्तु वास्तव में हम एक ही स्थान पर पड़े रहते हैं। यह अनुभव तो हमारे अपने भीतर प्राप्त होता है जिससे हम स्वप्नावस्था को अवास्तविक कह सकते हैं। इस प्रकार 'काल' तथा 'अन्तर' के विचार से स्वप्न के अनुभव यथार्थ नहीं हैं, जिस कारण हमारे स्वप्न के सभी व्यापार पूर्ण रूप से मिथ्या सिद्ध हुए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥३॥

तर्क तथा युक्ति को अपने समक्ष रख कर 'श्रुति' ने उन रथ आदि की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है जिन्हें स्वप्न-द्रष्टा ने स्वप्न में देखा । अतः (महान्) द्रष्टाओं ने 'श्रुति' द्वारा कथित स्वप्न के अनुभवों के मिथ्यात्व का समर्थन किया है । इस भाव की तर्क और युक्ति से भी पुष्टि होती है ।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि स्वप्न में देखे गये रथ आदि में कोई वास्तविकता नहीं पायी जाती । यहाँ श्री गौड़पाद ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि स्वप्न का कोई अस्तित्व नहीं है । यह बात उन व्यक्तियों के लिए कही गयी है जो स्वप्न की सत्ता में विश्वास रखते हैं ।

जिन 'द्रष्टाओं' ने पूर्ण साक्षीभाव से संसार के पदार्थों का विश्लेषण करके इस पर मनन किया है उनकी दृष्टि में ये दृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं । श्री शंकराचार्य्य ने भी अपनी **'ब्रह्म ज्ञानावली'** में इस विचार की पुष्टि की है । उनके विचार में समूचे दृष्ट पदार्थमय जगत् को दो भागों में बाँटा जा सकता है—'दृष्ट पदार्थ' और 'द्रष्टा का जगत्' । वेदान्त ने कहा है कि द्रष्टा ही सनातन-तत्त्व है और दृष्ट-पदार्थ आरोपमात्र हैं । इससे यह समझना उचित होगा कि न केवल स्वप्न में दिखायी देने वाली वस्तुएँ अवास्तविक हैं बल्कि वे सभी पदार्थ मिथ्या हैं जिन्हें हम जाग्रतावस्था में इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि ये शरीर, मन और बुद्धि भी मिथ्या पदार्थ हैं जो हमारे वास्तविक स्वरूप आत्मा को हमसे छिपाये रखते हैं ।

अन्तःस्थानत्तु भेदानां तस्माज्जागरितेस्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यतें ॥४ ।

स्वप्न में दिखायी देने वाले विविध पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये सत्ता वाले प्रतीत होते हैं । ऐसे ही जाग्रतावस्था के दृष्ट-पदार्थ भी मिथ्या कहे गये हैं । इन दोनों अवस्थाओं में पदार्थ समान-रूप होते हैं । भेद केवल इतना है कि स्वप्न के पदार्थ सीमित होते और शरीर के भीतर देखे जाते हैं ।

यदि हम इस मंत्र को गत मंत्र के साथ पढ़ें तो इसका समझना कठिन नहीं होगा क्योंकि इससे सम्बन्धित विचार पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ हमें इस बात को जान लेना चाहिए कि श्री शंकराचार्य्य ने इस मंत्र पर जो भाष्य किया है उसमें एक सुन्दर संवाक्य (syllogism) (तर्क) दिया गया है ।

यह इस प्रकार है। हमने यह ('प्रतिज्ञ'—विचारणीय समस्या) सिद्ध करना है कि जाग्रतावस्था के सभी पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि वे दिखायी देते हैं (हेतु-कारण) । ये पदार्थ उन पदार्थों की तरह हैं जो स्वप्न में दिखायी पड़ते हैं (दृष्टान्त) । जिस तरह स्वप्न में दृष्टिगोचर होने वाली सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं उसी प्रकार जाग्रतास्था के पदार्थ भी मिथ्या हुए क्योंकि ये भी स्वप्न की वस्तुओं की भाँति दिखायी देते हैं (उपनय—जिसका समस्या और उदाहरण (दृष्टान्त) के बीच सम्बन्ध है) । इस प्रकार प्रत्यक्ष संसार की वस्तुएँ भी मिथ्या सिद्ध हुईं (निगमन—पुष्टीकरण । इस युक्ति के द्वारा श्री शंकराचार्य्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'इन दोनों अवस्थाओं में 'दिखायी देना' और 'मिथ्यात्व' समान रूप से विद्यमान रहते हैं ।'

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धैर्नैव हेतुना ॥५॥

विचारवान व्यक्ति कहते हैं कि 'जाग्रत' और 'स्वप्न' अवस्था में समानता पायी जाती है क्योंकि इन दोनों के दृष्ट-पदार्थ एक तरह ही अनुभव में आते हैं । साथ ही इसे सिद्ध करने के लिए कई अन्य कारण बताये जा चुके हैं ।

विद्वानों ने जो निष्कर्ष पहले निकाला है उसे इस कारिका में स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है । 'जाग्रत' और 'स्वप्न' अवस्था की वस्तुओं की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुभूति हमें इस कारण होती है कि हमारे ये अनुभव 'कर्त्ता' तथा 'कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर स्थित हैं। वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष संसार के पदार्थ हमारी आत्मा पर आरोपमात्र हैं और ये (पदार्थ) अपने आधार (आत्मा) के बिना कोई अस्तित्व नहीं रख सकते। इस विचार से दृष्ट-पदार्थ हमारे नटखट मन की ही उपज हैं। केवल 'आत्मा' अनादि तथा सर्व-व्यापक वास्तविक तत्त्व है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥६॥

जिसका आदि और अन्त नहीं उसका वर्तमान भी नहीं होगा। सभी दृष्ट-पदार्थ मिथ्या हैं तो भी इन्हें वास्तविक समझा जाता है।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद ने दृष्ट-पदार्थों को अवास्तविक सिद्ध करने के लिए एक और युक्ति दी है। जो पहले नहीं रहा और आगे न होगा, भला वह मध्य में कैसे रह सकता है? एक उदाहरण लीजिए। जब कोई व्यक्ति रज्जु (रस्सी) में सर्प को देखता है तो उससे पूर्व उसमें सर्प नहीं था। यह जान लेने पर कि वस्तुतः वह रस्सी है साँप का आभास नहीं होगा। इस तरह हम उस वस्तु को 'मिथ्या' कहते हैं जो पहले नहीं थी और जो यथार्थ ज्ञान हो जाने पर हमारी धारणा के अनुसार नहीं रह पाती।

यही दशा जाग्रतावस्था की है। जिन सिद्ध पुरुषों ने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है उनकी दृष्टि में हमारी 'जाग्रतावस्था' के सभी दृष्ट-पदार्थ मिथ्या होते हैं। श्री गौड़पाद, जिन्होंने आत्म अनुभव को प्राप्त किया था, इस दृष्टि से जाग्रतावस्था के सब पदार्थों को मिथ्या कहते हैं। उनके विचार में प्रत्यक्ष संसार एक बड़ा स्वप्न है।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यान्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥१७॥

स्वप्नावस्था में प्राप्त किये गये अनुभवों से यह कभी सिद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होता कि जाग्रतावस्था के पदार्थ हमारे लिए कोई प्रयोजन रखते हैं; इसलिए (इन दोनों अवस्थाओं में) आदि और अन्त होने के कारण यह पदार्थ निश्चित रूप से असार हैं।

इतना सुन लेने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि कोई सत्संगी उठ खड़ा होता है और यह शंका करता है। आचार्य्य को, जिसने जाग्रतावस्था के सभी दृष्ट-पदार्थों को मिथ्या कहा है, इस शंका से बड़ा धक्का लगता है। इस तरह वह एक और युक्ति द्वारा यह सिद्ध करता है कि जाग्रतावस्था के संसार के विविध पदार्थों में एक विशेष गुण पाया जाता है जिससे हम इन्हें स्वप्न-जगत् की वस्तुओं की अपेक्षा वास्तविक समझते हैं।

शंका करने वाले के विचार में जाग्रतावस्था के पदार्थ — खान-पान, यान आदि—वास्तव में कुछ अंश तक निश्चित महत्त्व रखते हैं। भोजन से हमारी भूख, जल से प्यास और यान द्वारा प्रेयसी के घर तक जाने की लालसा शान्त होती है; किन्तु स्वप्न के पदार्थों से यह तृप्ति नहीं हो सकती। इस कारण धारणा वाले व्यक्तियों के स्वप्न में दिखायी देने वाली वस्तुओं की अपेक्षा दृष्ट-संसार पदार्थों की वास्तविकता कहीं अधिक है।

यहाँ श्री गौड़पाद ने इस धारणा को निराधार बताया है क्योंकि जाग्रतावस्था की वस्तुओं से होने वाला लाभ स्वप्नावस्था में स्थिर नहीं रह पाता।

जागते हुए हम जो भोजन करते हैं उसके द्वारा हमारी भूख निस्संदेह शान्त हो जाती है; किन्तु इस तुष्टि के प्रतिकूल अनुभव हमें स्वप्नावस्था में होता है। पेट भर कर भोजन कर लेने के थोड़ा समय बाद हम स्वप्न में भूखा होने का अनुभव करने लगते हैं। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि जाग्रतावस्था में जिस भोजन ने हमें सन्तुष्ट किया था वही भोजन स्वप्नावस्था की हमारी भूख को दूर करने में असमर्थ रहा; इससे यह समझा जा सकता है कि भोजन द्वारा तृप्त होने के तथ्य में स्वप्नावस्था में वैपरीत्य पाया जाता है। साथ ही यह कहना भी युक्त होगा कि स्वप्नावस्था में सेवन किये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाने वाले भोजन से हमारी स्वप्नवर्ती क्षुधा शान्त हो जाती है । इसका यह अर्थ हुआ कि स्वप्न-द्रष्टा की स्वप्नवर्ती भूख को स्वप्न के भोजन ने ही शान्त कर दिया ।

अतः सभी दृष्ट-पदार्थ इस कारण मिथ्या माने जाते हैं क्योंकि वे आदि और अन्त सहित हैं । हमारे स्वप्न के अनुभव उतनी मात्रा में यथार्थ हैं जितनी मात्रा में हमारे जाग्रतावस्था के अनेक पदार्थ । एक अवस्था के पदार्थ दूसरी अवस्था में कोई लाभ नहीं देते; इस कारण ये सब मिथ्या ही हुए । अतः जाग्रतावस्था के दृष्ट-पदार्थों में उतनी ही यथार्थता है जितनी स्वप्न-जगत् की वस्तुओं में ।

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनां ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥८॥

जब स्वप्न-द्रष्टा द्वारा देखे गये पदार्थ जाग्रतावस्था में सुलभ नहीं होते तब (हम यह कह सकते हैं) इनका अस्तित्व स्वप्न-द्रष्टा की क्षणिक मानसिक क्रिया पर आधारित होता है जैसा स्वर्ग में निवास करने वालों की अवस्था में होता है । स्वप्नावस्था से संपर्क स्थापित करके स्वप्न-द्रष्टा इन (पदार्थों) को ठीक इस प्रकार अनुभव करता है जैसे वह व्यक्ति जो पूरी हिदायतें लेने के बाद एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है और वहाँ की वस्तुओं को देखता है ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि वेदान्त का उदाहरण ठीक नहीं जँचता । वेदान्त के द्वारा यहाँ कहा जा रहा है कि जाग्रतावस्था उतनी ही मिथ्या है जितनी स्वप्नावस्था । शंका करने वाले को भी स्वप्नावस्था मिथ्या दिखायी देती है किन्तु जाग्रतावस्था ऐसी (मिथ्या) नहीं क्योंकि उसके विचार में स्वप्नावस्था में अनेक पदार्थ हमारे अनुभव में आते हैं । ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें हमारे मित्रों ने विचित्र अनुभव प्राप्त किये, जैसे आकाश में उड़ना, चार सूँडों वाला हाथी या पाँच शिर का कीटाणु देखना आदि ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि। इस लिए कहा जाता है कि स्वप्न झूठा है और इस में देखी जाने वाली वस्तुएँ विचित्र एवं मिथ्या हैं। इस के विपरीत जाग्रतावस्था के संसार में अधिक एकरूपता तथा लय पाई जाती है और यह (संसार) अपनी स्थिति बनाये रखता है। इस लिए (यह कहा जाता है) 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' संसार की तुलना करना एक असंभव बात है।

यहाँ श्री गौड़पाद ने इस प्रश्न का बहुत उपयुक्त उत्तर दिया है। ऋषि कहते हैं कि स्वप्न के दृश्य इस कारण विचित्र प्रतीत होते हैं कि उस समय स्वप्न-द्रष्टा स्वयं एक अद्‌भुत स्थिति में होता है। स्वप्न-द्रष्टा वह व्यक्ति है जिस ने स्थूल शरीर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर के अपने मनोमय तथा विज्ञानमय कोश से संपर्क स्थापित कर लिया है और यह स्थिति भी उस समय होती है जब उस की बुद्धि का अधिकांश सुषुप्तावस्था की निष्क्रियता में मग्न हो चुका होता है।

इस तरह जब मन में विवेक-शक्ति बहुत कम मात्रा में रह जाती है तब यह (मन) इधर-उधर भटकता फिरता है और बहुत समय तक बँधा रहने पर कोई कुत्ता जंजीर खोले जाने पर बिना किसी प्रयोजन इधर-उधर भागने लगता है। स्वप्नावस्था में मन अपनी अनेक वासनाओं को विवेक-शक्ति के बिना इधर-उधर स्वच्छन्द रूप से घूमते देखता है। इन पर विवेक-शक्ति का नियंत्रण नहीं होता जिस से हम विचित्र दृश्य देखने लगते हैं। इस भाव को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न-जगत् की विचित्र स्थिति के कारण अद्‌भुत दृश्य देखता रहता है।

श्री गौड़पाद ने इस प्रसंग में यह उदाहरण दिया है—'जैसे स्वर्ग में निवास करने वालों की अवस्था में होता है।" हमें विदित है कि प्राचीन पुराणों में देवताओं के अधिपति 'इंद्र' को सहस्र नेत्रों वाला, 'ब्रह्मा' को चतुर्मुख, 'विष्णु' को चतुर्भुज और 'भगवान शंकर' को त्र्यम्बक (तीन नेत्र वाले) कहा गया है। ये बातें इस कारण ठीक दिखायी देती हैं क्योंकि इन देवताओं को अपने अपने लोक में विशेष सत्ता तथा शक्ति प्राप्त है। ऐसे ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जागने वाला एक व्यक्ति स्वप्नावस्था में विचित्र मिथ्या पदार्थ देख सकता है क्योंकि स्वप्न देखते समय चेतना-शक्ति की विचित्र अवस्था होती है और इसका उस (स्वप्न-द्रष्टा) पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

इस तरह जीवात्मा स्थूल शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ कर जाग्रतावस्था को अनुभव करता है और स्वप्न-जगत में प्रवेश करके स्वप्न-द्रष्टा का नाटक खेलता तथा विचित्र दृश्यों को देखता है।

इस भाव को एक बड़े सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। एक व्यक्ति यात्रा पर जाने के बाद विदेश में प्रवेश करता है जहाँ उसे विचित्र प्रदेश, निवासियों तथा दृश्यों का अनुभव होता है। ऐसे ही जीवात्मा 'जाग्रत' 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्था के विविध क्षेत्रों में प्रवेश करके भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करता है। इस परिस्थिति में वेदान्त के इस सिद्धान्त को निराधार कहना उचित नहीं है कि जाग्रतावस्था का संसार उतना यथार्थ है जितना स्वप्नावस्था का जगत।

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृश्टं वैतथ्यमेतयोः ॥९॥
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥१०॥

स्वप्नावस्था में भी स्वप्न-द्रष्टा अपने मन में जो कल्पना करता है वह मिथ्या होती है और स्वप्न में उसे अपने बाहिर जो कुछ दिखायी देता है वह उसे वास्तविक प्रतीत होता है; किन्तु वास्तव में ये दोनों मिथ्या हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध स्वप्न से है। ऐसे ही जाग्रतावस्था में मन में जो कल्पना उठती है वह मिथ्या है और मन के बाहिर जो कुछ दिखायी देता है वह वास्तविक मालूम देता है; परन्तु ये दोनों उसी प्रकार मिथ्या होने चाहिएँ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दो मन्त्रों में श्री गौड़पाद हमारे समक्ष जीवन के दो पहलुओं (पदार्थ-संसार तथा विचार-जगत) को रख रहे हैं। स्वप्न में भी स्वप्न-द्रष्टा अपने विचार तथा पदार्थों का पृथक् जगत रखता है । वह स्वप्न-जगत में स्वप्न देखता हुआ दृष्ट-पदार्थों को वास्तविक समझता है । अपने विचारों तथा कल्पनाओं को वह (स्वप्न-द्रष्टा) असत् मानता है । इन मन्त्रों में 'असत्' शब्द का अर्थ जगत का न होना नहीं समझना चाहिए अपितु इसका मिथ्या होना । भोजन की मेज़ पर आपके सामने प्लेट में पड़े लड्डू वास्तविक हैं । यदि आपके मनमें लड्डुओं का ध्यान आता है तो वह 'असत्' होगा । इस तरह यहाँ टीकाकार ने विचार-जगत तथा पदार्थ-संसार में स्पष्ट भेद किया है ।

इन दोनों में अन्तर बताने के बाद ऋषि ने हमें यह समझाया है कि स्वप्न में हम विचार-जगत तथा पदार्थमय संसार दोनों का अनुभव करते हैं और जब तक स्वप्न दिखायी देता है तब तक स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न के पदार्थों को वास्तविक समझता है और उसे कल्पना एवं विचार-जगत के मिथ्यात्व का ध्यान रहता है । जब वह निद्रा का त्याग कर देता है तब उसे इन दोनों पहलुओं (पदार्थमय संसार तथा उसके मानसिक विचारों) के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है क्योंकि इन सब की स्थिति स्वप्न में ही है ।

ठीक इस तरह जाग्रतावस्था में भी बाह्य-संसार का अनुभव होता है जिसकी दृष्ट-पदार्थों तथा हमारे मानसिक आवेग एवं विचारों के संमिश्रण से रचना होती है और इन्हीं की सहायता से हम पदार्थमय संसार का व्यक्तिगत मूल्यांकन करते हैं। एक साधारण व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा कि उसकी सभी कल्पनाएँ उसके मन की तरंगों के कारण उठती हैं; अतः वे मिथ्या हैं । इतना होने पर भी वह अपने मानसिक-जगत की अपेक्षा बाह्य-संसार के स्थूल पदार्थों को अधिक मात्रा में वास्तविक समझता है । इस सम्बन्ध में श्री गौड़पाद कहतेहैं कि आत्म-तत्त्व के स्तर पर जाग्रतावस्था के ये दोनों पक्ष ठीक वैसे ही असत् हैं जैसे स्वप्नावस्था के विचारों का पदार्थ-मय जगत और स्वप्न-जगत के विचार ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जो यथार्थवादी जाग्रतावस्था के अनुभवों को अधिक महत्व देते हैं उनके प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में मिल जाना चाहिए। उनके विचार में जाग्रतावस्था में दो बातें पायी जाती हैं—'वास्तविक' संसार और 'अवास्तविक' आवेगमय जगत। इसका समाधान श्री गौड़पाद ने इस प्रकार किया है—स्वप्न-जगत में भी स्वप्न-द्रष्टा के आवेग तथा विचारों पर आधारित 'अवास्तविक' जगत की अनुभूति होती है। यदि हमारे स्वप्न-जगत की ऊपर कही गयी दोनों बातें मिथ्या हैं तो जाग्रतावस्था के वास्तविक दृष्ट-पदार्थ और 'अवास्तविक' विचार-जगत दोनों निश्चय से मिथ्या होंगे।

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥११॥

यदि 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न' अवस्था में दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ मिथ्या हैं तो कौन इन्हें अनुभव करता है और कौन इनकी कल्पना करता है।

शंका करने वाला यह प्रश्न कर सकता है जिसे इस मन्त्र में समझाया गया है। तो समस्या यह हुई कि यदि वेदान्तवादियों के मतानुसार 'जाग्रत' और 'स्वप्न' अवस्था के दृष्ट-पदार्थ तथा मानसिक विचार मिथ्या हैं तब किसी ऐसे अनुभव करने वाले की अवश्य सत्ता होगी जो इन दोनों का ज्ञान रखता है। यहाँ शंका करने वाले यह प्रश्न करते हैं कि यदि सब कुछ मिथ्या है तो इनके पीछे कोई न कोई वास्तविक तत्व अवश्यमेव होगा। यदि ऐसा है तो इन पदार्थों का द्रष्टा, मानसिक तरंगों को अनुभव करने वाला तथा विचारों का ज्ञाता कौन हो सकता है ?

यहाँ इस प्रश्न को पूछने में एक गूढ़ रहस्य निहित है। यदि वेदान्तानुयायी इस वास्तविक सत्ता को न बता पाएँ तो वे स्वयमेव 'आत्मा' से सम्बन्धित उक्ति का खण्डन कर देंगे। किसी बात को स्मरण रखने तथा ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी कर्त्ता (अनुभवी) का होना अनिवार्य्य है। पदार्थ ज्ञान के लिए भी किसी ज्ञाता का होना आवश्यक है। इस विचार से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि इस मिथ्या संसार का द्रष्टा अथवा ज्ञाता कौन है ? जो व्यक्ति सामान्य पदार्थों की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए बुद्धि का आश्रय लेते हैं वे वेदान्त-शास्त्र के अनुयायियों को खुले रूप से अपना मत मानने लिए बाध्य करना चाहते हैं ।

कल्पयत्यात्मनात्मानामात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ॥१२॥

वेदान्त-दर्शन में यह बात निश्चय-पूर्वक कही गयी है कि दिव्य आत्मा अपनी माया-शक्ति के द्वारा अपने-आप में स्वयं सभी पदार्थों की कल्पना करता है और वह बाह्य एवं भीतर के जगत में व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त करता रहता है । जिन पदार्थों की वह (आत्मा) सृष्टि करता है उनका यह एकमात्र ज्ञाता है ।

पिछले मन्त्र में हमने देखा कि एक व्यक्ति द्वारा यह प्रश्न किया गया कि बाहर और भीतर के जगत की अनुभूति अथवा इसे प्रकाशमान करने वाला कौन है । इस मन्त्र में ऋषि ने इस शंका का समाधान किया है । वेदान्त में पदार्थमय दृष्ट संसार को मिथ्या कहा गया है क्योंकि यह जीवन-स्फुलिंग आत्मा पर आरोपमात्र है । शुद्ध-चैतन्य आत्मा अपनी माया के द्वारा मुग्ध होकर अपने आप पदार्थमय संसार की सृष्टि करता है जो उसके बिना और कुछ नहीं है क्योंकि यह (आत्मा) सर्वव्यापक तथा अनादि है ।

हमारे लिए इस स्थिति को, जिसमें हम स्वयं माया-विमुग्ध हो कर पदार्थमय संसार की सृष्टि करते हैं, सहसा समझ लेना इतना सुगम न होगा । यदि हम अपने भीतर स्वप्न के अनुभव का विश्लेषण करें तो हमें इस बात का स्पष्ट रूप से पता चल जायेगा । स्वप्न-द्रष्टा का अनुभव उस क्षण प्रारम्भ होता है जब वह अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है । अपने आप को भूल कर अनुभव होने वाले जगत में प्रवेश करने वाली उसकी शक्ति कहीं बाहिर से नहीं आयी; वास्तव में यह शक्ति उसके अपने भीतर विद्यमान है और इसके द्वारा ही वह स्वयं ठगा जाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपनी इस माया-शक्ति के वश में होकर वह निज सहज-स्वभाव को भूल जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप वह मिथ्या जगत में प्रवेश करके 'स्वप्न' में अनेक असत् अनुभवों को प्राप्त करता रहता है। स्वप्न देखते हुए उसे निश्चय होता है कि वह अमुक स्थान पर खड़ा हुआ अपने चारों ओर विशेष ढंग के प्राणी तथा पदार्थों का वातावरण पाता है। चाहे वह कैसी ही परिस्थिति में क्यों न हो उसके स्वप्न का प्रत्येक दृष्ट अंग उसके अपने व्यक्तित्व का ही विस्तृत रूप होता है। स्वप्न में दिखायी देने वाले जंगल के वृक्ष, भूमि पर पड़ी शिलाएँ, प्रवहमान नदी का जाल, मित्र, शत्रु, हिंस्रजन्तु—यहाँ तक कि आकाश, चन्द्रमा, तारे—ये सब स्वप्न-द्रष्टा के अपने मन का बृहद्-स्वरूप ही होते हैं।

जाग्रतावस्था में भी ऐसा अनुभव होता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने से हम भ्रम-वश दृष्ट-संसार में प्रवेश करते हैं जो उस समय तक वास्तविक प्रतीत होता है जब तक हम इस (जाग्रत) अवस्था को अनुभव करते रहते हैं। वास्तव में बाह्य संसार के सभी पदार्थ इस सर्व-व्यापक यथार्थ-तत्त्व का ही रूप हैं। अद्वैत आत्मा में आरोप करने के कारण ही हमें अनेकत्व का अनुभव होता है।

प्रस्तुत मन्त्र में श्री गौड़पाद ने पहली बार हमारे जाग्रत संसार की व्याख्या की है। 'माण्डूक्योपनिषद्' अथवा कारिका में सामान्यतः इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि वास्तव में यह सृष्टि माया है जो तीन-काल में मिथ्या एवं अवास्तविक है। कभी कभी तो श्री गौड़पाद ने अपने उच्चस्तर से नीचे आकर हमारे दृष्ट-संसार की ओर संकेत करके हमें यह समझाने का अनुग्रह किया है कि इस (पदार्थमय-संसार) को उत्पत्ति हमारी भ्रान्ति के कारण ही हुई है।

हमारे साहित्य में इस मन्त्र की बड़ी ख्याति है और बहुधा इसका उल्लेख लेखक, वक्ता और न्यायाचार्यों द्वारा किया जाता है।

सृष्टि-सिद्धान्त के अनुसार अभी इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना शेष है कि "इस माया-स्वरूप संसार का द्रष्टा, ज्ञाता तथा उपभोक्ता कौन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है ?" यहाँ ऋषि ने स्पष्ट रूप से इसका यह उत्तर दिया है कि "वह आत्मा ही है।" अपने बाहिर अथवा भीतर के जगत में हमें जो भ्रान्ति होती रहती है उसको प्रकाशमान करने वाली यह चेतन-स्वरूप आत्मा है।

वस्तुतः इस विषय पर उपनिषदों ने अनेक युक्तियाँ दी हैं जिनके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सभी पदार्थ शुद्ध-चैतन्य आत्मा के द्वारा प्रकाशमान होते हैं। इन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि आकाश को देदीप्यमान करने वाले रवि, शशि तथा तारे भी इस सनातन-तत्व से ज्योति प्राप्त करते हैं। यह बात ठीक भी है क्योंकि यदि यह शाश्वत तत्व न होता तो सूर्य्य, चन्द्रमा और तारे कभी प्रकाशमान न होते। सूर्य्य को ज्योतिर्मान करने वाले हम (आत्म-स्वरूप) ही हैं क्योंकि अर्द्धनिमीलित नेत्रों वाला मृत-व्यक्ति सूर्य्य को नहीं देख सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस शरीर से प्राण पलायन कर चुके हों उसके लिए तो सूर्य भी एक निष्प्राण वस्तु बन कर रह जाता है। यदि हम प्राण-हीन हो जायँ तो रवि, शशि और तारे सब अपना महत्व खोकर अदृश्य हो जाएँगे। अतः शुद्ध चेतन-स्वरूप ही सर्वत्र प्रकाशमान तत्व है।

अतएव वेदान्त में यह सर्व-मान्य घोषणा की गयी है कि हमारे जीवन की चेतना-शक्ति बाह्य संसार के पदार्थों तथा विविध विचार, आवेग, भाव आदि के अन्तर्प्रवाह को जानती रहती है। हमारा स्वप्न-जगत भी इस तेजोमयी चेतना द्वारा प्रकाशमान होता है। यह आत्मा की ज्योति है जो हमारे लिए जाग्रतावस्था में दिन की स्थूल रोशनी को ज्योतिर्मान करती है।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियताँश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥१३॥

अधिष्ठातृ-देव 'आत्मा' अपने मन को अन्तर्मुखी करके बाह्य संसार तथा भीतरी जगत के विभिन्न पदार्थों को कल्पना करता है। ये दोनों (जगत) मन की वासनाओं या संस्कारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अथवा कामनाओं के रूप में पहले से ही विद्यमान होते हैं। ऐसे ही 'आत्मा' अपने मन को अपने भीतर करके विविध भावों तथा पदार्थों की कल्पना करता है।

हमारे भीतरी मिथ्या जगत का द्रष्टा, ज्ञाता और साक्षी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री गौड़पाद यहाँ दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि यह 'आत्मा' ही द्रष्टा है। वेदान्त का अध्ययन करने के नाते हमें इस मन्त्र से किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए क्योंकि यहाँ कहा गया है कि "आत्मा अपमे मन को अन्तर्मुख" करता है। वास्तव में आत्मा का कोई मन नहीं है। मन तो आत्मा में आरोपमात्र है और जब यह (मन) बहिर्मुख होता है तो विविध स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मा तो सर्वव्यापक है। इसका यह अर्थ है कि हमारी चेतना-शक्ति मन तथा बुद्धि को उपाधि ग्रहण करके (अर्थात् जीवात्मा के रूप में) बाह्य संसार को देखती रहती है जिससे इसे पदार्थमय संसार भासित होता है।

इस तरह मन एवं बुद्धि के उपकरण से अपना सम्बन्ध स्थापित करने पर 'आत्मा' एक पृथक् व्यक्तित्व ग्रहण कर लेता है जिसे 'जीव' कहा जाता है। यह जीवात्मा अपनी वासनाओं में से देखता हुआ विविध पदार्थमय अन्तर्जगत को अनुभव करके इसमें अपने राग-द्वेष, स्पृहा-ईर्षा आदि असंख्य आवेगों का आरोप करता रहता है। इस प्रकार इसे अनेक अनुभव प्राप्त होते हैं। इन मिथ्या अनुभवों का योग-फल ही जीवन कहा जाता है जिसकी जाग्रतावस्था में हमें अनुभूति होती रहती है। यदि यह जीवन-केन्द्र 'आत्मा' क्रियमाण न हो तो हमारा मन इस शरीर की सहायता से कुछ भी न देख पायेगा जिससे हमें किसी भी अनुभव की प्राप्ति न हो सकेगी। इस कारण यह कहना न्याय-संगत होगा कि सभी मिथ्यात्व तथा असत् अनुभवों की मूल-आधार यह दिव्य चेतना-शक्ति ही है।

वास्तव में बहिर्मुखी होने से ही अनेकता का अनुभव हो पाता है। इस भाव को अन्य उपनिषदों में भी बड़ी योग्यता से समझाया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'कठोपनिषद्' में विशेष रूप से कहा गया है कि यह "बहिर्मुखी दृष्टि" ही प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध रखती है और इससे बचने का एकमात्र उपाय 'अन्तर्मुखी दृष्टि' को अपनाना है। जब यह चेतना-शक्ति बाह्य संसार के साथ साथ शरीर, मन और बुद्धि से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अन्तर्मुखी होती है तो यह आत्म-ज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर लेती है अर्थात् यह अपने वास्तविक स्वरूप से साक्षात्कार कर लेती है। इसे 'आत्मानुभूति' कहा जाता है और इस विधि को अपनाने से हम विविध पदार्थों वाले मिथ्या-जगत से मुक्त हो सकते हैं।

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥१४॥

जब तक हमारे मन में कामना बनी रहती है तब तक हम अपने भीतर बहुत कुछ अनुभव करते हैं और दो काल में दिखायी देने वाले बाह्य इन्द्रिय-विषय की अनुभूति करते रहते हैं; किन्तु ये दोनों (जगत) कल्पनामात्र ह। इन दोनों के पारस्परिक भेद को जानने के लिए कोई विशेष उपकरण नहीं है।

जो व्यक्ति 'वेदान्त' में आस्था नहीं रखते वे यहाँ शंका करते हैं कि जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था के दृष्ट-पदार्थों में भेद पाया जाता है। इस विचार-धारा वाले कहते हैं कि हमारे भीतर का जगत् केवल एक काल-विन्दु पर आश्रित है जब कि स्थूल संसार के पदार्थों में कालान्तर पाया जाता है।

ये व्यक्ति ऐसी धारणा करते हैं कि हमारे मन म उठने वाला कोई संकल्प उस समय तक वहाँ रह तथा प्रकट हो पाता है जब तक उसको सत्ता बनी रहती है; किन्तु स्थूल संसार के पदार्थ, चाहे ये प्रकट हों या नहीं, कुछ काल तक अवश्य बने रहते हैं। इस विचार वाले विद्वान कहते हैं कि हमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्न तब तक दिखायी देता है जब तक यह भावना हमारे मन में दृढ़ रहती है; परन्तु इस प्रत्यक्ष संसार में एक वस्तु की धारणा किसी और समय की दूसरी वस्तु के प्रसंग में की जा सकती है। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि—"सुरेन्द्र बस के आने तक यहाँ रहेगा।" यहाँ सुरेन्द्र का जाना बस के आने पर निर्भर है और यह बात भविष्य में घटित होनी है। इसलिए यहाँ पर यह आपत्ति केवल 'जाग्रत' और 'स्वप्न' अवस्था के भेद को दिखाने के लिए की जाती है। यह बाल की खाल उतारना नहीं तो और क्या है ?

ऊपर बतायी गयी विचार-धारा वाले 'जाग्रत' संसार को इस कारण मानते हैं कि यहाँ समय के अन्तर की धारणा की जाती है अर्थात् दो घटनाओं को उनके घटित होने के कालान्तर की दृष्टि से जाना जा सकता है जब कि स्वप्न-जगत् के पदार्थ हमारे मन में ही सीमित रहते हैं और हमारे मन में कोई और विचार आने पर ये तुरन्त लुप्त हो जाते हैं।

श्री गौड़पाद ने इस युक्ति का बलपूर्वक खण्डन किया है क्योंकि उन के विचार में यह युक्ति पूर्णरूप से अमान्य है। ऋषि कहते हैं कि जाग्रतावस्था के जिस कालान्तर का हवाला दिया जाता है वह केवल हमारी मानसिक कल्पना के कारण प्रतीत होता है। यह उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार हमारा स्वप्न-जगत्। अतः इन्होंने यह परिणाम निकाला है कि इन दोनों ('जाग्रत' तथा 'स्वप्न') अवस्थाओं के दृष्ट-पदार्थों में उपरोक्त आलोचक किसी प्रकार का भेद नहीं बता पाये हैं।

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥१५॥

मन के भीतर ही रहने वाली कल्पनाएँ, जो अव्यक्त रूप से वहाँ बनी होती हैं, तथा ऐसे विचार जो बाह्य संसार में प्रकट हो कर हमें दृष्ट-पदार्थों का ज्ञान कराते हैं--ये दोनों मिथ्या हैं। यदि इनमें कोई भेद पाया जाता है तो यह है कि इन्हें अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ विभिन्न हैं जिस कारण बाह्य संसार वास्तविक प्रतीत होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थूल संसार तथा सूक्ष्म जगत् में भेद दिखाने के उद्देश्य से अब एक और शंका उठायी जाती है। वह यह है कि यदि इन दोनों (अवस्थाओं) की तुलना की जाए तो इन में कम से कम यह भेद तो अवश्य पाया जायेगा कि जाग्रत-संसार व्यक्त है और स्वप्न-जगत् पूर्ण रूप से अव्यक्त है। अतएव ऐसा दिखायी देता है कि आलोचक प्रत्यक्ष संसार में वास्तविकता कहीं अधिक मात्रा में पाता है।"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ श्री गौड़पाद ने कहा है कि ये दोनों अवस्थाएँ, चाहे वे व्यक्त हैं अथवा अव्यक्त, कल्पनामात्र हैं। हम इनको व्यक्त या अव्यक्त इस कारण देखते हैं कि इन्हें अनुभव करने वाली हमारी इन्द्रियाँ विभिन्न हैं। हमारे भीतरी जगत् के विचार अव्यक्त होते हैं किन्तु जब ये प्रकट रूप में आते हैं तब इन्हें हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करती तथा समझती हैं। स्वप्न-जगत् में दिखायी देने वाले पदार्थ अस्पष्ट, आवेष्ठित तथा सारहीन प्रतीत होते हैं क्योंकि इन्हें पहचानने का एकमात्र उपकरण मन होता है और उस में भी नियंत्रण एवं विवेक शक्ति का अभाव होता है।

इसके विपरीत 'जाग्रत' संसार के स्थूल-पदार्थ अपेक्षतः अधिक स्पष्ट, वास्तविक और सारयुक्त मालूम देते हैं क्योंकि 'जागने वाला' इन्हें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विशेष रूप से पहचानता है। इन इन्द्रियों के कार्य्य में हमारी सक्रिय विवेक-बुद्धि भी सहायक होती है। जब हमारी क्रियमाण विवेक-शक्ति इन शक्तिशाली उपकरणों की सहायता से बाह्य-पदार्थों को अनुभव करती है तब हमें ये स्वभावतः अधिक स्पष्ट रूप में दिखायी देते हैं जिस कारण हम इन वस्तुओं की वास्तविकता में अधिक विश्वास रखते हैं। वस्तुतः इन दोनों में समानता पायी जाती है और वह है इस का मिथ्या होना क्योंकि इनकी उत्पत्ति हमारे मन के खेल के कारण ही होती है।

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथा विद्यस्तथा स्मृतिः ॥१६॥

पहले-पहल 'जीव-भावना' की कल्पना होती है और तत्पश्चात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भीतरी तथा बाहरी भावों का अलग-अलग प्रकाश होता है । (जिस वस्तु का) हमें जितना ज्ञान होता है (उस वस्तु की) उतनी ही स्मृति रहती है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारे बाह्य-संसार एवं भीतरी जगत् की सभी वस्तुएँ कोरी कल्पना हैं तो इस (कल्पना) का आदि-स्रोत क्या हुआ ? ऐसा दिखायी देता है मानो शंका करने वाला व्यक्ति वेदान्त की इस शक्ति का समर्थन करता है कि जाग्रतावस्था के संसार को हम उतना ही महत्त्व दे सकते हैं जितना स्वप्न-जगत् को । अब यह आलोचक वेदान्त के दृष्टिकाण को समझने का यत्न कर रहा है और इस तरह प्रश्न करता है—"हे वेदान्ती ! जैसा आप कहते हैं, यदि हमारे भीतर तथा बाहर के दृष्ट-पदार्थ कल्पना के बिना और कुछ नहीं हैं तो इनका आदि-स्रोत क्या हुआ ? यह केवल मन नहीं है क्योंकि यह तो निष्प्राण एवं निष्क्रिय जड़-पदार्थ है । यदि हम 'आत्मा' को इसका उद्गम मानें तो यह भी अयुक्त होगा क्योंकि यह (आत्मा) तो विशुद्ध ज्ञान है और इस (ज्ञान) में मिथ्यात्व का अस्तित्व नहीं रह सकता ।"

इस शंका का समाधान करते हुए श्री गौड़पाद कहते हैं कि 'आत्मा' से 'जीव-भावना' का पृथक्त्व कल्पनामात्र है । जीवात्मा पृथकता का भाव लिये प्रकट होता है । इसके बाद मन की उत्पत्ति हुई और तब मन की चेतना अपने विचार-धारा रूपी तड़ाग में प्रतिबिम्बित हुई । अब जीवात्मा, जो वास्तविक दिखायी देती है, अपने आचार और व्यवहार को उस प्रतिबिम्ब के उपकरण (मानसिक स्थिति) के अनुसार बदल देता है । झील-रूपी मन में प्रतिबिम्बित होने वाला 'जीव' कर्ता तथा उपभोक्ता होता है । यही दुःख सहन करता तथा इससे मुक्ति पाता है और यह 'जीव' ही साधक और 'सिद्ध' की पदवि प्राप्त करता है । जब इस जीव-भावना का आरोप आत्मा में होता है तो इससे अनेक प्रकार का भ्रम हो जाता है और यह भ्रान्ति-पूर्ण आवरण हमें अपने वास्तविक स्वरूप से छिपाये रखता है । परिणामतः यह विमूढ़

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवात्मा इन्द्रियों तथा मन की सहायता से स्वरचित स्वप्न-जगत् में प्रवेश करके विविध नाम-रूप पदार्थों का अनुभव करता है। वस्तुतः यह (जीवात्मा) स्वयं इनकी व्यवस्था करता है और इसकी इच्छा सम्बन्धित व्यक्ति की अव्यक्त वासनाओं पर निर्भर होती है। श्री गौड़पद ने इस सूक्ष्म भाव को इस संक्षिप्त उक्ति द्वारा बड़े चातुर्य्य से वर्णन किया है—"किसी वस्तु की हमें उतनी ही स्मृति होती है जितना उसका ज्ञान।"

यह एक महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसमें अमूल्य रहस्य निहित है।

घटना-क्रम, जो हमें कर्म-बन्धन में फँसाये रखता है, इस प्रकार समझाया जा सकता है। आइए, इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें। एक ग्रामीण, जो कभी सिनेमा घर में नहीं गया, अपने मन में कई आकाँक्षाएँ रखता है परन्तु उसकी इन इच्छाओं में सिनेमा घर जाने की आकाँक्षा का समावेश नहीं होगा। यह ठीक इस तरह होगा जैसे हम दिल्ली में रहते हुए अनेक इच्छाएँ रखते हैं किन्तु इनमें बर्फ़ पर चलने की इच्छा का अस्तित्व नहीं रह सकता।

यदि यह ग्रामीण किसी नगर में आकर बार-बार सिनेमा के विषय में बातें सुने तो उसमें सिनेमा की भावना का संचार हो जायेगा और तब वह सिनेमा देखने के लिए वहाँ से चल पड़ेगा। सिनेमा घर से लौटने पर उसे उस मनो-विनोद का ज्ञान हो जायेगा और बाद में वह सिनेमा से सम्बन्धित अपने ज्ञान द्वारा प्रेरित हो कर रजत-पट के आह्लादकारी चित्र देखने के लिए सिनेमा घर जाने लगेगा। इस तरह हम देखते हैं कि उसकी स्मृति का नियंत्रण तथा निदेश उसके 'अनुभूत' ज्ञान द्वारा होता है।

अब वह ग्रामीण सिनेमा घर जाने तथा उससे आनन्द लेने, जो 'कारण' और 'कार्य' हैं, की दोनों क्रियाओं को परस्पर मिला देता है। तदनन्तर यह जिस क्षण परिणाम की प्राप्ति का इच्छुक होगा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसी क्षण वह उन कारणों को प्रत्यक्ष रूप से अपने समक्ष रखने के लिए प्रयत्नशील रहेगा और जब तक उसे उपरोक्त फल प्राप्त नहीं होता तब तक वे कारण उस के मानसिक क्षेत्र में मुख्य रूप से क्रियमाण होते रहेंगे।

परिश्रम करने, खाने-कमाने तथा प्राप्त करने के लिए हमें दो भाव प्रेरित करते रहते हैं। वे हैं 'भोजन का ज्ञान' और 'तुष्टि का ज्ञान'। हम भोजन प्राप्त करने के लिए घोर प्रयत्न इस कारण करते हैं कि इसके द्वारा हमें सन्तोष मिलेगा। हमारी सब प्रकार की इच्छाओं और इच्छा द्वारा चालित क्रियाओं में यह नियम पूर्णरूप से लागू होता है। इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि (किसी वस्तु के) ज्ञान के अनुपात से ही (उस वस्तु की) स्मृति होती है। यदि हमें किसी वस्तु का ज्ञान हो नहीं तो भला हम उसे किस प्रकार स्मरण रख सकते हैं ? हमारा ज्ञान ही हमारी स्मृति की उपाधि ग्रहण करता है।

अनिश्चितः यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तदात्मा विकल्पितः ॥१७॥

जिस तरह अन्धेरे में रस्सी को, उसके वास्तविक स्वरूप को न समझते हुए, साँप, जल-धारा आदि जाना जाता है वैसे ही 'आत्मा' की भी विविध प्रकार से कल्पना की जाती है।

यह कहा जा चुका है कि 'जीव-भाव' की कल्पना करने से ही अन्य विचार एवं भावों की उत्पत्ति होती है। तो फिर यह जीव-भावना किस कारण होती है ? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण द्वारा दिया जाता है जो समूचे वेदान्त-शास्त्र में सुविख्यात है। अन्धकार में जब हम रस्सी को समझ नहीं पाते तो हमें इससे सर्प का मिथ्याभास होता है। दिखायी देने वाले सर्प के आकार आदि की भावना केवल हमारे मन द्वारा कल्पित की जाती है और वह सर्प-दर्शन वस्तुतः उस रस्सी के यथार्थ-स्वरूप में आरोपमात्र है। एक व्यक्ति इसे साँप समझता है, दूसरा एक छड़ी, तीसरा जल की रेखा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और चौथा भूमि की सतह पर होने वाली एक दराड़ । ये विविध कल्पनाएँ इस कारण हुई कि इन व्यक्तियों को प्रारम्भ में ही रस्सी के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न था । यदि इन्हें रस्सी का पूर्ण ज्ञान होता तो उसमें अन्य पदार्थों का 'दर्शन' कभी नहीं हो सकता ।

ऐसे ही 'आत्मा' की भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा विविध रूप से व्याख्या की गयी है । किसी ने इसे जीवात्मा कहा है, किसी ने 'प्राण' और किसी ने मन । संक्षेप में इसे जीव, प्राण, मन, बुद्धि, शरीर आदि भी समझा गया है । अविद्या के घोर तिमिर में पड़े हुए जब हम इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं का 'आत्मा' में आरोप करने लगते हैं तो हमें हर्ष-विषाद, विद्या-अविद्या, जय-पराजय, आशा-निराशा आदि विविध भ्रान्तियाँ 'आत्मा' में ही प्रतिबिम्बित होती प्रतीत होती हैं । वास्तव में यह विशुद्ध, चेतन-शक्ति (आत्मा) इन लक्षणों से सर्वथा अछूती है क्योंकि ये तो इस वास्तविक तत्त्व में आरोप ही हैं ।

इस प्रकार के भ्रम हमें इस कारण होते हैं कि हम सर्व-व्यापक 'आत्मा' के शुद्ध स्वभाव का ज्ञान नहीं रखते । सभी उपनिषदों ने इस तथ्य का पूर्ण रूप से समर्थन किया है । जिस क्षण हमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होगा उसी क्षण हमें जन्म, बुद्धि, रोग, जरा, मृत्यु आदि के विषय में पता चल जायेगा कि वस्तुतः इनकी आत्मा में स्थिति नहीं बल्कि ये सब आत्मा में आरोपमात्र हैं ।

इतना होने पर भी साँप का मृदुल चर्म, उसका उज्ज्वल आकार, भयानक फन और विषैले दाँत—ये सब मिथ्या सर्प में लुप्त हो जायगे न कि उस रस्सी में, क्योंकि रस्सी में ही सर्प का आरोप किया गया था । रज्जु में 'सर्प' की भावना होने से हम उसके लेशमात्र अंश को भी मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकते ।

निश्चितायां यथा रज्ज्वाँ विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मा विनिश्चयः ॥१८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जब रस्सी का वास्तविक स्वरूप जाना जाता है तब उससे सम्बन्धित सभी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं । उस समय (हमें) यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह एक अपरिवर्तनीय रस्सी है । विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप 'आत्मा' के सम्बन्ध में यही बात घटित होती है ।

जब तक हमें रस्सी के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक हमें उसमें सर्प या छड़ी अथवा जल-रेखा या फटी हुई भूमि की भ्रान्ति होती रहती है । जब हम इस भ्रम की जानकारी प्राप्त करके इसके वास्तविक स्वरूप (रस्सी) को जान लेते हैं तो उसमें हमारे सभी आरोप तुरन्त अदृश्य हो जाते हैं ।

ठीक ऐसे आत्मा की खोज कर लेने पर (इसमें) हमारे सभी आरोप इस प्रकार लुप्त हो जाते हैं मानो किसी ने जादू वाली छड़ी का स्पर्श कर दिया हो । जब हम विवेक-पूर्ण विश्लेषण द्वारा इन्द्रियों में लिप्त मन को हटा लेते हैं और साथ शरीर, मन तथा बुद्धि सरीखे निकटतर उपकरणों से अपने व्यक्तित्व को अलग कर देते हैं तब हमारी चेतना-शक्ति अपने केन्द्र की ओर ही आकर्षित हो जाती है । ऐसे सौभाग्यशाली अवसर पर ज्ञान-स्वरूप आत्मा स्वयमेव आलोकित हो उठती है ।

यदि हम एक बार इस शाश्वत दैवी जीवन-तत्त्व को जान लेते हैं (अर्थात् हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है), जो हमारी जीव-भावना तथा भ्रान्ति का आधारभूत है, तो इस अनेक रूप वाले मिथ्या संसार तथा अन्य भ्रान्तियों के बन्धन से हमें मोक्ष मिल जाता है ।

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥१६॥

विविध भावनाओं से 'आत्मा' को प्राण आदि माना जाता है । यह सब अपने आप प्रकाशमान आत्मा का ज्ञान न होने के कारण (अर्थात् 'माया' के द्वारा) होता है । इस (माया) से ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह भ्रन्ति उत्पन्न होती रहती है ।

अद्वैतवादियों को छोड़ कर भारत के सभी धर्म-ग्रन्थ और दर्शनाचार्य्य बाह्य पदार्थमय संसार की वास्तविकता में विश्वास रखते हैं और इस कारण वे हमें यह बताते हैं कि इस (संसार) की उत्पत्ति किस प्रकार और क्यों हुई ।

इस तरह हम देखते हैं कि कोई दार्शनिक कृति उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती जब तक उसमें सृष्टि, अनुभव तथा प्राप्ति के उपायों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का प्रतिपादन न किया गया हो । यहाँ सृष्टि-सम्बन्धी विचारों को एक-एक कर के लिया गया है जिससे हम विविध विचार-धाराओं और उन के विभिन्न साधनों को भली-भाँति समझ सकें । इन सबका यहाँ इस उद्देश्य से संकलन किया गया है कि हम इनकी अनुपादेयता को जान कर इन्हें त्याज्य मान लें । वास्तविक-सत्ता के दृष्टि-कोण से सृष्टि-सिद्धान्त अमान्य है ।

अद्वैतवादियों का मत है कि 'आत्मा' ही अनेक नाम-रूप उपाधियाँ ग्रहण करता है, जैसे 'प्राण', 'पुरुष' इत्यादि । एक विचार धारा के अनुसार इस (आत्मा) का क्रियमाण पक्ष 'प्राण' है जो संसार के सभी जड़ पदार्थों को चेतना प्रदान करता है; जब कि पूर्ण-स्वरूप 'पुरुष' (आत्मा) द्वारा चेतना-युक्त प्राणियों की सृष्टि की जाती है । इस प्रकार द्वैतवादियों ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप के विषय में सहस्रों कल्पनाएँ की हैं । इसके विपरीत वेदान्ती यह कहते हैं कि पदार्थमय सृष्टि केवल भासमान होती है जब कि हम आत्म-स्वरूप 'आत्मा' की यथार्थता को भूल कर इस (विश्व) की सत्ता को देखते प्रतीत होते हैं ।

वैसे उपनिषद् तथा अन्य ग्रन्थों में असंख्य सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त बताये गये हैं । कई श्रुतियों में केवल तीन तत्त्वों का बखान किया गया है और कहीं तो पाँच तत्त्वों की व्याख्या की गयी है । कतिपय ग्रन्थ हमें यह बताते हैं कि सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के स्पन्दित होने के फल-स्वरूप सृष्टि प्रकट हुई जब कि कई जगह यह कहा गया है कि सृष्टि सहसा दृष्टि-गोचर हुई है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जो व्यक्ति यह विश्वास रखते हैं कि यह सृष्टि तथा इसके विविध पदार्थ मिथ्या हैं उनकी दृष्टि में सृष्टि से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त कोई महत्व नहीं रखते तो भी अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था में साधक को इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी दी जाती है। विद्यार्थी की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक होने के कारण पदार्थमय जगत की सृष्टि की व्याख्या की जाती है क्योंकि उसके मानसिक विकास के प्रारम्भ में यह (संसार) उसे वास्तविक दिखायी देता है। वस्तुतः सभी 'उपनिषद्' अन्त में विद्यार्थियों को परमात्म-तत्त्व के उच्चतम स्तर तक पहुँचा देते हैं जहाँ से यह संसार तथा इसके विभिन्न नाम-रूप मिथ्या और अवास्तविक दिखायी देते हैं।

अगले मन्त्रों में हमें सृष्टि के प्राय. ३५ ऐसे सिद्धान्तों अथवा दृष्टिकोणों का पता चलेगा जो श्री गौड़पाद के जीवन-काल में प्रचलित थे। ये सबके सब दार्शनिक भावों से पूर्ण नहीं हैं। इनमें से कुछ तो उस समय अधिक प्रसिद्ध थे। ऋषि ने इन्हें क्रमानुसार व्यवस्थित करने का रत्ती भर कष्ट नहीं किया। अपने विचारों को लेखनीबद्ध करते समय उन्हें जिस जिस मत का ध्यान आया उसे उन्होंने लिख दिया। वे तो विरक्ति भाव से इनको छन्दोबद्ध कर पाए। ऐसा करना ठीक भी था क्योंकि खम्भे में भासमान होने वाले 'भूत' का जीवन-चरित्र लिखना क्योंकर सम्भव हो सकता है ?

श्री शंकराचार्य्य ने भी अपने भाष्य में इन तुच्छ एवं महत्वहीन बातों को ओर तनिकमात्र ध्यान नहीं दिया।

इतना होने पर भी हमारे युग के कुतूहल-पूर्ण विद्वानों का इन विचारों को पढ़ने से पर्याप्त मनोरंजन होगा। इसलिए हम बीच बीच में इन विचारधाराओं का विश्लेषण करेंगे। इससे शायद हमें यह पता चल सके कि आध्यात्मिक साहित्य की रचना किसी विद्वान व्यक्ति द्वारा सहसा इसलिए नहीं की गयी है कि उस युग के लोगों की अनभिज्ञता का अनुचित लाभ उठाते हुए उन्हें धोखा दिया जाय। इसके विपरीत युग युग में विचारवान् प्रखर-बुद्धि व्यक्ति जीवन की विविध समस्याओं का विश्लेषण एवं गहन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अध्ययन करते आये हैं ताकि वे जीवन के उद्देश्य का यथार्थ रूप से निर्णय कर सके।

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुण इति गुणविदोस्तत्वानीति च तद्विदः ॥२०॥

प्राण को जानने वाले आत्मा को 'प्राण' कहते हैं। भूतों को जानने वाले इसे 'भूत' कहते हैं। जो व्यक्ति गुणों से परिचित हैं वे आत्मा को 'गुण' कहते हैं और तत्व-विद् इसको 'तत्त्व' का नाम देते हैं।

जैसा गत मन्त्र में कहा गया है, अब श्री गौड़पाद 'वास्तविक-तत्त्व' से सम्बन्धित अनेक विचारों तथा अद्वैतवादियों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सृष्टि-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं। इस समय दृष्ट-संसार से सम्बन्ध रखने वाले ३५ विविध सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है।

वैशेषिक मत के अनुयायी समूचे संसार के विविध नाम-रूप का आधार 'प्राण' को मानते हैं। यहाँ प्राण का अर्थ वह वायु नहीं जो हम दिन-रात अपने भीतर खींचते तथा बाहिर फैंकते रहते हैं और जिस श्वास-क्रिया के द्वारा हम जीवित हैं। इस शब्द का यहाँ दार्शनिक विचार से प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है सामूहिक मन अर्थात् हिरण्यगर्भ (स्रष्टा), जिसे वेदान्त द्वारा 'सूत्रात्मा' कहा गया है।

कुछ व्यक्ति हिरण्यगर्भ में इतनी अधिक आस्था रखते हैं कि वे उसकी 'परमात्मा' के रूप में अर्चना करने लगते ह। इन मनुष्यों को हिन्दु-दर्शन में 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है।

श्री गौड़पाद ने यहाँ हर मन्त्र में चार विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है इस तरह प्रति पंक्ति में दो सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया है अथवा हर पंक्ति के पद में एक सिद्धान्त बताया गया है।

प्रस्तुत मन्त्र की पहली पंक्ति के दूसरे 'पद' में चारवाक सिद्धान्त का वर्णन किया गया है जो सृष्टि के अनेकत्व का मूल-आधार है। इसके अनु-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यायी कहते हैं कि समस्त संसार की उत्पत्ति पाँच तत्वों से हुई है। इस विचार-धारा वाले व्यक्तियों को 'लोकायत' कहा जाता है। यहाँ यह कहना हास्यास्पद प्रतीत होगा कि अपनी विशेष अनुभूति में ये 'आकाश' जैसे सूक्ष्म तत्व के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं रखते। इस तरह 'लोकायत' केवल वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नाम के चार तत्वों को संसार का उद्गम मानते हैं।

इसके विपरीत 'सांख्य' यह मानते हैं कि संसार की उत्पत्ति तीन गुणों ('सत्व', 'रजस्' और 'तमस्') से हुई है। ये तीन गुण मनुष्य के मन की प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। इनके विचार में 'प्रलय' संसार की वह अन्तिम स्थिति है जिसमें यह (संसार) अव्यक्त एकरूपता में स्थित रहता है। तब ये तीन गुण सन्तुलित रहते हैं। जब इनका सन्तुलन बिगड़ जाता है तब ये विविध नाम रूप में परिणत होकर पदार्थमय सृष्टि बन प्रकट होते हैं।

'शैव', जो दक्षिण भारत में अधिक हैं, यह विश्वास करते हैं कि 'वास्तविक तत्व' तीन तत्वों के मिलने से बनता है जो 'आत्मा', 'अविद्या' और 'शिव' हैं।

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥२१॥

जो (व्यक्ति) पाद (अर्थात् तीन भाग) से परिचित हैं वे आत्मा को 'पाद' कहते हैं। इन्द्रिय-विषय में आस्था रखने वाले आत्मा को 'विषय' कहते हैं। 'लोक' परम-तत्त्व को 'लोक' कहते हैं और 'देव' इसे इसी (देव) नाम से पुकारते तथा सृष्टि का रचयिता मानते हैं।

'पाद' ऐसा विश्वास रखते हैं कि 'आत्मा' के तीन भाग हैं। इन तीनों को ॐ की उपासना की व्याख्या करते हुए विस्तार से समझाया जा चुका है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि परम-तत्व का निर्माण 'जाग्रत', 'स्वप्न' और 'सुषुप्त' अवस्था के कारण होता है।

'वात्स्यायन' और अन्य ऋषियों के विचार में 'वास्तविक स्वरूप' शब्द,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप रस, गन्ध और स्पर्श से ही बना है।

पौराणिकों की दृष्टि में इस परम-सत्ता का अस्तित्व 'भूः', 'भुवः' और 'स्वः' नाम के तीन लोकों में है।

मीमांसिक, जो वेदों के यज्ञ-भाग (कर्म-काण्ड) में विश्वास रखते हैं, इस सनातन-सत्य को अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के स्वरूप में देखते हैं। वे इन देवों को इसलिए सत्तावान मानते हैं क्योंकि ये कर्म-फल दाता हैं।

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥२२॥

वेदों के ज्ञाता इस (आत्मा) को वेदों में देखत है; यज्ञ करने वाले इसे पवित्र यज्ञों में मानते हैं; भोक्ता इसको 'भोक्ता' कहते हैं और भोज्य पदार्थ को जानने वाले इसे भोज्य (पदार्थों) में विद्यमान पाते हैं।

इस प्रसंग को जारी रखते हुए श्री गौड़पाद यहाँ चार अन्य सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हैं। वेदों के ज्ञाता तो यह विश्वास रखते हैं कि 'वेद' ही इस परम-सत्य के मूल-आधार हैं। बोधायन तथा अन्य प्रकाण्ड विद्वान इस 'सत्ता' को यज्ञों में मानते हैं। उनका यह मत है कि वर्तमान संसार तथा इसके विविध प्राणी, पदार्थ आदि की सृष्टि का कारण वे पवित्र यज्ञ हैं जो पहले-पहल वेद-विधि के अनुसार सत्य भावना तथा श्रद्धा से किये गये। दार्शनिक विचार से यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि सनातन-तत्व, जो असीम शक्ति है, का निर्माण ऐसे यज्ञों के द्वारा नहीं किया जा सकता जिनके ये तीन अंग होते हैं —आहुति, आवाहन पर आने वाले देवता और यजमान। इससे यह बताने का यत्न किया जा रहा है कि परिमित (सत्ता) की प्राप्ति करना एक असम्भव बात है।

सांख्यकी परमात्मा को 'भोक्ता' में धारणा करते हैं। उनका यह विश्वास है कि 'आत्मा' कर्त्ता अथवा अभिकर्त्ता नहीं बल्कि 'भोक्ता' है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ सांख्य मत वालों के सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है।

एक और विचार-धारा वाले, जिन्हे 'सूपकार' कहते हैं, इस अनादि तत्त्व को भोज्य पदार्थों में देखते हैं। यह विचार ऐसा है मानो किसी होटल वाले से यह कहा जा रहा हो कि रसोई घर में बनाये गये भोज्य-पदार्थों की सूची ही परमात्मा के समान महत्व रखती है।

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति तद्विदः।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥२३॥

सूक्ष्मवेत्ता इसे 'सूक्ष्म' कहते हैं और स्थूलविद् इसे 'स्थूल' कहते हैं। मूर्ति-पूजक इसे मूर्ति में देखते हैं और निराकार के उपासक इसको 'निराकार' कहते हैं।

इस मन्त्र में नैयायिकों के सिद्धान्त का हवाला दिया गया है। उनके विचार में यह संसार परमात्मा का 'परिणाम' है। ये 'परिणाम' सामान्यतः तीन प्रकार का होता है—'अणु', 'मध्यम' और 'विभु'। 'अणु' परिणाम के समर्थक यह दावा करते हैं कि सनातन-तत्त्व का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है और उसका अधिष्ठान हमारे हृदय की गुफा के सूक्ष्म भाग में है। इस भाव को यहाँ 'अणु' से भी सूक्ष्म कह कर समझाया गया है।

भौतिकवादी 'लोकायत' कहते हैं कि इस जीवन में हम इस परम-शक्ति को अपने स्थूल शरीर में प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दुओं के दर्शन-शास्त्रों में भौतिकवादियों को तीन स्पष्ट श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ये इस परम-सत्ता को विविध प्रकार से मानते हैं। कुछ व्यक्तियों को 'देहात्मवादी' कहा जाता है क्योंकि ये शरीर को ही आत्मा समझते हैं। 'इन्द्रियात्मवादी' वे हैं जो इन्द्रियों को 'आत्मा' मानते हैं। तीसरी श्रेणी वाले 'मन आत्मवादी' हैं क्योंकि उनके विचार में 'मन' ही आत्मा है।

'अगम' में आस्था रखने वाले अगमी परमात्म-तत्त्व को मूर्त्ति में देखते हैं, जैसे त्रिशूलधारी 'महादेव', सुदर्शन चक्रधारी 'विष्णु', धनुर्धारी 'राम' और वंशीधर 'कृष्ण' आदि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बौद्धों में 'निहिल' कहे जाने वालों ने यह घोषणा की है कि 'आत्मा' वस्तुतः शून्य है। उनके मतानुसार यह 'असत्' है किन्तु इसमें से विविध नाम-रूप प्रकट हुए हैं।

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥२४॥

कालवत्ता इसको 'काल' कहते हैं और दिक्-वेत्ता इसे 'दिशा' कहते हैं। वाद-विद्या विशारद इसे 'वाद' मानते हैं तथा भुवनों (लोकों) को जानन वाले इस तत्त्व को 'भुवन' कहते हैं।

ज्योतिष तथा खगोल के विद्वान् 'आत्मा' अर्थात् 'काल' को संसार का स्रष्टा, पालनकर्त्ता तथा संहर्त्ता मानते हैं; अतः वे 'काल' को ही सत्य-सत्त्व स्वीकार करते हैं। इनके इस सिद्धान्त को रद्द करना कठिन बात नहीं है क्योंकि हम सभी रात-दिन अनुभव करते हैं कि 'काल' अर्थात् समय परिवर्तन-शील है। जो स्वयं बदलने वाला हो भला वह शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील (आत्मा) को किस प्रकार उत्पन्न करेगा ?

एक और विचार-धारा वाले, जिन्हें 'स्वरोदयवादी' कहा जाता है और जो पशु-पक्षियों की वाणी को सुनकर वर्त्तमान तथा भविष्य का अनुमान लगाने में कुशल हैं, इस सर्व-सत्ता को 'दिशा' पर अवलम्बित समझते हैं। ये व्यक्ति जिस दिशा से ये स्वर सुनायी देता है उस ओर जाकर विशेष अनु-मान करते तथा असाधारण ज्ञान प्राप्त करते हैं।

कई अनुवादकर्त्ताओं ने इस शब्द (वाद) का जो अर्थ किया है वह विवादास्पद है। जब हम इसे एक वैज्ञानिक की दृष्टि से देखते हैं तो किसी विवाद के लिए स्थान नहीं रहता। यहाँ 'वाद' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया गया है। श्री आनन्दगिरि ने इसका अर्थ 'धातुवादी', 'मन्त्रवादी' आदि की विद्या किया है। स्फटिक-मणि (Crystals), मंत्र, जड़ी-बूटी आदि की सहायता से ये कौतुक-विद्या का प्रदर्शन करते हैं। इनकी विद्या को वाद कहा जाता है। इस नश्वर पदार्थमय सृष्टि में इन्हें अपनी विद्या में ही 'आत्मा' का दर्शन होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'भुवनरोशवादी' अर्थात् भौगोलिक कहते हैं कि यह परम-तत्त्व वास्तव में १४ लोकों का ही स्वरूप है। इन १४ लोकों का पुराणों में उल्लेख किया गया है।

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥२५॥

मन की सत्ता में दृढ़ विश्वास रखने वाले इसे 'मन' कहते हैं और 'बुद्धि' को मानने वाले इस को 'बुद्धि' कहते हैं। मन की 'चित्' वृत्ति को मानने वाले इसे 'चित्' तथा धर्म एवं अधर्म में आस्था रखने वाले इसको 'धर्म' और 'अधर्म' कहते हैं।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद द्वारा उनके समय में प्रचलित सिद्धान्तों में से हमें चार और सिद्धान्त बताये गये हैं।

अज्ञान में परिभ्रमण करने वाले मन के इस प्रकार के विकार तथा भ्रम वस्तुतः हास्यास्पद हैं।

भौतिकवादियों के विचार में संसार भर में अस्तित्व मन का ही है क्योंकि इस (मन) के न होने पर हम इस संसार के भिन्न अनुभव कभी प्राप्त न कर पाते। एक और विचार-धारा वाले, जिनमें अधिक संख्या बौद्धों की है, कहते हैं कि आत्मा यदि कहीं है तो वह बुद्धि है। उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहता कि सुषुप्तावस्था में मन तथा बुद्धि का अभाव होता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि इस परम-सत्ता (मन और बुद्धि) का सुषुप्तावस्था में अस्तित्व नहीं रहता।

बौद्धों में एक सम्प्रदाय 'योगचरों' का ह जो 'चित्' को परमात्मा मानते हैं। उनका यह कहना है कि चाहे 'मन' विविध पदार्थों को कितना जान ले और 'बुद्धि' इनमें विवेक का कितना उपयोग करे तो भी हमें उस समय तक कोई अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता जब तक इन्हें प्रकाशमान करने वाला तत्त्व 'चित्' इन दोनों की सहायता न करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत मंत्र में तीन विचारधाराओं की ओर संकेत किया गया है। इन्हें हम 'भौतिक' कह सकते हैं। इनमें यदि कोई भेद है तो केवल यह कि ये अपने अपने विचार के अनुसार परमात्मा को अन्तःकरण के एक न एक उपकरण का रूप देते हैं। एक श्रेणी वाले 'संकल्प-प्रधान मन' को महत्व देते हैं, दूसरे 'निश्चय-प्रधान मन' को यथार्थ मानते हैं और तीसरे मन के प्रकाशमान गुण में विश्वास रख कर 'चित्-प्रधान मन' को प्रमुख स्थान देते हैं।

जिस किसी ने चेतना-शक्ति (जीवन) से हीन 'जड़' तथा 'चेतन' पदार्थों को देख लिया है वे कभी इन विचार-धाराओं से सहमत नहीं होंगे।

इस मंत्र में एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसे सामान्यतः मीमांसकों ने अपनाया है। वे सृष्टि का मूल-कारण धर्म (पुण्य) तथा अधर्म (पाप) मानते हैं। इनकी यह धारणा है कि संसार की सृष्टि, स्थिति तथा इति हमारे पूर्व-कर्मों के द्वारा नियमित, नियंत्रित तथा शासित रहती है और इस समय किये जाने वाले हमारे 'पुण्य' तथा 'पाप' भविष्य के संसार का निर्माण करेंगे।

हम यह जानते हैं कि 'धर्म' और 'अधर्म' की सत्ता पारस्परिक है। एक के बिना दूसरे का बना रहना असम्भव है। इस तरह इनकी स्थिति पारस्परिक विषमता पर निर्भर है; अतः इन दोनों को सनातन-तत्त्व नहीं कहा जा सकता। एकही देश पर राज्य करने वाले दो राजाओं को राजा की उपाधि नहीं दी जा सकती क्योंकि ये दोनों एक दूसरे की राज्य सीमा का अतिक्रमण करेंगे।

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंशः इति चापरे।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥२६॥

कई कहते हैं कि यह 'वास्तविक-तत्त्व' २१ प्रकार का है; दूसरे इसे २६ प्रकार का मानते हैं; तीसरे इसको ३१ प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का मानते हैं और चौथी विचार-धारा वाले इसे अनन्त मानते हैं।

श्री गौड़पाद ने इन वर्गों को एकत्रि करके और साथ ही इनकी विचार-धाराओं को समझाने के लिए 'गणित' को ओर संकेत करके इन पर आक्षेप किया है।

सांख्यकी कहते हैं कि परमात्म-तत्त्व का निर्माण २५ विविध तत्त्वों के मिलने से हुआ है। उनके विचार में मूल-प्रकृति में विकृति आने पर 'महत्', 'अहंकार' और '५ तन्मात्राएँ' बन जाती हैं। इन्हें प्रकृति की विकृति कहते हैं। इनमें से प्रत्येक में फिर परिवर्तन (विकार) होता है, जैसे 'महत' का ५ ज्ञानेन्द्रियों, 'अहंकार' का ५ कर्मेन्द्रियों, पञ्च तन्मात्राओं का ५ विषय-पदार्थों और पञ्च तन्मात्राओं का सूक्ष्मतम सत्त्व, जिसे 'मन' कहते हैं, में परिवर्तन होता है। कुल मिला कर ये १६ विकार हुए।

इस तरह सांख्य-मत वालों के अनुसार मूल-प्रकृति, सात विकृतियाँ, सोलह विकार और 'पुरुष' (२५ तत्त्व) दृष्ट-संसार के मूल-तत्त्व हैं जिनके योगफल को 'परमात्मा' कहते हैं।

वे योगी, जिनका प्रतिनिधित्व मुनि पातञ्जलि करते हैं, इन २५ तत्त्वों में 'ईश्वर-तत्त्व' को मिलाकर २६ तत्त्वों के योग को वास्तविक-तत्त्व मानते हैं।

एक और विचार-धारा वाले, जिन्हें 'पाशुपत' कहते हैं, ३१ तत्त्वों को मिला कर 'आत्मा' का रूप देते हैं। जब हम इनके ग्रन्थों का गहन अध्ययन करते हैं तब हमें कुल मिला कर ३६ तत्त्वों का पता चलता है। ये हैं— (१) शिव, (२) सुख, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) विद्या, (६) पुरुष, (७) माया, (८) काल, (९) नियति, (१०) कला, (११) अविद्या, (१२) राग, (१३) अव्यक्त प्रकृति, (१४)महत्, (१५) अहंकार, (१६) मनस्, (१७) से (२१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (२२) से (२६) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (२७) से (३१) पाँच तन्मात्राएँ और (३२) से (३६) पंच तत्त्व। यहाँ श्री गौड़पाद ने ३१ तत्त्वों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का वर्णन किया है। सम्भव है उन्होंने उपरोक्त पाँच तत्त्वों (काल, नियति, कला, अविद्या और राग) की, जो माया के अन्तर्गत माने जाते हैं अलग गणना न की हो और केवल 'माया' का उल्लेख करना पर्याप्त समझा हो।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि असंख्य तत्त्व मिल कर इस परम-सत्ता को प्रकट करते हैं।

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः।
स्त्रीपुंनपुंसकंलिंगाः परापरमथापरे ॥२७॥

लौकिक, जो दूसरों को प्रसन्न करना जानते हैं, इस (परम-तत्त्व) को लोक (संसार) को प्रसन्न करने की क्रिया कहते हैं; जो आश्रम-धर्म का पूर्ण रूप से पालन करते हैं, वे 'आश्रम' मानते हैं। वैयाकरणों की धारणा है कि यह पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिङ्ग ही है और दूसरे इस को 'पर' तथा 'अपर' कहते हैं।

समाज-सेवा तथा राष्ट्र के हितों की चिन्ता में रत रह और अपनी पूरी शक्ति लगा कर संसार को समृद्धि-शाली बनाने वाले 'लौकिक' कल्याणकारी पर सेवा को ही 'परमात्मा' मानते हैं।

राजा दक्ष प्रभृति पुराण-काल के विद्वान् कहते हैं कि अपने-अपने आश्रम में रह कर सभी आश्रम-धर्मों का विधि-पूर्वक पालन करना ही 'सनातन-तत्त्व' का रूप है और इस पदार्थमय जगत् में इसी साधन को अपनाना श्रेय-स्कर है।

व्याकरणाचार्य्यों की दृष्टि में यह महान् शक्ति पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में विद्यमान् है।

एक और विचार-धारा वाले, जो वेदान्त मत वालों में पाये जाते हैं, यह विश्वास करते हैं कि सर्वशक्तिमान् के दो रूप हैं जिन्हें हम 'पर' और 'अपर' ब्रह्म कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः,
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥२८॥

सृष्टिवेत्ता इस को 'सृष्टि' कहते हैं और लय में श्रद्धा रखने वाले इसे **'लय'** कहते हैं। (विश्व की) स्थिति को मानने वाले इसे 'स्थिति' कहते हैं। वास्तव में ये सब विचार 'आत्मा' के कल्पित नाम हैं।

इस अंतिम मंत्र में श्री गौड़पद ने अपने समय में प्रचलित सिद्धान्तों की व्याख्या को समाप्त कर दिया है। पुराण-मत के अनुयायी तीन दलों में विभक्त किये गये हैं। कुछ तो यह विश्वास करते हैं कि इस संसार की प्रति-क्षण सृष्टि होती रहती है; दूसरे इसे निरन्तर लीन होते देखते हैं और तीसरी विचार-धारा वाले संसार की स्थिति में ही आस्था रखते हैं। इस तरह ये पौराणिक परम-तत्त्व को संसार की सृष्टि, स्थिति और लय में देखते हैं।

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावाप्त स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैतितम् ॥२९॥

साधक केवल उस भाव को अनुभव करता है जिसे उसके गुरु ने उस समझाया है। उस अनुभव पदार्थ का स्वरूप **'आत्मा'** द्वारा धारण किया जाता है जिससे उस (साधक) की रक्षा होती है। उस भाव के उपकरण से ही वह (साधक) एकमात्र सत्य को अनुभव कर लेता है।

सृष्टि के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करने के बाद अब श्री गौड़पाद इन सब को निरर्थक सिद्ध करते हैं। यहाँ एक ही विद्वत्तापूर्ण भाव से उन सब सिद्धान्तों को, जो आत्मा के गुण, स्वभाव, विशेषण आदि पर आरोपमात्र हैं, एकदम रद्द कर देते हैं। ऋषि की राय में इन सिद्धान्तों के मानने वाले द्वतवादी, जो परस्पर वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं, एक मिथ्या आध्यात्मिक प्रवृत्ति का शिकार हो रहे हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधक को उसका गुरु चाहे कोई भाव समझाए उसका एकमात्र उद्देश्य 'आत्मा' को अनुभव करना है परन्तु इस बात को समझ लेने के बाद वह अपने संकीर्ण विचार में इतना लीन हो जाता है कि इस अन्ध-विश्वास के कारण वह 'सत्य' को नहीं जान पाता। इस प्रकार वह न केवल इस वास्तविक तत्त्व को अनुभव करता है बल्कि अपने मार्ग पर चलते-चलते उस 'सत्य' की आत्मानुभूति भी कर लेता है।

संसार में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इस तथ्य के समर्थन में कई ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते हैं। एक समय वह था जब मनुष्य विविध देवी-देवताओं में विश्वास करते और अपने युग के दृष्टि-कोण को अपनाते थे। आजकल भी हिमालय की सुरम्य घाटियों में कई ऐसे दूरस्थ गाँव हैं जिनके निवासी ऐसे देवी-देवताओं की उपासना करते हैं जिनका पौराणिक ग्रथवा बौद्ध ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं। ये ग्रामीण अपने देवी-देवताओं से भयभीत रहते हैं और जब वे इन 'स्थानीय' दैवी शक्तियों से वर्षा अथवा धूप की याचना करते हैं, इनकी इच्छाएँ फलीभूत हो जाती हैं।

यह बात मान्य है कि मनुष्य निरन्तर एक विचार का श्रद्धा-पूर्वक अनुकरण करने से आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर सकता है। "जैसी धारणा, वैसी अनुभूति" यह जीवन का एक अटल नियम है।

हम व्यक्तिगत रूप से निर्माण अथवा विनाश की क्षमता रखते हैं। शुद्ध, तर्क-युक्त तथा प्रबल विचारों को वृद्धि देते हुए हम बड़ी मात्रा में शान्ति तथा स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत मिथ्या एवं आदर्श-मात्र भावों को निरन्तर बढ़ाते रहने से हम अपनी कुवासनाओं को प्रोत्साहन दे सकते हैं यद्यपि बाद में हमें इन की अरुचिकर प्रतिक्रिया को भी भोगना पड़ता है।

प्रस्तुत मंत्र में जिस विवेक-पूर्ण सत्य का दिग्दर्शन कराया गया है वह उपरोक्त सभी सिद्धान्तों को आलोकित करने वाला दैवी स्फुलिंग है। अपने मन की वृत्ति के अनुकूल भावों पर मनन करते रहने से हम आत्मा में अनेक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आरोप कर बैठते और अपने मिथ्या भाव के पक्ष में अनेक युक्तियाँ देने का आग्रह करते हैं। सड़क के किनारे पान वाली दूकान में लगा हुआ बड़ा दर्पण किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाने में मनमाने ढंग को नहीं अपना सकता। जो उसके सामने आता है उसका प्रतिबिम्ब उसमें सहसा दीख पड़ता है, चाहे वह कोई ग्राहक हो अथवा सामने से जाने वाली मोटर गाड़ी, रिक्शा, बाइसिकल अथवा कोई और वस्तु। उसमें सामने खड़ी हुई भैंस इतनी ही स्पष्ट दिखाई देगी जितना कोई गधा। इस प्रकार 'सत्य' आधारभूत है और, मन चाहे किसी ओर बहिर्मुख हो, सत्य का आभास होना अवश्यम्भावी है।

इसके विपरीत यदि हम अपने मन के अस्तित्व को मिटा कर इस वास्तविक तत्त्व को अनुभव करने में सफल हो सकें तो हमें इस सत्य-सनातन की वास्तविक झलक दिखाई देगी। यदि हमारा शुद्ध तथा एकाग्र मन उस परमात्म-तत्त्व को जानने में प्रयत्नशील रहे, जो सब नाम-रूप में व्याप्त है, तो हम इस अनादि तत्त्व से साक्षात्कार कर सकते हैं। स्थूल पदार्थों से विरक्त रह कर हम शनैः शनैः इस अनुभूति में सुदृढ़ हो जाते हैं। इस साक्षात्कार के लिए मन किसी प्रकार सहायक नहीं होता जिस कारण कोई मानसिक वासना इस 'सत्य' को विकृत तथा इसे वर्णन नहीं कर पाती।

वेदान्त के द्वारा अपनायी गयी इस विधि के द्वारा यह अनुभव निश्चित् रूप से प्राप्त हो जाता है। इस अनुभूति का अर्थ है सर्प, छड़ी, जल-रेखा और फटी भूमि के मिथ्या आभास में रस्सी का दर्शन करना। ये विविध नाम-रूप केवल रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आरोपमात्र हैं। जब हम रस्सी को पहचान लेते हैं तब उससे सम्बन्धित सभी मिथ्या भावनाएँ तुरन्त दूर हो जाती हैं। ऐसे ही मन तथा बुद्धि का अतिक्रमण करने पर हमें 'सत्य' को अनुभूति होती है। इस कारण सभी युगों के महान् विचारज्ञों ने इस अनादि-तत्त्व से सम्बन्धित वेदान्त के सिद्धान्त के अनुभव की व्याख्या की है जिस में संसार के विविध पदार्थों का लेशमात्र महत्त्व नहीं रह पाता। विश्व की इस पहेली को हल करने का एकमात्र उपाय **आत्मानुभूति है।**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एतैरेष ऽवृथाभावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥३०॥

इन सब से पृथक् न होने पर भी आत्मा स्पष्ट रूप से पृथक् दिखायी देती है । जो इस तत्त्व को जान लेता है वह किसी शंका के बिना 'वेद' के भावार्थ को स्पष्ट कर सकता है ।

इस मंत्र में श्री गौड़पद द्वैतवादियों और उनके सिद्धान्तों के प्रति उदारता का प्रदर्शन करते हैं । उपनिषद् एक स्तर से अद्वितीय तथा सनातन दिव्य तत्त्व की सत्ता का पुष्टिकरण करते हैं । इसे अनुभव करने वाले आचार्य्यों ने समय-समय पर संसार में आ कर अपने अनुभवों का रहस्योद्घाटन किया तथा इस सनातन-तत्त्व की असीम सत्ता की पुष्टि की है ।

यदि यह तथ्य मान लिया जाय तो असंख्य अद्वैतवादियों के इस तर्क को कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि 'आत्म तत्त्व' विभिन्नता धारण किये हुए है । इस शंका का समाधान करने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद ने कहा है कि पदार्थमय संसार से अभिन्न रहने पर भी 'आत्मा' इनसे पृथक् दिखायी देता है । 'प्राण' आदि इससे अलग न होने पर भी अलग प्रतीत होते हैं । रस्सी के सर्प का अस्तित्व उस (रस्सी) से अलग नहीं है, तो भी हमारी भ्रांति में इस का पृथकत्व दिखाई देता है ।

जिस सिद्ध पुरुष ने इस तथ्य को जान लिया है कि केवल 'आत्मा' की सत्ता की सर्वत्र अनुभूति होती है वह महान्-द्रष्टा 'वेदों' की व्याख्या करने तथा इनकी यथार्थता को चरितार्थ करने की शक्ति रखता है । जो व्यक्ति केवल बुद्धि-चातुर्य्य से 'वेदों' को समझने का प्रयास करते हैं उन्हें वास्तविक सत्य का ज्ञानमात्र होता है न कि अनुभूति । अनुभव प्राप्त करने वाले तत्त्व-वेत्ताओं की भाँति ये मनुष्य उपनिषदों के सन्देश का आत्म-विश्वास से प्रसार करने में असमर्थ होते हैं । इसलिये ऋषि ने कहा है कि केवल वे सौभाग्य-शाली अद्वैत आत्म-द्रष्टा वेदों के उपनिषद् भाग को विश्वास, दृढ़ता तथा स्पष्टता से समझा और दूसरों को उसका अनुभव करा सकते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।३१।।

जिस तरह मिथ्या स्वप्न में गन्धर्वों की विशाल नगरी दिखायी पड़ती है वैसे ही अनुभव प्राप्त करने वाले वेदान्ती को यह विश्व मिथ्या दृष्टिगोचर होता है ।

द्वैतभाव को यहाँ तर्क द्वारा समझाया गया है । इसके द्वारा हमें दृष्ट-संसार का स्वरूप बताया गया है । प्रथम अध्याय में शास्त्रों के कथन की दृष्टि में प्रत्यक्ष संसार को असार कहा गया था । प्रस्तुत अध्याय में स्थूल संसार की अवास्तविकता को तर्क एवं प्रमाण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है । यदि पदार्थमय संसार को असार माना जाए तो हमें यह जानना होगा कि इस (संसार) को हम अपने अज्ञान के कारण ही प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं ।

हमारे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं जब हम शान्त भाव से सोच-विचार करने पर उन सब वस्तुओं को सारहीन समझने लगते हैं जिन्हें हम मानसिक भ्रान्ति के कारण वास्तविक समझते आये हैं । प्रत्यक्ष संसार के अनेक दृश्यों के विषय में वेदान्त-शास्त्र का मत है कि ये सब हमारे मन की भ्रान्ति की उपज हैं । साधक के इस विश्वास को दृढ़ करने के उद्देश्य से उदाहरण दिये जाते हैं ।

स्वप्न के प्रभाव से हम ऐसे अनुभव-क्षेत्र में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं जिसका कोई आधार नहीं और जो स्वप्न देखने के समय वास्तविक दिखायी देता है । ठीक इस तरह प्रकृति के सभी नियमों के प्रतिकूल एक ऐसा तंत्र-जाल बिछा हुआ है मानों किसी जादूगर ने यह सब आडम्बर रच दिया हो । यद्यपि हम इस स्थूल संसार को मिथ्या जानते हैं तथापि देखने में यह वास्तविक ही मालूम देता है ।

कभी-कभी जब हम आकाश के बादलों को देखते हैं तो वहाँ हमें विविध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आकार और रंग के दृश्य दिखायी पड़ते हैं । कहीं (हम बादलों से बनी) इन्द्रजाल की नगरी देखते हैं जिसमें अनेक वस्तुओं से भरी दूकानें, मकान, महल, ग्राम, स्त्री-पुरुष आदि दृष्टिगोचर होते हैं । इन दृश्यों को गन्धर्व नगरी कहते हैं । यह क्रिया वस्तुतः हवाई क़िले बनाने के समान है । यद्यपि ये सब हमारी कल्पना-शक्ति की उपज हैं तो भी इन दृश्यों की वास्तविकता कुछ समय तक भासमान होती रहती है क्योंकि केवल भ्रान्ति के कारण हम इन्हें देख पाते हैं ।

उपनिषद्-साहित्य में जिस सनातन-तत्त्व का निरूपण किया गया है उस को अनुभव करने वाले सिद्ध पुरुषों ने यह निष्कर्ष निकाला है । अपने शरीर, मन और बुद्धि का अतिक्रमण करके उन्हों ने **'आत्मा'** को सम्पूर्ण चेतना-तत्त्व में पाया और अपने नये उच्च स्तर से जब उन्हों ने संसार पर दृष्टिपात किया तब उन्हें संसार एक-रस (अर्थात् अभिन्न) दीख पड़ा । इस परिस्थिति में उपनिषद्-द्रष्टाओं एवं महर्षियों ने एक स्वर से घोषणा की है कि पदार्थ-संसार की कोई सत्ता नहीं । काया, मन तथा बुद्धि द्वारा स्थूल संसार को देखते रहने से हमें यह वास्तविक दिखाई देता है ।

यहाँ टीकाकार ने वास्तविक प्रतीत होने वाले नाम-रूप की व्याख्या की है । ऋषि कहते हैं कि वस्तुओं को देखने मात्र से संसार की यथार्थता का भान नहीं हो सकता । इस दिशा में प्रयत्नशील रहते हुए व्यक्ति जिस निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं वह यह है कि स्थूल संसार वास्तविक-तत्त्व में आरोपमात्र है और यह उस क्षण दृष्टिगोचर होता है जब हम उसको मन और बुद्धि के विकृत उपकरणों से देखते हैं ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३२॥

सृष्टि-प्रलय, बन्धन-मुक्ति, साधन-सिद्धि—इन सब का कोई अस्तित्व नहीं है । यदि किसी का अस्तित्व है तो वह **परम-तत्त्व** ही है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेदान्त के इस कोटि के मंत्रों के रहस्य का विश्लेषण करने तथा इन्हें भली-भाँति समझने के लिए एक साधारण विद्यार्थी को गुरु द्वारा सहायता मिलनी अनिवार्य है। आजकल के मुद्रण-प्रधान युग में पुस्तकों की भरमार है जिससे इन ग्रन्थों को किसी पुस्तक-भण्डार से खरीदा जा सकता है। आधुनिक शिक्षित एवं सुपठित नवयुवक ऐसे मंत्रों को पढ़ते ही यह आत्मघाती परिणाम निकाल लेते हैं कि वे स्वयं सत्य-सनातन हैं। अतः उन्हें किसी दिशा में प्रयत्नशील होने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ होने की धारणा कर बैठना एक खतरे वाली बात है क्योंकि प्रत्येक दिशा में अपूर्ण होने के कारण हमें अभी अनेक उपायों द्वारा अपने आप को सुधारना है। इस प्रसंग में इस श्रेणी के मंत्रों को, जो महानाचार्यों के आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं, हमारे लिए अच्छी तरह समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में हमारा पथ-प्रदर्शन केवल वे आधुनिक गुरु कर सकते हैं जिन्होंने स्वयं इस मार्ग पर चल कर 'सत्य' को अनुभव किया है।

यहाँ हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए समान-स्तर पर आकर अपने दृष्टिकोण को समझाने का प्रयास श्री गौड़पाद ने बहुत कम बार किया है। उन्होंने अपने शिष्यों के स्तर पर आकर अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए कभी उत्साह नहीं दिखाया। इसके विपरीत उच्च स्तर पर खड़े रहकर ऋषि ने अपने शिष्यों को सदा उनके अपने उन्नत दृष्टि-कोण को समझने का प्रोत्साहन दिया है। उनके परमोपदेश का सार यह है कि हम 'सत्य' के मार्ग का अनुसरण करके अपने वास्तविक ध्येय **'सत्य'** की प्राप्ति करें। आदि-अन्त पर्य्यन्त श्री गौड़पाद ने इस सत्य-मार्ग की व्याख्या 'सत्य' से ओत-प्रोत भाषा द्वारा की है। इसलिए 'कारिका' को पूरी तरह समझने के लिए इस दिव्य भाषा तथा अविद्या की भाषा को जानने वाले व्यक्तियों के लिए टीका-टिप्पणी से परिचित होना नितान्त आवश्यक है।

वास्तविक-तत्व के दृष्टिकोण से प्रस्तुत मन्त्र यथार्थता को लिये हुए है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिस सिद्ध ने परम-ज्ञान को प्राप्त कर लिया है उसकी दृष्टि में जन्म-मरण, बन्धन आदि के लिए कोई महत्व नहीं है। ध्येय की प्राप्ति के बाद कोई वासना नहीं रह पाती और न ही मुक्ति से प्राप्त होने वाली आत्म-तुष्टि का का कोई अंश शेष रहता है। ऐसे विरले व्यक्ति को जब मुक्तावस्था की अनुभूति हो जाती है तब उसके लिए पदार्थमय संसार और उसके शरीर, मन तथा बुद्धि की किसी माँग की पूर्त्ति का कोई महत्व नहीं रहता। आत्मानुभूति से वह स्वयं आत्म-तत्व हो जाता है जिससे उसमें सर्व-व्यापक दिव्य-स्वरूप की सभी विशेषताएँ स्वतः आ जाती हैं।

'जीवात्मा' को ही बन्धन-मुक्ति आदि की अनुभूति होती रहती है। एक उच्चात्मा में 'अहंकार' कभी ठहर नहीं पाता क्योंकि इसे प्रकट करने वाले उसके मन एवं बुद्धि के उपकरण अतीत को प्राप्त कर चुके होते हैं। जब तक किसी उपकरण को जीवन की चेतना-शक्ति स्पन्दित नहीं करती तब तक वह कोई चेष्टा नहीं कर सकता। आप बिजली के बल्ब को ही लीजिए। हम यह कह सकते हैं कि बल्ब बिजली को प्रकट करने का एक साधन है क्योंकि इसके द्वारा ही बिजली की रोशनी दिखाई देती है। ऐसे ही यह जीवन-दायिनी शक्ति (आत्मा) जब मन एवं बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है तभी 'जीवात्मा' व्यक्त रूप में आ जाता है।

बन्धन की भावना जीवात्मा में ही होती है और यही मुक्ति के भाव को अपनाता है। परम-तत्त्व की दृष्टि में हम सब आत्म-स्वरूप, सनातन तथा नित्य-मुक्त हैं। आत्मा किसी बन्धन में जकड़ा नहीं जा सकता जिससे इसको मुक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो नित्य-मुक्त है।

वैसे होता यह है कि भौतिक आवरणों द्वारा ढका रहने के कारण 'आत्मा' में पृथकत्व की भावना का संचार हो जाता है जिससे जीवात्मा अपनी मनोवृत्तियों तथा उनेक उपकरणों के द्वारा अपने-आप को परिमित एवं दुःखी देखने लगता है। यह मनोभावना ही जीवात्मा और उसके वास्तविक स्वरूप के बीच एक पर्दा ला खड़ा करती है जिससे यह मुग्ध मिथ्याभिमान, सान्त्वना एवं मुक्ति की कामना करने लगता है।

इस समय तक सभी पाठक, जिन्हें कई युक्तियों द्वारा यह बताया जा चुका है कि दृष्ट-संसार के सभी पदार्थ 'आत्मा' में आरोपमात्र हैं, (जैसे रस्सी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में सर्प) इस तथ्य को पूर्ण रूप से समझ चुके होंगे। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि सब नाम-रूप आरोपमात्र हैं तो यह मूल-तत्त्व ही अवास्तविक होगा। यह शंका करके आलोचक ने वास्तविक एवं सर्वाधार सत्य को ही मिथ्या समझ लिया है। इस शंका समाधान करने के उद्देश्य से ही श्री गौड़पाद ने स्पष्ट-शब्दों में यह कह दिया है कि—"यही पूर्ण सत्य है।"

यह मूल-आधार मिथ्या, अस्पष्ट और काल्पनिक नहीं है क्योंकि यह तो हमारे मस्तिष्क की बड़ी से बड़ी उड़ान से परे है। सभी साधनों का ध्येय मनुष्य को उसकी कल्पना से मुक्त करना है। हमारे मन एवं बुद्धि में संकल्प-विकल्प तथा विचारों की जो धारा प्रवाहित होती है, वह हमसे दिव्य-ज्योति को छिपाये रखती है। जिस कारण हम इस परम-तत्त्व को समझ नहीं पाते। मन और बुद्धि को लाँघ लेने पर कोई ऐसा साधन नहीं रहता जो हम में इन कल्पनाओं की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर सके। इसलिए कल्पना, मनोद्वेग, विचार तथा विविध आरोपों की धुंध के दूर हो जाने पर हम 'सत्य' का स्पष्टतः अनुभव कर सकते हैं।

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ॥३३॥

इस आत्मा की कल्पना मिथ्या दृष्ट पदार्थों में की जाती है और साथ ही अद्वैत में। अद्वैत-तत्त्व में इन पदार्थों की कल्पना की जाती है। इसलिए स्वभावतः अद्वैत-तत्त्व सर्व-श्रेष्ठ एवं कल्याण-कारी है।

मरुस्थल में भटकने वाले यात्री को मृगतृष्णा द्वारा पीड़ित होते हुए कई दृश्य दिखाई देते हैं जैसे लहर, बुद्बुद, झाग आदि। वास्तव में ये सब कल्पना-मात्र हैं। श्री गौड़पाद कहते हैं कि विविध दृष्ट-पदार्थों वाला यह संसार तथा परम-तत्त्व के अद्वैत होने से सम्बन्धित हमारी भावना कल्पना-मात्र है।

परमात्मा में कोई विशेष गुण नहीं पाया जाता। इसके गुण एवं स्वभाव की परिभाषा करना वस्तुतः इसे सर्वोच्च स्तर से नीचे ले आना है। इसे शब्दों द्वारा वर्णन करना इसको सीमित, नाशमान तथा परिवर्तनशील

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बना देना है । इस परम-तत्त्व को अद्वैत कहना केवल यह संकेत देने के लिए है कि यह सर्व-शक्तिमान है । अद्वैतवाद का विचार करने पर इसे अद्वैत कहा जाता है; किन्तु जिस क्षण द्वैतभाव का मिथ्या होना सिद्ध होता है, उसी क्षण 'अद्वैत' शब्द का कोई महत्व नहीं रहता । 'अद्वैत' तथा 'अनेकता' दोनों का आधार यह यथार्थ तत्त्व है । इन दोनों को प्रकाशित करने वाली चेतना-शक्ति एक ही है और यही सनातन तथा सर्व व्यापक है ।

अपने भीतर इस परमात्मा की अनुभूति करने से सम्बन्धित अपनी यात्रा में हमें सर्व-प्रथम स्थूल संसार से अपना ध्यान हटाना होगा ताकि हम अपने वास्तविक स्वरूप को, जो एकमात्र अद्वैत तत्त्व है, पूर्ण रूप से जान सकें । इस तरह स्थूल इंद्रियाँ तथा मन दोनों इस प्रयास में हमारे रत्ती भर सहायक नहीं हो सकते । इस ओर प्रयत्नशील रहते हुए जब हमारे मन का अस्तित्व नहीं रह पाता तब हमें सनातन-तत्त्व का अनुभव होने लगता है ।

नाऽऽत्मभावेन नानेदं न स्वेनापिकथंचन ।
न पृथङ् नापृथंकिंचित् इति तत्त्वविदो विदुः ॥३४॥

आत्मा की दृष्टि में इस द्वित्व भाव का कोई अस्तित्व नहीं होता और न ही इसकी कोई पृथक् सत्ता है । यह ब्रह्म से अलग नहीं और न ही यह अनेकता इससे भिन्न है—उपनिषद्-तत्त्व को जानने वाले विद्वानों का यह मत है ।

भ्रान्ति-पूर्ण एवं अवास्तविक सर्प की सत्ता रस्सी से पृथक् सम्भव नहीं है । रस्सी को सर्प नहीं कहा जा सकता और न ही सर्प को रस्सी का नाम दिया जा सकता है । वस्तुतः वह 'सर्प' रस्सी है । इस प्रकार पदार्थमय संसार वास्तव में यह परम-तत्त्व है; इस पर भी संसार में कोई वास्तविकता नहीं मिलती और न ही यह सनातन तत्त्व संसार है । साथ ही यह अनेकतामय विश्व वास्तविक-स्वरूप के बिना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता ।

यहाँ पदार्थमय संसार का एक सुन्दर शब्द (इदम्) द्वारा संकेत किया गया है । दृष्ट-संसार के लिए 'इदम्' (यह) शब्द का उपयोग करने का अभिप्राय यह है कि 'इसे' देखने पर हम पदार्थमय संसार से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे पहले हम बता चुके हैं कि समस्त जगत को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—द्रष्टा का जगत और दृष्ट-संसार। उपनिषद-द्रष्टा हमें बार बार बता चुके हैं कि दृष्ट-पदार्थ केवल वास्तविक तत्त्व में आरोप हैं और यदि कोई वास्तविकता पायी जाती है तो वह केवल 'द्रष्टा' है। इस प्रकार 'यह' अथवा 'वह' कहे जाने वाले सभी पदार्थ निश्चय से दृष्ट-संसार के वर्ग के होंगे।

इस से यह न समझ लिया जाय कि केवल दूरस्थ पर्वत-शृंखलाएँ, वृक्ष, मनुष्य तथा ठोस पदार्थ अवास्तविक हैं बल्कि 'यह' शरीर, 'यह' भाव (यहां तक कि 'यह' अविद्या) सभी दृष्ट-संसार से सम्बन्ध रखते हैं। इस पर हम सहसा यह सोचने लगेंगे कि 'आत्मा' के निकटतर होने के कारण हमारा शरीर, मन और बुद्धि संसार के स्थूल पदार्थों की अपेक्षा वास्तविक हैं, किन्तु जो सच्चा साधक निरन्तर परिश्रम करते हुए 'आत्मा' से साक्षात्कार करना चाहता है उसकी दृष्टि में मन एवं बुद्धि मिथ्या तथा त्याजनीय हैं क्योंकि परम-तत्त्व के स्तर से दृष्ट-संसार को देखने पर उसे सर्वत्र इस परमात्मा का अनुभव होता रहता है।

इस उक्ति का यह अभिप्राय नहीं कि इस तथ्य को सुनकर हम इसे तुरन्त मान लें। श्री गौड़पाद इस बात से भली भाँति परिचित हैं कि हमारे मनो-वैज्ञानिक व्यक्तित्व पर द्वैतभाव की इतनी गहरी छाप पड़ी हुई है (क्योंकि हम मन तथा बुद्धि के उपकरणों द्वारा विविध अनुभव प्राप्त करते रहते हैं) कि हम सर्व-व्यापक तथा नित्य **'अद्वैत तत्त्व'** को आसानी से समझ नहीं पाते।

इसलिए ऋषि कहते हैं कि इस परम-सत्ता में पदार्थमय दृष्ट-संसार का अस्तित्व नहीं है। इस कारण संसार के सभी महान्-द्रष्टाओं ने आग्रह-पूर्ण शब्दों में कहा है कि परिपूर्णता की इस स्थिति को प्राप्त करना संभव है। यहाँ हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि आत्मानुभूति में सुदृढ़ रहने पर भी श्री गौड़ पाद जैसे महानाचार्य ने निज व्यक्तिगत अनुभव की ओर तनिकमात्र संकेत नहीं दिया। इन्होंने तो धर्म-ग्रन्थों के महान् तत्त्व-वेत्ताओं के विचारों का उल्लेख करते हुए इतना कहना पर्याप्त समझा कि—"यह विद्वनों का मत है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अभी हमने कहा है कि हमें कोई ऐसा दार्शनिक तथ्य मान्य नहीं जो किसी विशेष दर्शनाचार्य्य के व्यक्तिगत अनुभव अथवा मत पर आधारित हो। हिन्दु धर्म-शास्त्रों की इस महान मर्यादा का पालन करते हुए श्री गौड़पाद ने अपने अनुभव का कोई हवाला नहीं दिया बल्कि प्राचीन आचार्य्यों तथा द्रष्टाओं का मत दिया है।

वीतराग भयक्रोधैर्मु निभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः ॥३५॥

प्राचीन महान् तत्त्व-वेत्ताओं ने, जो राग, भय और क्रोध से रहित थे और जिन्होंने उपनिषद् के तथ्यों को समझ लिया था, इस आत्मा को अनुभव किया जो कल्पनातीत, माया के प्रपञ्चों से रहित और शाश्वत एवं अद्वैत है।

जिस ग्रन्थ की हम व्याख्या कर रहे हैं वह 'प्रकरण ग्रन्थ' (निर्देश-पुस्तक) कहा जाता है। यह कोई शास्त्र नहीं जिसमें सिद्धान्तों का सविस्तार प्रतिपादन किया गया हो। 'प्रकरण ग्रन्थ' में आचार्य्यों को सम्बन्धित साहित्यिक कृति के परम्परागत नियमों का पालन करते हुए साधन के विविध ढंगों को समझाना पड़ता है।

हमने बार-बार कहा है भारत के दर्शन-सिद्धान्त केवल अन्ध-विश्वास तथा आध्यात्मिक प्रचार को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नहीं रचे गये। व्यवहार-कुशल आर्य्य किसी दर्शन-सिद्धान्त को उस समय तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक इस अन्तर्गत विषय में जीवन के उस साधन की व्यवस्था नहीं की जाती जिसको प्रयोग में लाने से वह पूर्णता के स्तर तक ऊँचे उठ सकें। ऐसे ग्रन्थ में चाहे कितने महान् एवं शुभ दृष्टि-कोण की व्याख्या की गयी हो किन्तु उपरोक्त व्यवस्था के अभाव में वह सर्वथा अमान्य होगा। इससे हमें यह पता चलता है कि जिस हिन्दु दर्शन-शास्त्र में आत्म-पूर्णता के साधन का समावेश न किया गया हो वह ग्रन्थ अधूरा ही समझा जायेगा।

जब हम इस दिशा में देखते हैं तो हिन्दुओं के भौतिकवादी चार्वाक के मत को भी षड्दर्शनों में स्थान देना उचित प्रतीत होता है क्योंकि 'चार्वाक-ग्रन्थों' में न केवल विशेष दार्शनिक दृष्टि-कोण का विस्तार से वर्णन किया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गया है (कि शरीर ही वास्तविक-तत्त्व है और जीवन का एकमात्र ध्येय इन्द्रिय-सुख है) बल्कि जीवन के उस मार्ग की भी व्याख्या की गयी है जिस पर चल कर अधिक से अधिक इन्द्रिय-भोग का आनन्द लिया जा सके।

'प्रकरण-ग्रन्थ' की साहित्यिक जिज्ञासा को अपने सामने रखते हुए श्री गौड़पाद ने वेदान्त के विद्यार्थी के लिए आध्यात्मिक साधन से सम्बन्धित विस्तृत हिदायतें दी हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में कुछ ऐसे श्लोक दिये गये हैं जिन में विस्तृत निर्देश स्पष्ट भाषा में पाये जाते हैं। प्रस्तुत अध्याय में ऊपर दिये गये मंत्र सहित चार मन्त्रों की क्रम-माला की व्यवस्था की गयी है जिस में उस साधन का निश्चित वर्णन है जिसे अपनाने से साधक मिथ्या संसार से ऊपर उठकर सर्वव्यापक 'अद्वैत-तत्त्व' को अनुभव कर सकता है।

पिछले मंत्र में हमें उन विद्वानाचार्यों का मत बताया गया था जिन्होंने उपनिषदों में वर्णित महान् ध्येय की अनुभूति की। इस विचार की व्याख्या करने के साथ साथ यहाँ मन एवं बुद्धि को उन आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जिन्हें धारण करने पर हम ऋषियों के उच्च स्तर तक पहुँच सकते हैं। यहाँ विस्तार से इन महान्-द्रष्टाओं के जीवन का मूल्यांकन किया गया है।

यहाँ इन सुविख्यात तत्त्व-वेत्ताओं को "राग, भय तथा क्रोध से रहित" कहा गया है। हमारे मानसिक क्षेत्र में अविद्या तथा मिथ्यात्व का साम्राज्य स्थापित रहता है अर्थात् हमारे भीतर नकारात्मकता का पुंज विद्यमान रहता है। जब हम में पाशविक प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाय तब हम अपने अज्ञान का उचित अनुमान लगा सकते हैं। हमारी नकारात्मकता अथवा अविद्या हमारे जीवन में उस समय प्रकट होती है जब हमारा आध्यात्मिक एवं विज्ञान-मय व्यक्तित्व राग, द्वेष आदि की भावना को व्यक्त करे। हमारी पशु-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का साधन 'राग' है। किसी बाह्य-पदार्थ को प्राप्त करने की लालसा इसलिए फूट पड़ती है कि हम इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य स्थूल पदार्थों को ही 'पूर्ण-तत्त्व' मान बैठते हैं।

अभी तक हमारा किसी ऐसे व्यक्ति से परिचय नहीं हुआ जो अपनी छाया से इसलिए प्रेम करने लगा हो कि यह उसका अपना ही स्वरूप है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाह्य-पदार्थों को इस छाया की भाँति अवास्तविक समझ लेने पर हमें इनके प्रति किसी तरह का 'राग' नहीं रहेगा। जहाँ 'राग' नहीं वहाँ 'द्वेष' कैसे आ सकता है? 'द्वेष' के लिए 'राग' ही उपजाऊ भूमि है। 'द्वेष' तथा 'क्रोध' एक ही श्रेणी से सम्बन्ध रखते हैं। 'राग' के साथ 'भय' का होना अनिवार्य है। इसलिए उपनिषदों में इस सनातन तथ्य को प्रकट किया गया है कि परमात्म-तत्त्व ही 'निर्भय' है। भय तो उसे होगा जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी हो। जो एकमात्र सत्ता है भला उसे किससे भय हो सकता है।

जिस वर्त्तमान अवस्था में हम सब प्रकार के भय से मोक्ष पाते हैं वह प्रगाढ़-निद्रा की अवस्था है जिसमें हमें केवल एकरूपता का अनुभव होता रहता है। जिस क्षेत्र में किसी और का प्रवेश हो वहाँ 'भय' का होना स्वाभाविक है। अतः 'साधन' के प्रारम्भ में राग, क्रोध और भय पर विजय पाना आवश्यक है क्योंकि उनको त्यागने पर हम 'साधन' में प्रगति कर सकते हैं।

इस प्रयास में सफलता प्राप्त करने के लिए 'तप', 'व्रत', 'सेवा' अथवा आध्यात्मिक पूर्णता के किसी अन्य साधारण उपाय से हमें कोई सहायता नहीं मिलेगी। इनमें से कोई भी साधन हमारी मौलिक अविद्या को दूर नहीं कर सकता क्योंकि इस दिशा में हमें उपनिषदों का पर्य्याप्त ज्ञानोपार्जन करना होगा। इसलिए यहाँ कहा गया है कि महान् ऋषि वेदों के अमृत-ज्ञान के पारंगत विद्वान हैं।

प्रस्तुत मंत्र में साधक को एक शुभ एवं गुह्य संकेत दिया गया है जो यह है कि ज्ञान-मार्ग को अपनाने का साहस करने वाला साधक उपनिषदों के साहित्य का पूर्ण रूप से अध्ययन करे।

जब कोई साधक उपनिषदों के यथार्थ मर्म को जान लेता और मनन तथा ध्यान के द्वारा राग-द्वेष आदि (अपने भीतरी दोषों) पर विजय प्राप्त कर लेता है तब उसका उच्छृंखल मन उसके वश में हो जाता है। हमारी कल्पना ही हमें असफल बनाती तथा भय को उत्पन्न करती है। कल्पना पर विजय पाने पर ही हम अपने मन को जीत सकते हैं। जब मन पूर्णतया हमारे वश में आ जाता है तभी हमें आत्मानुभूति होती है।

पिछले मन्त्र में पदार्थमय-संसार के लिए 'इदम्' शब्द का प्रयोग किया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गया था। दर्शन-शास्त्र में यह शब्द कितना सुन्दर एवं उपयुक्त है—इस बात का भी हमें पता चल चुका है। इस मंत्र में श्री गौड़पाद ने 'आत्मा' के लिए इसी शब्द का प्रयोग नहीं किया बल्कि इसे समझाने के लिए 'अयम्' शब्द लिख कर निज बुद्धि-चातुर्य्य का प्रमाण दिया है। हम पहले बता चुके हैं कि 'आत्मा' को 'अयम्' किस प्रकार कहा गया है। यह शब्द यहाँ विशेष महत्व रखता है। 'कर्त्ता' होने के नाते 'आत्मा' हमारे निकटतम है और इससे आगे कोई अन्य वस्तु नहीं है जिस से इसकी दूरी को बताया जा सके।

यहाँ हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि 'इदम' शब्द का उपयोग स्थूल संसार के लिए किया गया है, जब कि आत्म-क्षेत्र का सूचक शब्द 'अयम्' है।

इस अन्तर्तम केन्द्र (आत्मा) को जानने के लिए हमें तन, मन और बुद्धि पर पूर्ण विजय पानी होगी और इस ध्येय की प्राप्ति प्रत्येक युग के सर्व-श्रेष्ठ वीर पुरुष ही कर पाते हैं। माऊँट एवरेस्ट के शिखर पर पहुँचने के लिए जितना साहस, परिश्रम और प्रयत्न आवश्यक है उससे कहीं अधिक निर्भीकता इस दिशा में होनी चाहिए। इस कठोर परिश्रम के सामने तीन-लोक का राजा बनने से सम्बन्धित सभी प्रयत्न फीके पड़ जाते हैं—यह हमारे शास्त्रों का निश्चित मत है। इस परिस्थिति में इस शंका का, विशेषतः नास्तिकों के मन में, उठना स्वाभाविक है कि बलवान मन एवं बुद्धि पर विजय प्राप्त करने से हमें क्या लाभ होगा। इसका समाधान उन विशेषताओं द्वारा किया गया है, जिन से 'आत्मा' के लक्षण प्रकट किये गये हैं।

'आत्मा' को 'प्रपञ्चोपशम' अर्थात् अनेक प्रकार के मिथ्यात्व से रहित कहा गया है। उपनिषदों द्वारा जिस ध्येय की ओर संकेत किया गया है उसकी सीमा में हमारे अश्रु तथा विलाप का प्रवेश होना असम्भव है। आत्म-स्वरूप की अनुभूति हो जाने पर मृत्यु एवं परिमितता के हमारे सभी बन्धन टूट जायेंगे जिनके कारण हम जीवन भर यातनाएँ सहन करते आये हैं। तब हम पूर्णावस्था के स्वतन्त्र क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। आत्म-सत्ता अद्वैत है क्योंकि यह 'जगत' की अनेकता से अछूता है। इसके समान और कोई नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तस्मादेवं विदित्वैनं अद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जड़वल्लोकमाचरेत् ॥३६॥

अतएव ऐसे गुण-स्वभाव वाले आत्मा को अनुभव कर लेने के बाद इससे एकरूपता स्थापित करो और इस अद्वैत-तत्त्व की पूर्णानुभूति प्राप्त करके संसार में चेतनाहीन व्यक्ति की भाँति व्यवहार करो ।

'अतएव' शब्द से पता चलता है कि प्रस्तुत मंत्र पिछले मंत्र के क्रम में लिखा गया है और वही विचार यहाँ प्रकट किया जा रहा है । वेदों के ज्ञाता महान् ऋषियों ने नकारात्मकता पर विजय प्राप्त करने के बाद उस पूर्ण-स्थिति को अनुभव किया जहाँ उनकी मिथ्या कल्पनाओं का अस्तित्व नहीं रह पाया। अतएव यहाँ साधकों से आग्रह किया गया है कि वे आत्म-शुद्धि द्वारा शास्त्रों के विद्वत्ता-पूर्ण विचारों का निरन्तर मनन करें । विचार तथा साधन द्वारा इन उच्च भावों को भली भाँति समझ लेने पर साधक का व्यक्तित्व कल्पना, भय, राग आदि से बन्धन-मुक्त हो जाता है और उस समय उसे आत्म-स्वरूप की अनुभूति होती है ।

ज्ञान-मार्ग पर चलने वालों के लिए इस मन्त्र में शास्त्रों के अध्ययन की महत्ता का निरूपण किया गया है । इसे अपनाने के लिए धर्म-विज्ञान से पूरा परिचित होना नितान्त आवश्यक है । श्री शंकराचार्य्य तथा अन्य सुविख्यात अद्वैतवादियों ने शास्त्रों के अध्ययन के महत्व पर विशेष बल दिया है और उनके विचार में ज्ञान-मार्ग पर चलने वालों के लिए शास्त्राध्ययन अनिवार्य्य है । सनातन-तत्त्व का अन्वेषण मुख्यतः शास्त्रों के पढ़ने से किया जाता है ।

शास्त्र तथा तर्क द्वारा इस वास्तविक स्वरूप को समझ लेने पर हमें 'अद्वैत' पर ध्यान जमाना चाहिए । 'अद्वैत-ब्रह्म' के विषय में पर्याप्त मनन करने से हम नाम-रूप जगत की पृष्ठ-भूमि 'आत्म-शक्ति' से अधिकाधिक परिचित हो जायँगे क्योंकि यह एकमात्र सनातन तथा परिपूर्ण तत्त्व है । जिस समय हमारी बुद्धि इस तथ्य को ग्रहण कर लेगी तब इस मन्त्र के अनुसार हमारा मानसिक एवं शारीरिक अस्तित्व हमारी विज्ञानमयी धारणा के अनुरूप हो जायेगा ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ करने में वर्त्तमान पण्डित-वर्ग ने अनर्थ किया है । क्योंकि इसमें उन्होंने अनेक असंगत धारणाओं का समावेश कर दिया है । उदाहरण रूप से इस समुदाय का यह भाव ही लीजिए—"गौड़पाद यहाँ कहते हैं कि अद्वैत-तत्त्व को अनुभव कर चुकने के बाद सिद्ध पुरुष जड़वत जीवन व्यतीत करे । उस समय ऐसे व्यक्ति के लिए अपने युग के सर्व-साधारण का पथ-प्रदर्शन करने से सम्बन्धित कोई कार्य्य शेष नहीं रह जाता ।"

जब पूर्णता, त्याग तथा ज्ञान से युक्त सिद्धाचार्य्य अपने भक्तों को शुद्ध शास्त्र-ज्ञान देने के लिए संसार में क्रियाशील होते हैं तब ऊपर कहे गए 'पण्डित' इस मन्त्र का यह अर्थ करके इसे मनवाना चाहते हैं, ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि जब 'जनता' शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके धर्म-विज्ञान से परिचित हो जाती है तब स्वार्थान्ध 'पण्डित' श्रद्धालु अशिक्षित समाज को धोखा नहीं दे सकते ।

वस्तुतः इतिहास ऐसे महान् द्रष्टाओं से सम्बन्धित अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है । इन्हें हम जितना अधिक समझते हैं उतना अधिक हमें यह पता चलता है कि संसार के सांस्कृतिक विकास का समूचा इतिहास इन्हीं आध्यात्मिक व्यक्तियों के अमूल्य अंश-दान से बना है । यदि हम संसार के सभी महान् धर्म्मों में से मनुष्य को दिये गये कल्याणमय तत्त्वों को एक ओर निकाल कर रख दें तो शेष ऐसा अव्यवस्थित समाज रह जायेगा जिस में पाशविक प्रवृत्ति वाले नर-दानव अशिष्टता का जघन्य ताण्डव करते दिखायी देंगे ।

तो फिर महर्षियों के इन शब्दों का क्या अर्थ हुआ कि "संसार में चेतना-हीन व्यक्तियों की तरह व्यवहार करो ।" इसका यही अर्थ हो सकता है कि इस श्रेणी का महान् व्यक्ति (अनुभव प्राप्त कर लेने पर) न तो सांसारिक समस्याओं से दुःख अनुभव करेगा और न ही वह किसी सामयिक तत्त्वज्ञान को बिना सोचे समझे तुरन्त स्वीकार कर लेगा । इन दोनों पहलुओं में मानसिक तथा विवेकपूर्ण सन्तुलन रख कर वह जीवन की समस्याओं से जूझता हुआ इन दुःखों के स्रोत को समझने में प्रयत्नशील होता है । वह तो दृढ़ विश्वास एवं पूर्ण शक्ति से मौलिक दोषों की घोषणा करके उनके आध्यात्मिक निदान की व्यवस्था कर देता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस कोटि का सिद्ध पुरुष आध्यात्मिक शक्ति का विद्युत-केंद्र होता है। वास्तव में वह पदार्थ-संसार में जो चाहे कर सकता है यदि वह कभी भावावेष में आता है तो केवल अपनी पीढ़ी के सामूहिक प्रारब्ध में हस्तक्षेप करने के लिए; ताकि प्रकृति की व्यापक व्यवस्था में यथेष्ठ परिवर्तन होसके।

यदि इन महान व्यक्तियों द्वारा भावुकता का प्रदर्शन हो तो अल्पकाल में ही इसका हृदय उदारता से पूर्ण हो जाता। आप जानते ही हैं कि हृदय का विस्तार कितना खतरनाक होता है। जहाँ हृदय का इतना विस्तार हो और यह अपनी विशेषताओं को ही ढाँप ले वहाँ विवेक का अवरोध होना स्वाभाविक है। यदि मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी एक पहलू में अधिक वृद्धि हो तो उसकी सुव्यवस्थित वृद्धि नहीं हो पाती। यहाँ आचार्य्य इस बात को दृढ़ता से समझाना चाहते हैं कि आत्मानुभूति के बाद साधक को भौतिकता की ओर तनिकमात्र ध्यान न देना चाहिए।

रूपक की दृष्टि में निष्क्रियता मनुष्य के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है यदि इसे यथार्थ रूप से समझने का यत्न किया जाय। भौगोलिक विचार से पर्वत, वन, मरुस्थल और मैदान देश के लिए विशेष महत्व रखते हैं। ये सब प्रत्यक्षतः निष्प्राण होते हुए भी मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी होते हैं।

इस प्रकार एक ज्ञानी के लिए खुलमखुल्ला समाज पर प्रभाव डालना तथा क्रान्तिकारी स्थिति को लाना इतना आवश्यक नहीं और न ही उसे साम्प्रदायिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों में फँसना चाहिए। उनका परम कर्त्तव्य है कि वे सामयिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं पर अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय न करें। आध्यात्मिक अंश एवं ईश्वरीय सत्ता वाले इन महान् सिद्धों द्वारा जीवन के मूल-सत्य का प्रकाश किया जाना चाहिए। उनकी ध्येय-पूर्त्ति तभी होगी जब वे अपनी पीढ़ी का सांस्कृतिक विकास करने के साथ आध्यात्मिक प्रगति में समुचित पथ-प्रदर्शन करें।

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचल निकेतश्च यतिर्यद्दिच्छको भवेत् ॥३७॥

आत्मजित् यति को स्तुति, मान-प्रतिष्ठा और प्रत्येक धर्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्बन्धी अथवा अन्य अनुष्ठानों से परे रहना चाहिए । उसे अपने शरीर का केवलमात्र आधार 'आत्मा' को मानना चाहिए और निज शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अनायास आने वाले अवसरों पर निर्भर रहना चाहिए ।

जिस विरले मनुष्य ने आत्मानुभूति के ध्येय को प्राप्त कर लिया है उसे पूर्णता के सर्वोच्च स्तर पर रहते हुए लोक सेवा में लगे रहना तथा निज अनुभव स्थिति में स्थिर रहना चाहिए । जिस समाज के व्यक्ति इस सिद्ध पुरुष के प्रति उदासीनता का बर्ताव रखें क्या उनके साथ यह सिद्ध रह सकता है ? हिन्दुओं के दर्शन-साहित्य के इने-गिने अनुपम मन्त्रों में से एक मन्त्र की यहाँ व्याख्या की जा रही है । इस में कहा गया है कि परिपूर्णावस्था को प्राप्त करने वाले इस व्यक्ति के लिए उचित है कि वह अनुभूतिवाद उत्कृष्ट वैराग्य में रहता हुआ इस नश्वर शरीर का त्याग करे । प्रायः सभी उपनिषदों में इस भाव की विविध रूप से पुनरावृत्ति की गयी है ।

किसी भी युग में समाज का प्रेम प्राप्त करने का एक ही उपाय है और वह है स्तुति तथा मान-प्रतिष्ठा की लालसा न रखना । जब किसी व्यक्ति ने इनके प्रति उदासीनता का भाव अपना लिया तो वह दुगने साहस से सत्य-मार्ग से परिभ्रष्ट समाज की सेवा कर सकता है । एक राजनीतिज्ञ, जिसने आगामी चुनाव लड़ना है, समाज का किसी रूप में विरोध करने का साहस नहीं कर सकता चाहे उसकी अन्तरात्मा मतदाताओं की राय को कितना ही अनुचित समझ रही हो । इस कोटि के व्यक्तियों को लोकमत के अनुकूल चलकर अपने युग का अनुगामी बन कर रहना पड़ता है । इसके विपरीत यह परिपूर्ण देव-पुरुष सदा स्वतंत्रता का रसास्वादन करता रहता है । सर्व-साधारण को परिस्थितियों का यथार्थ मूल्यांकन करने की शिक्षा देते हुए वह हँसते-हँसते आत्म-बलिदान कर देता है । संसार के निष्ठुर मनुष्य उसके प्राण तो ले लेते हैं किन्तु बाद में उसकी महानता को स्वीकार करके पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहते हैं ।

यह सिद्ध पुरुष किसी 'नित्य' अथवा 'नैमित्तिक' अनुष्ठान से बँधा नहीं रहता क्योंकि इस के कर्म की इतिश्री हो चुकी होती है । एम. ए. श्रेणी में पढ़ने वाला छात्र प्रतिदिन 'पहाड़े' याद करने का कष्ट नहीं करता क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस दिशा में उस ने सफलता प्राप्त कर ली है। धर्म्म के सभी यज्ञानुष्ठान मन को स्थिरता देने के साधनमात्र होते हैं। जिस सौभाग्यवान व्यक्ति ने मन को जीतने के बाद आत्म-तत्त्व को अनुभव कर लिया है भला उसे कर्म-बन्धन में फँसने की क्या आवश्यकता होगी ? वेदान्त का निर्देश है कि ऐसे सिद्ध-पुरुष के लिए कर्म-लिप्त होना असंभव है।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह व्यक्ति अपने शरीर के प्रति क्या भावना रखेगा; अर्थात् वह आहार, आवरण (वस्त्र) तथा आवास से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्त्ति किस प्रकार करेगा। जिस देव-पुरुष ने जीवन के सभी धर्मों का त्याग कर दिया है वह अपने लिए किसी वस्तु की याचना नहीं कर सकता क्योंकि उस की कोई निजी सम्पत्ति नहीं और न ही वह राष्ट्र के लिए किसी प्रकार का व्यक्तिगत महत्त्व रखता है। इस व्यक्ति को देश की जन-गणना में कोई विशेषता नहीं दी जाती और यदि उस का नाम दर्ज भी हो तो उसे 'अशिक्षित' अथवा (समाज के लिए) 'अवांच्छित' दिखाया जाता है।

यहाँ शास्त्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह परिपूर्ण व्यक्ति अपने पार्थिव शरीर को केवल 'आत्मा' में अधिष्ठित रखे। उस का 'चल' शरीर 'आत्मा' के 'अचल' निकेतन में स्थित रहना चाहिए। यह मनुष्य अपने शरीर, मन और बुद्धि को 'आत्मा' के अर्पण कर के इस की छत्रच्छाया में विचरता रहता है। यदि आत्मा ही उस का निकेतन है तो भला उसे आहार और वेष-भूषा से क्या विशेष काम रहेगा ? इन दोनों के लिए उसे अनायास प्राप्त होने वाली मात्रा पर निर्वाह करना चाहिए क्योंकि उसे इन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ इस पुरुष के लिए एक गौरवपूर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिकता की प्राप्ति में अभ्यस्त होने वाले मनुष्य को 'यति' कहा जाता है। इस लिए यहाँ बताया गया है कि धर्म-मार्ग पर आरूढ़ रहने वाले व्यक्ति को भी अपनी इच्छा-पूर्त्ति के लिए अनायास (बिना कहे अथवा माँगे) मिले पदार्थों पर निर्वाह करना चाहिये। उसे लालसा एवं कामना से दूर रहना चाहिए।

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामः तत्त्वादप्रयुच्यतो भवेत ॥३८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सत्य-तत्त्व को शरीर के भीतर जानने तथा इसी सत्य का बाह्य संसार में अनुभव करने पर वह (सिद्ध पुरुष) स्वयं तत्त्वरूप हो जाता है । तदनन्तर वह 'सत्य-निष्ठ' रह कर इस तत्त्व में ही रमण करता है ।

प्रस्तुत मंत्र में गत मंत्र के भाव पर विचार किया जा रहा है और साथ ही इस आत्मानुभूति की मात्रा के अन्तिम भाग की ओर संकेत किया जा रहा है । यहाँ हमें उस मूक आत्मानन्द के आदि-स्रोत-की जानकारी दी जाती है जिस से यह परिपूर्ण सिद्ध पुरुष ओत-प्रोत रहता है । इस सनातन-तत्त्व को बाह्य संसार तथा आन्तरिक जगत् में अनुभव कर लेने पर वह 'तत्त्वमय' हो जाता है । भीतर और बाहिर की भावना वस्तुतः हमारे मन से उठती रहती है । जब हम इस भेद को लाँघ लेते हैं तब कहा जाता है कि हम ने मन को जीत लिया है । तब हमारे लिए सर्वत्र शुद्ध चेतन-स्वरूप ही व्याप्त रहता है ।

संक्षेप में आत्मानुभूति होने पर पदार्थमय जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है और बाहर व भीतर 'आत्मा' की सत्ता का ही अनुभव होता रहता है । इस प्रसंग में यह जानना परमावश्यक है कि आत्मानुभूति से केवल अपने भीतर 'आत्मा' का अनुभव करना नहीं है । जो महात्मा समस्त संसार को बुरा मानता हुआ आत्म-स्वरूप को जान लेने का दावा करता है उस की यह उक्ति विश्वसनीय नहीं; वह तो आत्म-प्रवंचना का शिकार रहता है ।

अतः यहाँ शास्त्र ने साफ़ तौर पर कहा है कि आत्मानुभूति उस समय चरितार्थ होती है जब हम देव-ज्योति को अनुभव करने के साथ सर्वत्र व्याप्त रहने वाले परम-तत्त्व को भी अपने भीतर पहचान लेते हैं ।

वह **'पुरुषोत्तम'** संसार की विषय-वासना से, जिसे वह स्वप्नमय समझता है, किसी प्रकार का मनोरंजन प्राप्त नहीं करता । आत्मा में रमण करते हुए भी वह इसे प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं कर पाता क्योंकि इस की अनुभूति के लिए किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती । जब उस ने मन एवं बुद्धि को लाँघ लिया तब न तो उस के लिए किसी दृष्ट-पदार्थ का महत्त्व रहता है और न ही वह ज्ञानी पदार्थों का द्रष्टा कहा जा सकता है । इस पर भी शास्त्र उस अतीत आनन्द का गुण-गान करते नहीं अघाते जो इस ज्ञानी के जीवन का एकमात्र सार है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि इस ज्ञानी की दृष्टि में भोक्तव्य पदार्थ कौन हैं और उन को भोगने वाला (कर्त्ता) कौन है जिसे परमानन्द का अनुभव होता रहता है ? यहाँ इस शंका का समाधान किया जाता है । यह सिद्ध पुरुष आनन्द-स्वरूप होने के कारण इस परम-तत्त्व से ही आत्म-तुष्टि प्राप्त करता रहता है । यहाँ हमें यह जान लेना चाहिए कि इस में भोक्ता तथा भोक्तव्य का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है । यह आनन्द किसी पदार्थ की प्राप्ति से अनुभव में नहीं आता । 'भोक्ता' और 'भोजन' दो पृथक् सत्ताएँ नहीं । वह व्यक्ति तो आत्मा में रमण करता हुआ अपने-आप में खोया रहता है क्योंकि उस की 'आत्मा' ही 'आनन्द' से परिपूर्ण रहती है । आत्मा में ही लीन हो जाना महानतम आत्म-तुष्टि है क्योंकि यह 'आनन्द-स्वरूप' है ।

इस परमोच्च कोटि के व्यक्ति को जिस की गत पाँच मंत्रों में व्याख्या की गई है, उस परमावस्था से नीचे गिरने का रत्ती भर भय नहीं होता क्योंकि यह तो आत्मा का स्वरूप धारण कर चुका होता है । वह सर्व-व्यापक परमात्म-तत्त्व से कभी पृथक् नहीं होता; अतः उस में मिथ्याभिमान का लेशमात्र नहीं रह पाता । वह उस सर्वोच्च स्थिति से कभी च्युत नहीं होता । यह उस के क्रमिक विकास की पराकाष्ठा है और आत्म-पूर्णता प्राप्त कर लेने पर वह स्वयं सर्व-व्यापक **'परमात्म-तत्त्व'** का स्वरूप हो जाता है ।

इस मंत्र के साथ श्री गौड़पाद की **'कारिका'** का दूसरा अध्याय समाप्त होता है ।

—:o:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीसरा अध्याय

अद्वैत प्रकरण

पिछले दो अध्यायों में इस ग्रन्थ के रचयिता ने अपने भावों की स्पष्ट प्रतिच्छाया दिखाई है। पहले अध्याय में महान् अद्वैत-तत्त्व की व्याख्या शास्त्र के आधार पर की गई है जब कि दूसरे अध्याय में युक्तियों द्वारा पदार्थमय संसार को मिथ्या सिद्ध किया गया है। वर्त्तमान अध्याय में श्री गौड़पाद तर्क एवं युक्ति द्वारा हमें इस तथ्य को समझाएँगे कि इस पदार्थमय संसार का आधार 'अद्वैत-सत्ता' ही है और यही इस (संसार) का वास्तविक स्वरूप है।

इस तरह हम देखते हैं कि दूसरे अध्याय में अनेकत्व को मिथ्या सिद्ध किया गया है। तीसरे अध्याय का मुख्य विषय तर्क तथा युक्ति के द्वारा अद्वैत-तत्त्व की यथार्थता सिद्ध करना है।

यहाँ श्री गौड़पद ने अद्वैत-तत्त्व को अनादि एवं अनन्त सिद्ध करने का प्रयास किया है और इस परम-सत्य की यथार्थता के समर्थन में ऋषि ने अनेक शास्त्रोक्तियों का उल्लेख किया है। निर्देश-ग्रन्थ होने के कारण प्रस्तुत अध्याय में भी पर्याप्त जानकारी दी गई है जो हमारे दैनिक अभ्यास (ध्यान) में विशेष रूप से सहायक होगी।

यहाँ एक विचित्र उपाय को अपनाया गया है जो वेदान्त-साहित्य में अद्वितीय है; इस से आत्मानुभूति संभव है। इस उपाय को 'अस्पर्शयोग' कहा गया है। यह शब्द (अस्पर्श योग) बौद्धों के साहित्य से लिया गया है—यह धारणा उन व्यक्तियों की है जो श्री गौड़पाद में बौद्धमत की प्रतिच्छाया देखने आये हैं; इस विचार से वेदान्तवादी सहमत नहीं हैं। जब हम इस प्रसंग की व्याख्या करेंगे तब यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जायेगी।

इस अध्याय के अन्त में श्री गौड़पाद के अजातवाद की तुमुल घोषणा की गई है। अन्तिम मंत्र में 'कारिका' के सम्पूर्ण भाव का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उन दो पंक्तियों में ऋषि ने कहा है कि—'किसी जीव का कभी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्म नहीं हुआ क्योंकि उसकी सृष्टि का कोई कारण नहीं है । एकमात्र 'सत्य' यही है कि सृष्टि का कोई अस्तित्व नहीं है ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणाः स्मृताः ॥१॥

उपासना-मार्ग को अपनाने वाला जीव अपने आप को उस 'ब्रह्म' से उत्पन्न हुआ मानता है जिसको वह व्यक्त मानता है । इस धारणा वाला जीव संकुचित बुद्धि वाला कहा जाता है क्योंकि वह सृष्टि की रचना से पूर्व परम-तत्त्व को अजात मानता है ।

इस अध्याय के पहले ही मंत्र में किसी प्रकार की उदारता दिखाये बिना ऐसे परमात्म-भाव की निन्दा की गयी है जो बाल साधक के लिए कोई स्थान नहीं रखता; बाद में यह बताया गयी है कि वह साधक किस भावना को लिये हुए इस उत्तमावस्था को प्राप्त करता है। इससे यह न समझना चाहिए कि भक्ति जैसा सरल एवं पवित्र मार्ग, जिसकी यहाँ निन्दा की गयी है, प्रभावहीन है। भक्ति-मार्ग पर चलने के बाद ही कोई व्यक्ति वेदान्त के महान् शास्त्र को ठीक प्रकार समझने की आशा रख सकता है ।

यह ग्रन्थ अध्यात्म-विद्या के उच्च कोटि के उन साधकों के लिए लिखा गया है जो मन तथा बुद्धि के उपकरणों से सम्बन्धित सभी उन्नतशील प्रयासों में सफलता प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे विवेक-पूर्ण उन्नत साधकों को उसी (भक्ति के) मार्ग पर चलते रहने का परामर्श नहीं दिया जा सकता । उनकी इस महान् यात्रा में एक वह समय आता है जब परिपक्वता होने पर उनके लिए निम्न श्रेणी के साधक का त्याग करके आने वाले उच्च अभ्यास को अपनाना अनिवार्य हो जाता है ।

यह क्रिया तो उस विद्यार्थी के समान है जो वर्ष भर परिश्रम करने के बाद उत्तीर्ण घोषित होने पर भी ऊँची श्रेणी में बैठने से इन्कार कर देता है क्योंकि उसे अपने अध्यापक अथवा उस दर्जे से विशेष लगाव हो चुका है । ऐसे अदूरदर्शी एवं मूर्ख विद्यार्थी को बलपूर्वक दूसरी श्रेणी में भेजना पड़ेगा क्योंकि यदि उसे उसी श्रेणी में रहने दिया गया तो वह न केवल अपना समय व्यर्थ नष्ट करेगा बल्कि अपने नये सहपाठियों की उन्नति में भी बाधक रहेगा ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार कर्म, भक्ति तथा अन्य धर्म-मार्ग विशेष समय तक आवश्यक होते हैं क्योंकि इनमें सफल होने के बाद इनसे ही चिपटे रहना एक अक्षम्य अपराध होगा। प्रस्तुत मन्त्र में उन साधकों को चेतावनी दी गयी है जो भ्रान्ति-पूर्ण आसक्ति के कारण अपने प्रारम्भिक साधन का परित्याग कर के उच्च-कोटि के अभ्यास को नहीं अपनाते।

श्री गौड़पाद ने निज स्वतंत्र विचार से इस क्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। इसकी पुष्टि में उपनिषदों के अनेक हवाले दिये जा सकते हैं जो निर्भयता से यह घोषणा करते है कि—'जिसकी आप उपासना करते हैं वह सत्य-तत्त्व नहीं है।'

जिस तर्क-शास्त्र में 'अंशरूप' भक्त को 'पूर्ण' परमेश्वर की शरण में उपस्थित होने का निर्देश दिया जाता है और जिस भक्त को पदार्थमय संसार में ही भगवान् के दर्शन होते हैं उस (शास्त्र) में वास्तविक वैपरीत्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं। यदि परमात्म-तत्त्व के दृष्ट-संसार में ही दर्शन होते हैं तो भला वह साधक उस परम-तत्त्व के बिना और क्या हो सकता है। सृष्टि के इस सिद्धान्त को मान लेने के बाद किसी भक्त के लिए परमात्मा को अपने से भिन्न मानना विरोध-भाव को प्रकट करना होगा क्योंकि उसके कथन एवं श्रवण में जो अन्तर पाया जायेगा वह उसके अपूर्ण भावों का ही प्रतिबिम्ब होगा। वर्त्तमान अध्याय के सर्व-प्रथम मंत्र में इसी विपरीत-भाव की निन्दा गयी है।

वेदान्त-मार्ग तो विवेक-पूर्ण विचारों को पुष्टि देता है। इस मार्ग पर चलने वाला साधक विवेक द्वारा मन एवं बुद्धि का अतिक्रमण करके अपने भीतर आत्मा को खोज लेता है। अविवेक से हमें कुछ भी प्राप्त नहीं होता; इसलिए एक सच्चा वेदान्ताचार्य्य सबसे पहले ज्ञान-मार्ग को ग्रहण करने वाले साधकों को यह परामर्श देता है कि उन्हें उचित ढंग से विचार करने का दृढ़ अभ्यास करना चाहिए। इस कारण श्री गौड़पाद यहाँ बलपूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार की धारणा वाला विद्यार्थी 'कृपण' है। 'कृपण' का अर्थ कंजूस भी है। ऐसा अध्यात्मवादी कंजूस कहलाता है क्योंकि वह अपने मन को इतना उदार नहीं बनाता जिससे उसकी परिधि में सब कुछ आजाए। वह इस कारण कंजूस समझा जाता है कि अपने ममत्व

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का त्याग कर के वह आत्म-तत्त्व से एकीकरण नहीं कर पाता।

जब उपासक आग्रह-पूर्वक यह कहते हैं कि परमात्म-तत्त्व 'अजात' है तब उनकी स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। यदि परमात्मा शाश्वत, विशुद्ध और विकार-रहित है तो वह पदार्थ-संसार में किस प्रकार व्यक्त हो सकता है और साथ ही निज सहज-प्रकृति के अनुसार 'अजात' कहा जा सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि परमात्मा ने अपने आपमें से संसार की सृष्टि की है तो यह (सृष्टि) निश्चय से उस का आवश्यक अंग होगा। इस परिस्थिति में यह सोचना कि भगवान् की आराधना तथा उपासना ही हमारी यात्रा की अन्तिम मंज़िल है एक अक्षम्य भूल होगी क्योंकि यह धारणा इसलिए होती है कि "मैं (साधक) उस शक्ति-पुंज (भगवान्) का अंश हूँ।" इस विचार को पुष्टि देने वाला साधक अधिक उन्नति नहीं कर पाता और न ही वह किसी प्रकार विकसित हो सकता है। इसलिए इस विचार की प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में ही निन्दा की गयी है।

इस मंत्र में 'उपासना' शब्द का 'भक्ति' के अर्थ में उपयोग किया गया है। 'उपासना' शब्द का वेदों में प्रयोग हुआ है और समस्त वेद-साहित्य में 'भक्ति' शब्द कहीं नहीं मिलता। इस (भक्ति) शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग महर्षि वेदव्यास ने पुराणों में किया।

'उपासना' में हमारे मन और बुद्धि में पारस्परिक समंजन तथा सन्तुलन होना आवश्यक है। 'उपासना' वह साधन है जिसके द्वारा उपासक अपने दृष्टि-कोण का इतना विस्तार करता है कि उसकी परिधि में समस्त विश्व आ जाता है। यह साधन उस समय उपलब्ध था जब जीवन अधिक शान्ति-पूर्ण था और मनुष्य प्रकृति से इतनी अधिक मात्रा में कोई आशा नहीं रखता था। जिस प्रकार किसी देश के साहित्य और कला का समुचित विकास शान्ति एवं बाहुल्य के युग में संभव है वैसे ही 'उपासना' की सहायता से आध्यात्मिक विकास 'प्रकृति' की ऐश्वर्यशाली मुस्कान से ही हो सकता है क्योंकि प्रकृति का वैभव ही मनुष्यमात्र का यथार्थ कल्याण कर सकता है।

आजकल पृथ्वी बढ़ती हुई जन-संख्या के भार से दबी जा रही है; भूमि के गर्भ में स्थित विविध आवश्यक पदार्थों का ह्रास होने से इसकी उपजाऊ-शक्ति क्षीण होती जा रही है और पर्वत-शृंखलाओं को काट-काट कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नग्न किया जा रहा है; भला इस अस्थिर तथा संघर्ष-पूर्ण वातावरण में क्या 'उपासना' किसी प्रकार सहायक हो सकेगी ? इस समस्या पर **महर्षि व्यास** ने यथोचित विचार किया जिसके फलस्वरूप पुराणों में भक्ति-मार्ग की व्यवस्था की गयी ।

यहाँ श्री गौड़पाद ने प्राचीन 'उपासना' शब्द का उपयोग किया है किन्तु इसका अर्थ भक्ति एवं आराधना है ।

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचित् जायमानं समन्ततः ।।२।।

अब मैं उस 'ब्रह्म' की व्याख्या करूँगा जो असीम, अजात और समान है और जो वस्तुतः किसी का आदि-स्रोत नहीं है, यद्यपि वह असख्य नाम-रूप से व्यक्त होता प्रतीत होता है ।

इस मंत्र में श्री गौड़पद ने जिन कारणों का उल्लेख किया है उनकी दृष्टि में साधक को असीम परम-तत्त्व के विषय में कुछ बताया जा रहा है । जहाँ तक हमारी विचार-शक्ति उड़ सकती है वहाँ तक हमें केवल उस चेतना का अनुभव होता है जो हमारे मन एवं बुद्धि के उपकरण द्वारा ग्राह्य है । अपने दैनिक जीवन में हम विशुद्ध चेतन-शक्ति को अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि स्थूल आवरणों से संपर्क स्थापित होने के कारण हमारी अनुभूति के लिए यह (विशुद्ध चेतना) उपलब्ध नहीं होती । लेशमात्र संपर्क होने पर भी हमारे मन में 'अहंकार' की एक उत्तुंग पर्वतमाला आ खड़ी होती है । जहाँ 'अहंकार' है वहाँ वास्तविक स्वरूप दिखायी नहीं दे सकता । हम पहले यह बता चुके हैं कि शरीर की सत्ता को मानते हुए जब हम मन तथा बुद्धि की दूरबीन में से बाहिर देखते हैं तब हमें पदार्थमय संसार प्रत्यक्ष दिखायी देता है । स्वप्न में हमें केवल पदार्थमय संसार का ज्ञान होता है । जब हम केवल विशुद्ध चेतना का अनुभव करते हैं तब हमें अपने भीतर अथवा बाहिर उस अजात तथा एकरूप सत्ता का ही अनुभव होने लगता है जो सर्वदा समान-रूप से रहती है ।

'सम' का यहाँ पर यह अर्थ किया गया है कि परम-तत्त्व सम-रूप तथा सर्व-व्यापक है । इससे यह समझना चाहिए कि यह (आत्मा) एकाकी है अर्थात् इसके अनुरूप अथवा प्रतिरूप और कोई नहीं तथा इसमें कोई विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुण नहीं पाया जाता । इन तीन भेदों को क्रमशः **'सजातीय', 'विजातीय'** और **'स्वजातीय'** कहा जाता है । यदि इसपरम-तत्त्व में इन तीन भेदों की विद्यमानता हो तो यह नाशमान तथा परिमित हो जायेगा । इसलिए ऋषि ने विशेष तौर पर इस शब्द (सम) का उपयोग करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आत्म-सत्ता सनातन एवं सर्व-व्यापक है ।

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें तो यह पूछा जा सकता है कि हम मर्त्य प्राणी अपने चारों ओर स्थूल पदार्थमय संसार को किस प्रकार देखते रहते है । इस का उत्तर है कि यह (संसार) सत्य-सनातन का ही स्वरूप है । विविध नाम-रूप केवल हमारे मन का मिथ्या स्वप्नमात्र हैं । परमात्म-तत्त्व के सनातन एवं सर्व-व्यापक होने के कारण विविध नाम-रूप वाला संसार सारहीन है क्योंकि इस (संसार) का प्रत्यक्ष होना केवल हमारे नटखट मन के कारण प्रतीत होता है । इस भाव को इन शब्दों में बड़ी सुन्दरता से समझाया गया है कि—"यह असंख्य नाम-रूप में व्यक्त प्रतीत होता है ।"

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जाता वेतन्निदर्शनम् ॥३॥

आकाश के सदृश आत्मा की, जो विविध जीवात्माओं में व्यक्त होता है, 'घट' आकाश स तुलना की का सकती है । जिस तरह घटाकाश की सृष्टि बृहद् एवं व्याप्त आकाश स होती है वैसे ही विविध नाम-रूप की रचना परम सत्ता से होती कही जाती है । स्थूल संसार क सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जाता है ।

सर्व-व्यापक सत्ता (परमात्मा) और पृथक् सत्ता (जीव) के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए वेदान्त में 'व्यापक आकाश' तथा 'घटाकाश' का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। समूचे वेदान्त-दर्शन के अनुपम आख्यानों में यह एक सुन्दर उदाहरण है ।

आत्मा की उपमा 'आकाश' से इसलिए दी गयी है कि इन दोनों में कुछ बातों में निश्चित समानता पायी जाती है । जब हम आत्मा की आकाश से तुलना करते हैं तब हमारा प्रयोजन आकाश में स्थित विभिन्न पदार्थों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(सूर्य्य, चन्द्रमा, तारे, ग्रह, लोक, मेघ आदि) की ओर संकेत करना नहीं। यहाँ हम इन दोनों (आत्मा और आकाश) में तीन समान-गुण बताना चाहते हैं—दोनों सूक्ष्म, अविकारी तथा निर्लिप्त हैं।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि सर्व-व्यापक, समरूप और निर्लिप्त परमात्मा ने नाम-रूप धारण कर के अलग-अलग कार्य करना प्रारंभ कर दिया। वास्तव में यह बात ठीक नहीं; तो भी इस द्वैतभाव की अनुभूति होती रहती है। यह अनुभव किस कारण होता है, साधक की इस शंका का समाधान ऊपर कहे अनुपम उदाहरण से महान् ऋषि द्वारा किया गया है।

हम सब जानते हैं कि 'आकाश' अविभाज्य तथा अखण्ड तत्त्व है; फिर भी अपने सामान्य जीवन-व्यवहार में स्थान-स्थान पर घटाकाश दृष्टि-गोचर हो कर हमारे मन में अनेक शंकाएँ पैदा करता है। एक सेर घी नापने के लिए हम दस सेर की बाल्टी को प्रयोग में नहीं ला सकते। इन दोनों भाषाओं में स्पष्ट रूप से अन्तर पाया जाता है।

घड़े के चारों ओर के आकाश को ध्यान में रखते हुए हम घटाकाश के पृथकत्व पर विचार कर सकते हैं। यदि हमें यह पता चल जाए कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है वह भी तो आकाश में स्थित है और उसके भीतर व बाहिर आकाश व्याप्त है तब घटाकाश की पृथक् सत्ता की कभी अनुभूति न होगी और न ही पृथकता के इस भाव से हम संकुचित तथा दुःखी होंगे।

उदाहरण के तौर पर एक थूकदान के भीतर का आकाश शक्कर वाले मर्तबान के आकाश से ईर्षा कर सकता है। वह यह कह सकता है—"मैं बड़ा अभागा हूँ क्योंकि मेरा दुरुपयोग किया जा रहा है और शक्कर वाले मर्तबान का आकाश मधुर तथा भाग्यवान् है।" इस व्याकुल थूकदान वाले आकाश को व्यापक आकाश, जिसने अपने वास्तविक स्वरूप को जान लिया है, यह मंत्रणा देता है कि थूकने के लिए केवल थूकदान को उपयोग में लाया जाता है न कि आकाश को जो अखण्ड एवं निर्लिप्त है। थूकदान में चाहे कुछ पड़ा हो उसका आकाश शाश्वत तथा निर्लिप्त रहता है।

ऐसे ही अहंभाव में सर्वव्यापक आत्मा की सत्ता व्याप्त रहती है किन्तु शरीर, मन तथा बुद्धि से संपर्क स्थापित करने से मैं इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अज्ञान का शिकार होता हूँ कि जागने, स्वप्न देखने और गहरी निद्रा लेने वाला सनातन-तत्त्व (मैं) ही सुख-दर्शन का अनुभव करता है । इन मिथ्या भौतिक आवरणों से अलग रह कर अपने वास्तविक स्वरूप को, जो इन सब कोशों का आधार है, जानना ही वेदान्त का मार्ग है । इसको **आत्मानुभव** कहा जाता है ।

संसार की कृत्रिम भाषा में हम अपनी सुविधाओं के लिए नाम-रूप का प्रयोग करते हुए कहने लगते हैं कि सभी दृष्ट-पदार्थों की सृष्टि परम-तत्त्व से हुई । यह उक्ति इतनी यथार्थता लिये रहती है जितनी इस भाव में है कि थूकदान के आकाश का निर्माण व्यापक आकाश से हुआ ।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीत्वा इहाऽऽत्मनि ॥४॥

जिस प्रकार घड़ा टूट जाने पर 'घटाकाश' 'व्यापक' आकाश में विलान हो जाता है वैसे ही ये जीव आत्मा में लीन हो जाते हैं ।

यदि हम एक बार इस भ्रान्ति में पड़ कर अपना संपर्क अवास्तविक वस्तुओं से मान बैठे हैं तो क्या हम कभी इस धारणा का त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ श्री गौड़पाद ने उसी उदाहरण पर अधिक प्रकाश डाला है जिसका उन्होंने पिछले मंत्र में उल्लेख किया था ।

जब अलग करने वाली दीवारें अथवा सीमाएँ टूट जाती हैं तो उनसे स्थापित किया हमारा संपर्क भी समाप्त हो जाता है । घड़े के टूटते ही घटाकाश स्वतः व्यापक आकाश में लीन हो जाता है; ऐसे ही मुझे पृथकता की भ्रान्ति में डालने वाले उपकरण जब नष्ट हो जाते हैं तब इस अहंभावना का भी अन्त हो जाता है । मन तथा बुद्धि का अतिक्रमण करने पर जीव-भावना, जो इन दोनों के मिथ्याभास के कारण उत्पन्न होती है, अपने आप लुप्त हो जायेगी और साथ ही इसके सब मिथ्या सम्बन्ध तथा भ्रम दूर हो जायेंगे ।

जीवात्मा की पृथकता का अन्त होते ही परमात्मा से साक्षात्कार हो जायेगा । मन और बुद्धि को लाँघ लेने पर हम ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जहाँ असीम शुद्ध-चेतना का अनुभव होने लगता है । 'अहंकार' का अन्त होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर मनुष्य को आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है और वह 'ससीम' से 'असीम' में प्रवेश करता है ।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ।।५।।

किसी घटाकाश को धूम्र अथवा मलिन वस्तु से दूषित करने पर विश्व के अन्य घटाकाश दूषित नहीं होते । इस तरह व्यक्ति-विशेष के सुख-दुःख अन्य व्यक्तियों को सुखी अथवा व्यथित नहीं रखते । एक मनुष्य की मनोभावना दूसरे व्यक्तियों के अनुभव से समानता नहीं रखती ।

कल्पना कीजिए कि इस पंडाल में उपस्थित सज्जनों में से एक व्यक्ति उठ कर श्री गौड़पाद की इस युक्ति पर आपत्ति करते हैं । यह महाशय एक-जीव-भाव के सिद्धान्त के पक्ष में निज विचार प्रकट करते हैं । इस कोटि के प्राणी जीवात्मा की पृथकता में विश्वास रखते और कहते हैं कि सब जीवात्मा मिल कर विराट्-जीव की रचना करते हैं । इनके विचार में विभिन्न दिखाई देने वाले 'जीव' वस्तुतः एक ही स्वरूप रखते हैं और परम-जीव ब्रह्म कहलाता है ।

यह विचार-धारा वेदान्त से मौलिक भेद रखती है यद्यपि एक अशिक्षित व्यक्ति इन दोनों में समानता देखता है । इनमें स्पष्ट रूप से भेद पाया जाता है और एक तार्किक की दृष्टि में इनमें महान् अन्तर है । एक-जीव-सिद्धान्त के विपरीत वेदान्तवादी एक-आत्मा-भाव में विश्वास रखते हैं । परम-चेतना को सर्वव्यापक मानने के साथ परम-जीव के अस्तित्व की धारणा करना दो विपरीत भाव हैं ।

आत्म-तत्त्व की व्यापकता पर शंका करने वाले ये व्यक्ति कहते है कि यदि 'आत्मा' एक ही है तो एक महात्मा अथवा ऋषि द्वारा आत्मानभूति होने पर सभी सन्त-महात्माओं को तुरन्त आत्म-साक्षात्कार हो जाना चाहिए क्योंकि उनमें भी वही आत्मा सत्तारूढ़ है ।

यद्यपि यह युक्ति यथार्थ प्रतीत होती है किन्तु इसमें लेशमात्र बुद्धिमत्ता अथवा उपयुक्तता नहीं पायी जाती । इस महान् सत्य को हमारे जैसे स्थूल बुद्धि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाले मनुष्यों को भी समझाने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद कहते हैं कि किसी घटाकाश में धूम्र अथवा धूलि होने से यह नहीं समझना चाहिए कि विश्व भर के सभी घटाकाश धूम्र या धूलि से मलीन हो जाते हैं। 'राग' और 'द्वेष' से पूर्ण मन वाले मनुष्य को संसार में अनुकूल तथा प्रतिकूल दृश्य दिखायी देते हैं। संसार में रहने वाले प्राणियों में बहुत अधिक संख्या उन व्यक्तियों की है जो शरीर के सीमित ज्ञान से ही परिचित रह कर भ्रान्ति तथा पाशविक प्रवृत्ति का शिकार बने रहते हैं जिससे वे संसार के इष्ट अथवा अनिष्ट अनुभवों में ही उलझे रहते हैं। यदि किसी युग में किसी एक महात्मा ने अपने शरीर, मन तथा बुद्धि पर विजय प्राप्त कर ली अर्थात् इस मिथ्या बन्धन को तोड़ दिया तो वह परम-शान्ति को अनुभव कर लेगा।

'आत्मा' का वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्द-घन है। हमारे मन एवं बुद्धि तथा इनसे होने वाले सभी बन्धन हमें इस 'परम-सत्य' से पृथक् रखते हैं। धूम्र अथवा धूलि होने पर भी 'घटाकाश' विशुद्ध रहता है क्योंकि धूम्रादि द्वारा वातावरण धूमिल हो सकता है न कि 'घटाकाश' जो सब प्रकार निर्लिप्त है।

आत्मा को खिन्न अथवा दुःखी इस लिए नहीं कहा जाता कि आत्मा को इन अप्रिय परिस्थितियों का अनुभव होता है बल्कि इसके आवरण मन को इन क्लेशों की अनुभूति होती रहती है। मेघाच्छन्न आकाश को देखने पर बालक इसे धूलि-धूसरित कहने लगते हैं। वस्तुतः आकाश को मेघ किसी प्रकार दूषित नहीं करते। इन बालकों को छोटे-छोटे जल-कण, जो इधर-उधर घूमते रहते हैं, दूषित आकाश के रूप में दिखायी देते हैं। यदि वेदान्त-विहित साधन-क्रिया द्वारा—जिसे दूसरे शब्दों में विवेक, ज्ञान तथा त्याग कहा जाता है—हम अपने विकृत मन का अतिक्रमण करें तो निज वास्तविक स्वरूप को हम भली-भाँति जान सकेंगे। सब कोई ऐसा कर सकते हैं। असमर्थता की भावना हममें इस लिए आती है कि हम मिथ्या बन्धनों में जकड़े रहते हैं। इस दयनीय अवस्था से मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा ही मुक्त हो सकता है।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषुनिर्णयः ॥६॥

रूप, कार्य और नाम में कहीं-कहीं भेद होने पर भी भेद-रहित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आकाश की एकमात्र सत्ता रहती है । यही तथ्य विविध जीवों में घटित होता रहता है ।

यहाँ कोईएक व्यक्ति श्री गौड़पाद के तर्क में दोष ढूँढता है । वह कहता है कि विविध अनुभव प्राप्त होने के कारण हर शरीर में अलग आत्मा का निवास होना चाहिए । जब हर व्यक्ति के अनुभव दूसरों के समान नहीं होते तो यह वास्तविक तत्त्व एक समान कैसे हो सकता है ?

इस मंत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है । जब हम अपने मन के उपकरण में सनातन-तत्त्व को देखते हैं तब विविध नाम-रूप वाला पदार्थ-जगत् हमारे दृष्टिगोचर होता है । वैसे यह विशुद्ध चेतन-शक्ति सदा एक रूप रहती है । स्थूल संसार का द्रष्टा 'अहंकार' (Ego) है । इस ममत्त्व की भ्रान्ति इस कारण होती है कि हम सत्य-सनातन को देखने के लिए मन के उपकरण को प्रयोग में लाते हैं ।

एक ही मिट्टी से बने हुए विविध बर्तन नाम, रूप और क्रिया में भिन्नता रखते हैं; इस पर भी हम यह जानते हैं कि ये मिट्टी के सिवाए और कुछ नहीं । चाहे वे किसी नाम से पुकारे जाएँ, किसी आकार को धारण किए हों, और उनको किसी ढंग से उपयोग में लाया जा रहा हो—फिर भी उनका अस्तित्व अपने वास्तविक स्वरूप मिट्टी के बिना एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता । वे बर्तन मिट्टी से बनते, मिट्टी में स्थित रहते और अन्त में टूट कर उसी में लीन हो जाते हैं ।

मिट्टी के इन बर्तनों के नाम तथा क्रिया के कारण हम इन्हें विविध आकार वाला देखते हैं; किन्तु जहाँ तक आकाश का सम्बन्ध है वह इन सब में समान रूप से व्याप्त है और उसे परिमित नहीं किया जा सकता । थूकदान और गंगाजल वाले कलश में वही आकाश-तत्त्व व्याप्त है । अतः आकाश पूर्णतः अभिन्न है ।

विविध जीवों का मूल-तत्त्व एक ही सनातन एवं अद्वैत शक्ति है । इन जीवों के नाम, अनुभव तथा क्षेत्र में विभिन्नता दिखा देने पर भी इनको क्रियमाण करने वाली परम-सत्ता एक ही है । देव-प्रवृत्ति तथा पाशविक वासनाएँ रखने वाले व्यक्तियों में यह जीवन-शक्ति समान भाव से विद्यमान रहती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से इस कारण भिन्न दिखायी देता है, उनके मन तथा विवेक-शक्ति में असामनता पाया जाती है। उनकी कार्य-कुशलता में हमें अन्तर जान पड़ता है। यदि हम मन तथा बुद्धि को एक बार लांघने में सफल हो जाएँ तो परमात्म-सत्ता की अनुभूति हमें समान रूप से होने लगेगी। यह घटाकाश अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाए तो व्यापक-आकाश से इसकी भिन्नता तुरन्त समाप्त हो जायेगी। ऐसे ही शरीर, मन तथा बुद्धि के कल्पित बन्धनों को तोड़ते ही यह विशुद्ध चेतना अपने वास्तविक रूप को जान लेती है। परिपूर्ण ज्ञान में संसार, उसके भिन्न-भिन्न पदार्थ, तथा काल, अन्तर, कारण, अनेकता के मिथ्या विचारों को जन्म देने वाले विविध अनुभवों के लिए कोई स्थान नहीं है।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि हमें इस बात का किस प्रकार पता चलता है। क्या यह किसी दार्शनिक कवि के मन की उपज है अथवा एक ऐसे शक्तिहीन व्यक्ति की कोरी कल्पना जो संसार की यथार्थता को जानने का साहस नहीं रखता? इस शंका का समाधान करने के लिए श्री गौड़पाद ने 'निर्णय' शब्द का प्रयोग किया है। वेदान्त के कड़े अनुशासन में रह कर अपने वास्तविक स्वरूप को जानने वाले संसार के सभी महान्-द्रष्टाओं ने इस 'निर्णय' की पुष्टि की है।

नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥७॥

घटाकाश सर्व-व्यापक आकाश का विकृत रूप नहीं और न ही इस का अंश है। एस ही जीव 'आत्मा' से विकसित नहीं हुआ और न ही यह परम-सत्ता का अंश है।

परमात्म-तत्त्व समान एवं सर्व-व्यापक है; इस कारण इसमें किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। 'जीव' इस सनातन-तत्त्व का अवयव नहीं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि इसमें परिवर्त्तन होने से विविध जीवों की उत्पत्ति हुई। हमें यह नियम भली-भाँति विदित है कि किसी वस्तु का रूप बदलने का अर्थ उसके पहले आकार का नष्ट होना एवं दूसरा रूप धारण करना है। जब दूध जम कर दही बनता है तो दूध अपने रूप को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खो कर दही का रूप ग्रहण कर लेता है। दही से पुनः दूध नहीं निकाला जा सकता।

इस प्रकार परम-सत्ता में, जिसे हम सनातन तथा अविनाशी मानते हैं, किसी प्रकार का रूपान्तर नहीं हो सकता। यदि हम यह मान लें कि इसमें परिवर्तन होने से विभिन्न जीव प्रकट हुए हैं तो इस मर्त्य-लोक में अमृतत्व की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार की इच्छा नहीं हो सकती क्योंकि अविनाशी के नष्ट होने पर ही संसार की सृष्टि हो सकती है और जब संसार का प्रादुर्भाव हो गया तो प्राणी किस परम-तत्त्व की आराधना करेंगे ? वह शक्ति तो अपना रूप बदलने के कारण नष्ट होगयी !

'घटाकाश' बनने के लिए व्यापक आकाश का न तो कोई विभाजन हुआ और न ही उसमें 'दही' जैसा विकार हुआ। 'घटाकाश' ही व्यापक' आकाश है। इस तरह यह जीवात्मा परम-तत्त्व ही है। इस रहस्य को न समझने के कारण मैं अनेक दुःख सहन करता रहता हूँ। इसे जान लेना ही **'ज्ञान'** कहलाता है।

अपने आपको जान कर अपना जीर्णोद्धार कीजिए। अज्ञान वाला जीवन न होने के तुल्य है। यह जीव 'आत्मा' का विकृत रूप नहीं और न ही इसे आत्मा का अवयव कहा जा सकता है। यहाँ इस भाव की पुष्टि करके वेदान्त के सिद्धान्त की स्थिरता को स्पष्ट और अन्य सभी विचार-धाराओं का सफलता पूर्वक खण्डन किया जा रहा है। इस उदाहरण से हमें यह पता चलता है कि वास्तविक स्वरूप को हमसे अलग रखने वाला अज्ञान (जीव) है और आत्म-स्वरूप को जानना ही परम-सत्य है।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥८॥

जिस प्रकार अबोध बालकों को आकाश मलीन एवं दूषित दिखायी देता है वैसे ही अज्ञान-तिमिर के कारण अन्धे हुए व्यक्तियों को आत्मा में मलिनता का आभास होता रहता है।

आकाश में बादलों की सापेक्ष स्थिति को न जानने के कारण अपरिपक्व-बुद्धि बालक इन बादलों में आकाश मान बैठते हैं जिससे उन्हें आकाश दूषित प्रतीत होने लगता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ठीक ऐसे ही जिस व्यक्ति को यह विवेक नहीं कि आत्मा में मनुष्य के मानसिक अनुभव नहीं पाये जाते वह अज्ञान में आत्मा पर मन के गुणों का आरोप कर बैठता है जिससे उसे आत्मा के सुखी अथवा दुःखी होने का आभास होने लगता है।

आत्मा तो वह विशुद्ध चेतन-स्वरूप है जिसके प्रकाश में हमें सुख और दुख की अनुभूति होती रहती है। सूर्य द्वारा पर्वत, नदी, वन, नगर आदि प्रकाशमान होते हैं किन्तु सूर्य्य में ये सब विद्यमान नहीं होते। प्रकाश-दाता तथा प्रकाशमान् दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

आत्मा हमारे मन के विविध रूपों को आलोकित तथा गतिमान करता है किन्तु इस (आत्मा) में ये वृत्तियाँ स्थित नहीं हैं। इस पर भी शरीर, मन और बुद्धि के बन्धन में फँस कर हम द्रष्टा, कर्त्ता, उपभोक्ता आदि का मिथ्याभिमान (जीव-भावना) कर बैठते हैं। जब हम स्व-रचित एवं कल्पित क्षेत्र से अपने आप को देखने लगते हैं तो हमें मूर्खतावश आत्मा में उन्हीं गुणों की भ्रान्ति हो जाती है जो हमारे इस उपकरण (मन) में प्रतिबिम्बित होते हैं।

खिड़की के रंग-बिरंगे शीशों में से बाहिर झाँकने पर बालकों को रंग-बिरंगे दृश्य दिखायी देते हैं क्योंकि इनके देखने का उपकरण स्वयमेव रंगीन है जिससे उन अबोध बालकों को सभी दृष्ट-पदार्थों के रंग-बिरंगे होने का मिथ्याभास होता है।

आत्मा के विशुद्ध एवं अद्वैत होने पर यदि कोई शंका की जा सकती है तो उसका समाधान इस दृष्टांत से किया जा सकता है। आलोचक कह सकते हैं कि आत्मा किसी तरह विशुद्ध तथा अद्वैत नहीं हो सकता क्योंकि हमें अपने चारों ओर मलिनता और अनेकता ही दिखायी देती है। इस शंका को निवारण करने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद हमें बताते हैं कि इस दिशा में हमें कहाँ भ्रान्ति होती है और इस मलिनता तथा विविधता में हमें अद्वैत-विशुद्ध-शक्ति की किस तरह अनुभूति हो सकती है। बेसमझ बालकों को मलिन दिखायी देने वाला आकाश एक बुद्धिमान् पुरुष को 'स्वच्छ' दिखायी देता है।

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सब शरीरों में स्थित आत्मा, जो जन्म, मृत्यु और आने जाने (पुनर्जन्म) की क्रियाओं को करता प्रतीत होता है, घटाकाश से किसी प्रकार भिन्न नहीं ।

मीमांसा दर्शन में इस बात को माना जाता है कि पुण्य कर्म करने से 'जीव' स्वर्ग में जाकर वहाँ के ऐश्वर्य का भोग करता है । निम्न-वर्ग के पाशविक जीवन वाला व्यक्ति निम्न-स्तर के अनेक दुःख सहन करता है । यहाँ इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि अद्वैतवाद द्वारा पुनर्जन्म सिद्धान्त मान्य नहीं । श्री गौड़पाद के मतानुसार पुनर्जन्म को मानते हुए 'वेदान्त-तत्त्व' को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि एकमात्र आत्मा में विश्वास रहते हुए भी जन्म-मरण, वैभव-पराभव, उन्नति-अवनति आदि से सम्बन्धित विचार रखे जा सकते हैं ।

इस विचार को स्पष्ट करने के उद्देश्य से भगवान् (गौड़पाद) ने पूर्ववत् 'घटाकाश' का दृष्टान्त दिया है । घड़ा बनने पर 'घटाकाश' का निर्माण होता प्रतीत होता है और इसके टूट जाने पर 'इस' आकाश का भी नाश होता दिखायी देता है । 'घटाकाश' के प्रकट अथवा अदृश्य होने का 'व्यापक' आकाश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । एक घड़ा चाहे उत्तरी ध्रुव में हो और दूसरा दक्षिणी ध्रुव में इन दोनों का 'घटाकाश' से सम्बन्ध ज्यों का त्यों बना रहेगा । ऐसे ही अद्वैत आत्मा का न जन्म होता है और न ही अन्त; भला सर्व व्यापक किस तरह गतिमान होगा ? आत्मा में जीवत्व की भावना कर लेने पर हमें यह किसी कालान्तर में जन्म लेता प्रतीत होता है और दूसरे कालान्तर में हम इसे मरते देखते हैं । यह भावना केवल मन एवं बुद्धि की ससीमता के कारण उत्पन्न होती है ।

चाहे किसी का जन्म हो, किसी की मृत्यु हो और कोई स्वर्ग अथवा नरक में जाय, इस सनातन एवं अजात आत्मा का कहीं गमनागमन नहीं होता । 'पुत्र-जन्म' तथा 'मेरी-मृत्यु' से सम्बन्धित मेरे विचारों को 'आत्मा' ही प्रकाशमान करती है । हममें उठने वाली विविध तरंगें हमारे मानसिक क्षेत्र तक ही सीमित रहती हैं परन्तु हमें ऐसा मालूम देता है कि उनका 'आत्मा' में उत्थान-पतन हो रहा । इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि इन मनोवेगों का साक्षी आत्मा है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूर्य्य की रश्मियाँ समुद्र को प्रकाश देती हैं किन्तु उन पर इस (समुद्र) के तूफान अथवा चंचलता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिता ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥

आत्मा को आच्छादित करने वाले अज्ञान से ही शरीर, मन और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कि ये तीनों समान हैं अथवा एक दूसरे से अधिकता रखते हैं कोई मान्य प्रमाण नहीं दिया जा सकता ।

विविध अंशों का उनकी अपनी सत्ता को प्रकट करने के लिए संघात नहीं किया जा सकता । इनके स्वामी के उपयोग के लिए इनको परस्पर जोड़ दिया जाता है । एक घर का ही उदाहरण लीजिए । इस (घर) का निर्माण इसकी खिड़की, द्वार, छत, दीवारों आदि के लिए नहीं होता । घर के इन अंगों को पारस्परिक उपादेयता के लिए बनाया नहीं जाता बल्कि इस (घर) के स्वामी के वास्ते ताकि वह इसमें निवास कर सके । इन अंगों में से कोई एक इस घर का स्वामी होने का दावा नहीं करता । मनुष्य में शरीर, मन, बुद्धि आदि अवयव पाये जाते हैं । इनके परस्पर मिल जाने पर तन, मन और बुद्धि क्रियमाण नहीं होते । निश्चय ही से इनका कोई स्वामी होगा । यह स्वामी वही वास्तविक तत्त्व है जो इस प्राचीर के भीतर सत्तारूढ़ रहता है ।

शरीर का स्वामी आत्मा है जो अपनी इच्छा से इसमें प्रवेश करता है । शरीर के अंग अपने आप न इसमें प्रवेश करते हैं और न ही इससे सम्बन्ध-विच्छेद । शरीर की भित्तियाँ, प्रबल इच्छा होने पर भी, इसका त्याग करने में असमर्थ हैं क्योंकि ये समूचे शरीर का अंश हैं । इस तरह मन के बिना इन्द्रियाँ, बुद्धि के बिना मन और इन [सबके सत्तारूढ़ स्वामी (आत्मा) के बिना बुद्धि अपने काम नहीं कर सकती ।

यहाँ 'संघात' शब्द का यह अभिप्राय समझाया गया है ।

यदि 'आत्मा' ही वास्तविक एवं परम-तत्त्व है तो क्या इसके विविध अवयवों की कोई सत्ता है ? श्री गौड़पाद कहते हैं कि इस आत्म-तत्त्व की दृष्टि में इन अंग-प्रत्यंगों की कोई सत्ता नहीं है । तब हम शरीर, मन और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बुद्धि के सीमित क्षेत्र में रहते हुए इनके अस्तित्व को अनुभव करते हैं। वास्तव में इनमें उतनी यथार्थता है जितनी हमारे स्वप्न-दृष्ट पदार्थों की। यह जानना एक व्यर्थ प्रयास होगा कि इन तीनों की उत्पत्ति कहाँ से हुई; फिर भी हमारी परिमित विवेक-बुद्धि इनके कारण को जानकर ही सन्तुष्ट हो सकती है।

इन (तन, मन और बुद्धि) का कोई कारण न होने से महान् शास्त्र हमें इतना ही बताते हैं कि इनकी उत्पत्ति वास्तविकता के प्रति हमारे अज्ञान से हुई। अज्ञान का कोई व्यक्तित्व नहीं। यह न वास्तविक है और न ही अवास्तविक। बुद्धि को अस्थायी रूप से सन्तोष देने के उद्देश्य से इस (अज्ञान) की मिथ्या कल्पना की गयी है और अनुभूत विविधता को सच्चा मान कर इसका कारण बताया गया है। इसलिए दूसरी पंक्ति में श्री गौड़पाद ने कहा है कि इनकी वास्तविकता अनिश्चित है। हम यह नहीं कह सकते कि वे मिथ्या नाम-रूप 'आत्मा' से अधिक वास्तविक हैं।

यह सब कहने का यह अभिप्राय है कि हम निश्चय ही सर्प तथा रज्जु और भूत तथा खम्भे के रूप को नहीं जान सकते। साँप और भूत का कोई अस्तित्व नहीं। यदि हम इनकी कल्पना करते हैं तो ये रस्सी और खम्भे में आरोपमात्र हैं।

यदि रज्जु और खम्भा वास्तविकता लिये हुए हैं तो सर्प और भूत की उतनी ही यथार्थता है—यह धारणा सत्ता के कारण होती है क्योंकि जब तक हमें सत्य का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक रज्जु और खम्भे का अस्तित्व हमें प्रतीत रहीं होता। ऐसे ही तन, मन और बुद्धि वस्तुतः परम-तत्त्व हैं किन्तु इनकी सत्ता हम इस कारण मानने लगते हैं कि हमको अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं।

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥११॥

परम-जीव, जो अद्वैत आत्मा ही है अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में रहने वाली सत्ता है। इन कोशों की विस्तृत व्याख्या तैत्तिरीयोपनिषद् में की गयी है। इस परमात्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शक्ति की व्यापक आकाश से समानता पहले दिखायी जा चुकी है ।

अभी तक यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि यह पदार्थ-क्षेत्र, जिसमें विविधता दिखायी देती है, परमात्म-तत्त्व में मिथ्या आरोप है। इस निर्देश को सुनकर प्रायः सभी छात्र यह कहने लगेंगे कि उनके निज व्यक्तित्व के अतिरिक्त सभी दृष्ट-पदार्थ मिथ्या हैं । इस मन्त्र में हमें सावधान किया गया है कि हम कहीं ऐसी धारणा न कर बैठें ।

पदार्थ-संसार में उन सभी पदार्थों का समावेश है जिन्हें हम 'वह' सर्वनाम द्वारा जान सकते हैं । आत्मा के अतिरिक्त सभी-पदार्थ हमारे अनुभव में आते हैं; अतः ये पदार्थ दृष्ट हुए । इस तरह दूरस्थ पर्वत-शृंखलाएँ, वन, वृक्ष, शिला, जन्तु, पौधे (और हमारे सिवाय सभी व्यक्ति) आदि संसार के पदार्थ हुए; किन्तु हमें यहाँ यह कहना है कि यह शरीर, मन और बुद्धि भी दृष्ट-पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं ।

मनुष्य क्या है ? यह प्रकृति द्वारा आवेष्ठित प्राणी है । दार्शनिक रूप से मनुष्य का व्यक्तित्व उसके पाँच आवरणों से जाना जाता है । प्रकृति के स्थूल व्यक्तित्व को **'अन्नमय'** कोष कहा जाता है । इससे सूक्ष्म है **'प्राणमय'** कोश । इससे अधिक सूक्ष्म है **'मनोमय'**, **'विज्ञानमय'** और **'शान्तिमय'** कोश जो क्रमशः सूक्ष्मतर होते जाते हैं । अन्तिम (शान्तिमय) कोश की अनुभूति हमें प्रगाढ़ निद्रावस्था में होती है । आत्मा के इन आवरणों की सविस्तार व्याख्या तैत्तिरीयोपनिषद् में की गयी है ।

यहाँ कोषों का उल्लेख उनकी व्याख्या करने के लिए नहीं दिया गया है बल्कि यह स्पष्ट करने के लिए कि आत्मा का आवेष्ठन करने वाले ये आवरण भी कल्पित हैं । उनकी व्याख्या श्री स्वामी जी की पुस्तक **'ध्यान और जीवन'** (जो श्रीमती शीला पुरी, ४ जन्तरमन्तर रोड़, नयी दिल्ली से मिल सकती है) में की गयी है ।

हमारे भीतर व्याप्त आध्यात्मिक-केन्द्र सर्वव्यापक है । इस से किसी की उत्पत्ति नहीं होती और न ही इसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु सदा रह सकती है । ममता-बन्धन में फँस कर हम इन व्यक्तिगत आवरणों से संपर्क स्थापित करते तथा विविध अनुभव प्राप्त करते रहते हैं । इसलिए महान्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचार्य्य को यह कहना पड़ा कि वास्तविक दिखायी देने वाले ये आवरण 'आत्मा' में आरोपमात्र हैं।

पिछले मन्त्र में जिस 'संघात' का उल्लेख किया गया है वह इन आवरणों के मेल से ही बनता है; अतः उनका व्यक्तिगत अस्तित्व सभव नहीं। 'चेतना' उनको अपना उपकरण बनाकर निज गौरव का प्रदर्शन करती है। यह कहना अयुक्त है कि उन आवरणों द्वारा आत्मा को सीमाबद्ध किया जा सकता है। भला सूक्ष्म को स्थूल क्या सीमित रख सकता है? आत्मा को चारदीवारी में बन्द रखना सर्वथा असंभव है। कारागार में मनुष्य के शरीर को बन्द किया जा सकता है न कि उसके विचारों को। स्थूल को स्थूल के भीतर रखना सम्भव है न कि सूक्ष्म को। अतः यह कहना किविशुद्ध परम-सत्ता (आत्मा) शरीर, मन तथा बुद्धि द्वारा आवेष्ठित रखी जा सकती है एक अप्राकृतिक बात है।

इस अध्याय के तीसरे मन्त्र में कहा जा चुका है कि परम-जीव (आत्मा) आकाश की भाँति सर्व-व्यापक समरूप और निर्लिप्त है। वहाँ हमने इस दृष्टान्त के रहस्य को विस्तारपूर्वक समझाया था।

द्वयोद्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः ॥१२॥

पृथ्वी में पाय जाने वाले (व्याप्त) तथा हमारे भीतर (पेट में) रहने वाले आकाश को, चाहे अलग-अलग बताया गया है, ब्रह्म में भी दिखाया जा सकता है। 'मधु-ब्राह्मण' में इसको आध्यात्मिक तथा आधिदैविक कहा गया है।

इसी व्याख्यान-माला में हमने उपनिषदाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और महान् वेदान्त-शास्त्र द्वारा समर्थित इस तथ्य पर पूर्ण प्रकाश डाला था कि समष्टि ही व्यष्टि है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में, भी 'समष्टि' तथा 'व्यष्टि' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'व्यक्ति' तथा 'विराट्' दोनों अभिन्न हैं। इस उपनिषद् में, विशेषतः 'मधु' ब्राह्मण में, आत्मानुभूति को 'आध्यात्मिक' और अनुभूत पदार्थ (क्षेत्र) को 'आधिदैविक' कहा गया है। व्यक्ति-विशेष में वही सत्ता है जो व्यष्टि में व्याप्त है। इसी भाव को हम 'व्याप्त'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा 'घट' आकाश के दृष्टान्त द्वारा समझा चुके हैं। किसी घड़े व कमरे आदि के भीतर का आकाश 'खुले' आकाश से किसी प्रकार भिन्न नहीं है।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निंद्यते यच्च तदेवं हि समंजसम् ॥१३॥

शास्त्रों में जीव तथा आत्मा की एकता की प्रशंसा और नाना पदार्थों की कड़ी निन्दा की गयी है; इसलिए अद्वैत ही निश्चय रूप से मान्य हुआ।

हमें विवेक एवं तर्क द्वारा यह समझाने के बाद कि नाम-रूप आदि का संसार मिथ्या है और हमारे भीतर वास्तविक-तत्त्व (आत्मा) ही यथार्थ है श्री गौड़पाद अब इस महान् सिद्धान्त की पुष्टि में शास्त्रीय मत दे रहे हैं। आर्य्य ऋषी महान सिद्धान्त को अपने दर्शन का अंग कभी स्वीकार नहीं करते थे। वे दर्शन का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक महत्व को अनुभव करके किया करते थे ताकि उसके समुचित उपयोग से मनुष्य उसका प्रतिपादन करने वाले आचार्य्य द्वारा बताये हुए जीवन-ध्येय की प्राप्ति कर सकें। उनके विचार में ऐसे सिद्धान्त की शास्त्रों द्वारा पुष्टि होनी परमावश्यक थी। यहाँ ऋषि हमें बता रहे हैं कि उनके सिद्धान्त केवल उनकी बुद्धि की उपज नहीं बल्कि महान ऋषियों के मत पर आधारित है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि—नेहनानास्ति किंचन—यहाँ किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं है।

दर्शन-शास्त्र में केवल निन्दा अथवा आपत्ति करना एक लाभप्रद उपाय नहीं समझा जाता। जब तक इसकी पुष्टि में अनुकूल युक्तियाँ और सन्तोषप्रद सुझाव न दिये जायँ तब तक उस (सिद्धान्त) की समालोचना पूर्ण रूप से नहीं हो पाती। बृहदारण्यक उपनिषद् में दृष्ट-पदार्थों की विविधता की अन्धाधुन्ध निन्दा नहीं की गयी है बल्कि 'जीव' तथा आत्मा के एकत्व की भी पुष्टि की गयी है। यहाँ आत्मा का प्रयोग 'ब्रह्म' (समष्टि) द्वारा किया गया है।

महर्षि याज्ञवल्क्य के ग्रन्थों में नानात्व की निर्विचल रूपसे निन्दा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने के साथ-साथ अद्वैत ब्रह्म का बलपूर्वक समर्थन किया गया है। इसलिए श्री गौड़पाद आग्रह पूर्वक कहते हैं कि अद्वैत परम-सत्ता ही सर्व-मान्य है।

जीवात्मनो पृथक्त्वम् यत् प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।
भविष्यदवृत्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

वेदों के कर्म-काण्ड में सृष्टि को वर्णन करते हुए 'जीव' तथा 'आत्मा' की जो पृथकता दिखायी गयी है उसे एक ही माना जा सकता है क्योंकि इस (भाग) में आगे आने वाले वृत्तान्त का दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में द्वैत से सम्बन्धित यह उक्ति कोई महत्व नहीं रखती।

यहाँ कुछ व्यक्ति यह आपत्ति कर सकते हैं कि वेदान्त के अनुयायियों ने नानात्व की सर्वथा निन्दा ही की है। वेदों के कर्म-काण्ड में विशेषतः कहा गया है कि पदार्थमय संसार की उत्पत्ति परम-सत्ता से हुई। यज्ञानुष्ठान से सम्बन्धित सकल साहित्य जीव तथा आत्मा के पृथकत्व पर आधारित है। परमात्म-तत्त्व की व्याख्या करने वाले उपनिषदों में भी सृष्टिवाद पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ यह आपत्ति की गयी है कि अजातवाद का शास्त्रों द्वारा समर्थन नहीं किया जाता और वेदों की कतिपय उक्तियों में भी इस विचार की पुष्टि उपलब्ध नहीं है। यहाँ इस आपत्ति का उत्तर दिया गया है। ऋषि ने कहा है कि वेदों के पूर्व भाग में निस्सन्देह 'आत्मा' तथा 'जीव' की पृथकता पर प्रकाश डाला गया है; फिर भी सच्चे साहित्य-सेवी द्वारा इस विचार को इतनी महत्ता नहीं दी जानी चाहिए जितनी वेदों के अन्तिम (उपनिषद्) भाग के सिद्धान्तों को। इस (अन्तिम) भाग में इन दोनों को अभिन्न कहा गया है। श्री गौड़पाद की दृष्टि में कर्मकाण्ड में साधकों को आध्यात्मिक अनुष्ठान अथवा उपासना में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से यह व्याख्या की गयी है जिससे वे शनैः शनैः आन्तरिक समंजन प्राप्त करके मन एवं बुद्धि के उपकरणों को मनन द्वारा आत्मानुभूति के योग्य बना सकें। तब ही उन (साधकों) के लिए ध्यान तथा विवेक द्वारा आत्म-स्वरूप को अनुभव करना संभव होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तर्क तथा अन्य पाठ्य-शाखा और विज्ञान-सम्बंधी सिद्धान्तों को दो प्रकार से जाना जाता है—मुख्य तथा गौण। इस विचार से यहाँ वेदों के प्रारम्भिक भाग को, जिनका शिष्य को इस मार्ग पर चलने का प्रोत्साहन देने के लिए प्रतिपादन किया गया है, 'गौण' कहा गया है। वेदान्त अर्थात् वेदों के अंतिम भाग में इस सनातन-तत्त्व को अनुभव करने का मार्ग बताया गया है; अतः इसे 'मुख्य' कहा जाता है।

वेदों के प्रारम्भिक भाग को, जहाँ सृष्टि की व्याख्या की गयी है, 'गौण' सिद्ध करने के बाद ऋषि ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि इस (प्रारम्भिक) भाग को ही 'मुख्य' मान लेना मूर्खता के बिना और कुछ नहीं हो सकता क्योंकि आगे के भाग में दिये गये विचार इस भाव से सर्वथा प्रतिकूल हैं। न्याय-शास्त्र में उस भाग को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है जिसमें किसी विचार को निष्कर्ष रूप से समझाया गया हो।

इस परिणाम तक पहुँचने के लिए हमें विविध युक्तियाँ देनी होंगी। जैसा हम कह चुके हैं, वर्त्तमान युग के न्याय-शास्त्र में नैय्यायिक के स्वप्न को ही विचित्र ढंग से वर्णन किया जाता है। प्राचीन काल के हिन्दू दर्शनाचार्य्य व्याख्या करने के अतिरिक्त अपने शिष्यों के सामने उस मार्ग को भी स्पष्ट रूप से रखा करते थे जिस पर वे (शिष्य) चल सकते थे। हिन्दू ऋषियों ने 'न्याय' को सिद्धान्त मात्र नहीं समझा बल्कि उसे व्यावहारिक रूप से प्रयोग में लाने के योग्य भी जाना। इस कारण धर्म-ग्रन्थों के प्रारंभ में उन्होंने अपने शिष्यों को सरल एवं कृत्रिम भाषा में समझाने का प्रयास किया क्योंकि वे उसी भाषा को समझ सकते थे। धीरे-धीरे उसे वास्तविकता के उच्च स्तर पर ले जाया जाता है और वहाँ से वह विशुद्ध चेतना की अनुपम झाँकी ले सकता है।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्याचोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥१५॥

मिट्टी, लोहे, चिंगारियों के उदाहरणों द्वारा शास्त्रीय उक्तियाँ देकर सृष्टि अथवा इसके विपरीत भाव को समझाने का वास्तविक अभिप्राय 'जीवात्मा' तथा 'आत्मा' में एकरूपता दिखाना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है । वस्तुतः नानात्व की कोई सत्ता नहीं ।

वेदान्त के विविध भागों में साधकों को प्रोत्साहन देने के लिए कई बातें कही गयी हैं—यदि इस बात को मान लिया जाए तो इन उपनिषदों में कहीं-कहीं ज्ञान-मार्ग की व्याख्या करते हुए संसार के नानात्व का निरूपण क्यों किया गया है ? उपनिषद्-साहित्य से ऐसे अनेक उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं जिनके द्वारा यह बताया गया है कि परम-तत्त्व से पदार्थमय संसार की उत्पत्ति कैसे हुई । इसे कई उपमाओं द्वारा समझाया गया है जैसे "मिट्टी से बर्तन," धातु-विशेष से "विविध आभूषण", "अग्नि से चिंगारियाँ"—आदि ।

'बृहदारण्यक' उपनिषद् में ये उदाहरण दिए गए हैं । वास्तव में सभी उपनिषद् अन्त में विविधता का विरोध करके अद्वैत-तत्त्व की सत्ता को ही यथार्थ मानते हैं । अतः हमें यह जान लेना चाहिए कि यह व्याख्या शिष्य का मनोद्वेग शान्त करने तथा उसके मिथ्या संस्कारों का मूलोच्छेद करने के विचार से ही दी गयी है । गुरु इस उपाय द्वारा अपनी पीढ़ी को लाभ पहुँचा सकता है ।

परम-ज्ञान के उत्तुंग शिखर पर पहुँचने के लिए साधक को सत्य-सनातन के आभासित नानात्व से परिचित होना जरूरी है । 'सप्रपंचत्व' के द्वारा 'निष्प्रपंचत्व' को प्राप्त किया जाता है । वेदान्त का यह नारा है कि "संसार से हो कर ही हम अतीत की प्राप्ति कर सकते हैं ।" नाम-रूप संसार के कारण और कार्य को वर्णन करने से मन एवं बुद्धि की उत्सुकता को शान्त करना संभव है और बाद में ये दोनों ध्यान के योग्य सुसंस्कृत उपकरण बन सकते हैं । इस प्रकार एक सन्देह का दूसरे परिष्कृत सन्देह द्वारा निराकरण किया जाता है । स्वप्न में दिखायी देने वाला सिंह वास्तविक न होने पर भी हमें स्वप्न से जगा कर अपने मूर्खतापूर्ण भय से मुक्त कर सकता है ।

अतः संसार की सृष्टि की व्याख्या करने का उद्देश्य सामान्यतः हमारे मन तथा बुद्धि को इनके अनुकूल भोजन देना है । इनके विक्षेप को शान्त करने के लिए यह 'लोरी' सुनायी जाती है । उच्छृंखल बुद्धि को वश में लाने के लिए यह एकमात्र नारा है । इसी उपाय से वेदान्त के विद्यार्थी को दुःख की सीमा तक पहुँचाया जाता है; बाद में उसे परम-सत्य के अद्वितीय क्षेत्र में बिना किसी कष्ट के पहुँचाया जाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्योत्कृष्ट दृष्टयः ।
उपासनोऽपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

विविध बौद्धिक स्तरों के आधार पर जीवन को तीन आश्रमों में विभक्त किया जा सकता है जो हीन, मध्य तथा उत्तम हैं । दया तथा महती कृपा से शास्त्रों ने अविकसित साधकों के कल्याण के लिए उपासना अर्थात् अनुशासन के इस उपाय की व्यवस्था की है ।

यदि वेदान्ती यह कहते हैं कि (कम से कम) कुछ व्यक्तियों को अद्वैत आत्मा की अनुभूति के लिए प्रारम्भ में सृष्टि तथा स्रष्टा के विचार को ग्रहण करना आवश्यक है तो वह कौन सा मापदण्ड होगा जिससे हम एक साधक और दूसरे साधक में अन्तर जान सकें । इस मंत्र में साधकों के भेद बताये गये हैं ।

मनुष्य की बौद्धिक क्षमता तथा मानसिक गठन के अनुसार अध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों को तान श्रेणियों में बाँटा गया है—उत्तम, मध्यम तथा हीन ।

वेदान्त की दृष्टि में जन्म से ही कोई मनुष्य प्रखर बुद्धि वाला नहीं होता । यदि किसी व्यक्ति में जन्म से मन्द विवेक शक्ति पायी जाती है तो इसमें उस का कोई दोष नहीं । बुद्धि-चातुर्य्य एवं कुशलता तो मानसिक स्थिति पर निर्भर होती है । बुद्धि का प्रखर होना हमारे मन के विक्षेपों के अनुपात से जाना जाता है । हमारा मन जितना अधिक अशान्त रहता है उतनी ही कम विकसित हमारी बुद्धि होती है । इस विचार से अपने मन के निग्रह से मन्द बुद्धि भी उच्च स्तर पर लायी जा सकती है । मन की इस स्थिति को दैनिक उपासना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

इस प्रकार वेदान्त-साधना के लिए प्रारम्भ में साधकों को कई वर्ष घोर उपासना करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है ताकि उनके मन तथा बुद्धि पूर्णतः स्थिर हो सकें । वेदान्त-सम्बन्धी अनुभूति के लिए एकमात्र साधन मन तथा बुद्धि का निरोध करना है ।

वेदान्त-द्रष्टा कहते हैं कि पदार्थमय संसार तथा परमात्म-तत्त्व से इसकी उत्पत्ति का प्रसंग केवल उन साधकों के उपयोग के लिए दिया जाता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिनका मन इतना विकसित नहीं हो पाया है। इस विचार को अपने सम्मुख रखते हुए वे धीरे-धीरे उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं जहाँ से उन्हें उपासना द्वारा सनातन-तत्त्व का अनुभव हो जाता है। शास्त्र द्वारा इस अभ्यास की व्याख्या किया जाना कि परम-तत्त्व से पदार्थमय संसार की उत्पत्ति हुई निम्न-श्रेणी के साधक पर विशेष अनुग्रह है क्योंकि इस तरह वह प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचा उठ सकता है।

इस साधन को अपनाने के लिए हम माता 'श्रुति' को दोषी नहीं ठहरा सकते। वर्षा वाले दिन मेरे पास बैठा हुआ मेरा छोटा भाई यह जानना चाहता है कि वर्षा कैसे होती है। उस समय मैं उसे गर्मी से जल के वाष्पीकरण तथा ठंड के कारण वाष्प के जल में रूपान्तरित होने के नियमों को समझाने नहीं बैठूँगा। यदि मेरे मन में उस की उत्सुकता को दूर करने की भावना है तो मैं उसके मानसिक स्तर तक नीचे आ कर उसे सब कुछ समझाऊँगा। मैं इस तरह कहूँगा—"इन्द्र का श्वेत हाथी समुद्र से जल पीकर बादलों के पीछे छिप जाता है और वहाँ से उस पानी को नीचे फेंकता रहता है जिससे तुम जैसे बच्चे पानी में कागज़ की नावें चला सकें।" इस कल्पित भाव को बताने का यह अर्थ नहीं है कि मैं अपने भाई से जान-बूझ कर झूठी बात कह रहा हूँ। यदि मैं उपरोक्त व्याख्या देता हूँ तो उस विशेष प्रेम तथा अनुग्रह के कारण जो मेरे हृदय में उसके लिए भरा हुआ है। उसके सीमित मानसिक विकास को ध्यान में रखते हुए मैं ऐसी कथा बना कर उसे सुनाता हूँ जिसके द्वारा उस की उत्सुकता दूर हो सके। जब वह बड़ा होगा तो वह (वर्षा से सम्बन्धित) वास्तविक तथ्य को स्वयं समझ जायेगा।

ऐसे ही 'माता-श्रुति' की भावना है कि हर साधक अपने भीतर आत्म-तत्त्व को अनुभव करे। इससे तभी साक्षात्कार किया जा सकता है जब उसे यह ज्ञान हो जाए कि संसार का नानात्व मिथ्या है। इस मर्म को जानने के लिए उस (साधक) को अपने मन एवं बुद्धि के उपकरण उपयोग में लाने पड़ते हैं। यदि हम प्रारम्भ में ही इस मिथ्यात्व को उसे समझाने का यत्न करेंगे तो हमारे सभी प्रयास विफल होंगे क्योंकि अपरिपक्व बुद्धि वाला वह व्यक्ति इस सूक्ष्मतर विचार को सुगमता से नहीं समझ सकेगा। इस कारण 'कारिका' में कहा गया है कि सृष्टि के सिद्धान्त का प्रतिपादन हमारे अविकसित मन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं बुद्धि को यह तत्त्व समझाने के लिए किया जाता है । शास्त्रों की हम पर यह अनुकम्पा है क्योंकि उन्हों ने अपने अबोध बच्चों के कल्याण का इतना ध्यान रखा ।

स्वसिद्धान्त व्यवस्थासुद्वैतिनो निश्चिता दृढ़म् ।
परस्पर विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।।१७।।

'द्वैत' अपने अनुभूत सिद्धान्तों से चिपटे रह कर उन्हें ही सत्य मान बैठते हैं । इसलिए वे एक दूसरे का विरोध करते रहते हैं जब कि अद्वैत उनके प्रति विरोध-भावना नहीं रखते ।

'कपिल', 'कणाद', 'जिन' तथा अन्य द्वैतवादी ऋषियों के सिद्धान्तों को उनके अनुयायी दृढ़तापूर्वक मानते रहते हैं । अपने विचारों में कट्टरता की अधिकता रखने के कारण इन (विविध) मतानुयायियों में पारस्परिक विरोध पाया जाता है और वे एक-दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन करने में व्यस्त रहते हैं ।

पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि द्वैतवादियों के विविध मतों ने वास्तविक-तत्त्व के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । हम वेदान्ती उनसे कोई संघर्ष नहीं करते और न ही झगड़ा करने की इच्छा रखते हैं । वे तो पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप स्वयं कह रहे हैं कि किसी सिद्धान्त द्वारा सृष्टि के नानात्व की व्याख्या नहीं की जा सकती । इस दिशा में असफल रहने के कारण वे स्वयं कह रहे हैं कि इस दृष्ट-संसार की वास्तव में उत्पत्ति नहीं हुई । अजातवाद का नारा केवल द्वैतवादी लगाया करते हैं ।

उनमें पारस्परिक मतभेद पाया जाता है किन्तु हमारा उनसे कोई झगड़ा नहीं । आने वाले मंत्र में यह बताया जायेगा कि अद्वैतवादी कोई झंझट क्यों नहीं रखते ।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते ।।१८।।

वास्तविक यथार्थता ही अद्वैतभाव है; द्वैत तो इस का भेद-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मात्र है । द्वैतवादी द्वैतभाव को ही सर्वज्ञ परमात्मा तथा सृष्टि दोनों में देखते हैं । इसलिए 'अद्वैतवाद' वह दर्शन-तत्त्व है जो द्वैतवाद से कोई मतभेद नहीं रखता ।

श्री गौड़पाद के तूणीर में जिन व्यंग्यात्मक उक्तियों का साधारण एवं मर्म-स्पर्शी शब्दों में प्रतिपादन किया है उस चातुर्य्य के सामने स्टील तथा एडीसन जैसे विद्वान् भी फीके पड़ जाते हैं । यहाँ इस आलोचक ऋषि ने उन कारणों को बताया है जिनसे वेदान्त-विशारद द्वैतवाद से, चाहे वह अद्वैतवाद से वैपरीत्य रखता है, कोई मतभेद नहीं रखते । इस बात को इस प्रकार समझाया गया है : द्वैतवादी कहते हैं कि अनेकता वाले संसार की उत्पत्ति अनेकत्व से हुई । उनका वास्तविक तत्त्व अनेकता पर आश्रित है । वेदान्त-वादियों का मत है कि सनातन-तत्त्व एक ही है और इससे किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई ।

श्री गौड़पाद कहते हैं कि इन द्वैतवादियों से, जो पदार्थमय-संसार का आदि-स्रोत अनेकत्व को मानते हैं, हमारा कोई मतभेद नहीं । विविधता से विविधता की ही सृष्टि हो सकती है, किन्तु अनेकता वाला तत्त्व सनातन तथा अविकारी नहीं हो सकता । अतः हमें इन द्वैतवादियों की इस धारणा पर कोई आपत्ति नहीं कि पदार्थमय-संसार की उत्पत्ति वास्तव में विविधता तथा विकार रखने वाले तत्त्व से हुई और नश्वर तथा ससीम से ही सीमाबद्ध संसार का उद्भव हो सकता है ।

इन दो (द्वैत तथा अद्वैत) विचार-धाराओं में यदि कोई विषमता पायी जाती है तो यह है कि द्वैतवादी अनेकता वाले तत्त्व को सनातन मानते हैं । मर्यादित पदार्थ असीम नहीं हो सकता । इस परिस्थिति में इन दोनों विचारों में कोई अन्तर नहीं पाया जाता—इस बात को श्री गौड़पाद ने यहाँ समझाया है । ऋषि के शब्दों में जो व्यंग्य मिलता है उसकी श्री शंकराचार्य्य के भाष्य में पूरी आलोचना की गयी है । भगवान् कहते हैं कि—"यह बात तो उस व्यक्ति की भाँति हुई जो एक चुस्त हाथी पर सवार हो कर निर्भीकता से सड़क पर खड़े एक पागल मनुष्य की ओर आगे बढ़ता है और वह पागल चिल्ला कर उससे कहता है कि मैं भी हाथी पर सवार हूँ; तुम अपने हाथी पर बढ़े चलो।" वेदान्ती सनातन-तत्त्व से सम्बन्धित अपने सिद्धान्त में दृढ़ आस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रखता है; इसलिए वह द्वैतवादी को किसी प्रकार भयभीत नहीं करना चाहता । आत्मानुभव वाले परिपूर्ण अद्वितीय पुरुष का यह कीर्ति-स्तम्भ है ।

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथंचन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतामृतं व्रजेत् ॥१६॥

अविकारी एवं अद्वैत 'ब्रह्म' अजन्मा है किन्तु माया के कार यह विकारमय प्रतीत होता है । वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि यदि 'ब्रह्म' में विकार आजाए तो यह नित्य न रह कर मर्त्य हो जायेगा ।

यदि सनातन-तत्त्व अद्वैत है तो फिर हमें यह नाम-रूप संसार क्यों दिखायी देता है ? वेदान्त-शास्त्र कहता है कि पदार्थमय संसार केवल हमारे मन की भ्रांति के कारण दिखायी देता है । वास्तव में एकमात्र एवं समान-रूप तत्त्व दृष्ट-संसार में विभक्त नहीं हो सकता ।

'अज' शब्द विशेष महत्त्व रखता है । जिसका जन्म हुआ है वह निस्सन्देह नाशमान है क्योंकि 'जन्म' स्वतः एक विकृत रूप है । अविकारी तत्त्व में कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता । परिवर्त्तन द्वारा ही विकार क्रियमाण होता है । खम्भा अपने स्वरूप को बदल कर कोई अन्य रूप धारण नहीं कर सकता; फिर भी सांझ के अन्धेरे में हमें कई बार उसमें 'भूत' की भ्रान्ति होने लगती है । वह 'भूत' खम्भा का विकृत रूप नहीं है; अतः उसे हम अपने मन की भ्रान्ति ही कह सकते हैं । ऐसे ही सनातन-तत्त्व सर्व-व्यापक एवं विशुद्ध चेतना है; फिर भी हमें उसमें नानात्व की झलक दिखायी देती है । यह वास्तविकता में आरोपमात्र नहीं तो और क्या है ?

यदि हम यह धारणा कर बैठें कि परमात्म-तत्त्व से इस संसार की उत्पत्ति हुई तब हमें अनेक युक्तियों द्वारा इस तथ्य को सिद्ध करना पड़ेगा जो कि एक असंभव बात होगी । इस प्रयास म हम दूसरों को हँसी करने का ही अवसर देंगे क्योंकि इस प्रकार यह 'अज्ञात-तत्त्व' मर्त्य-रूप धारण कर लेगा । दूध जम जाने पर दही में बदल जाता है । अब दही से दूध को पुनः अलग करना एक असंभव बात हो जाती है । इस प्रकार यदि सनातन-तत्त्व

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'विकारी' होजाय तो फिर हम किस अविकारी तत्त्व को प्राप्त करने म प्रयत्नशील होंगे ? इस हास्यप्रद स्थिति पर एक औसत बुद्धि वाला व्यक्ति भी गम्भीरता से विचार करना न चाहेगा क्योंकि यह धारणा स्वतः अमान्य है ।

पदार्थमय संसार को मिथ्या सिद्ध करने के उद्देश्य से श्री **गौड़पाद** न यह दूसरी युक्ति दी है क्योंकि स्वानुभूत परम-ज्ञान की दृष्टि में ऋषि को यह सब मन का खेल ही दिखायी देता है। 'माया' के अध्याय में दृष्ट-संसार के विषय में महानाचार्य्य ने यह व्याख्या पहली बार दी है । वहाँ यह कहा गया है कि "स्वयं प्रकाशमान् 'आत्मा' निज माया-शक्ति के द्वारा अपने-आप में अनेकता की अनुभूति करता है ।" इस मंत्र में इस क्रम में एक और व्याख्या दी गयी है जिसके अनुसार एक-तत्त्व के अनेक नाम-रूप में विभक्त होने से प्रतीति केवल हमारे मन की विविध वासनाओं के कारण होती रहती है । वास्तव में इसमें कोई तथ्य नहीं ।

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥२०॥

द्वैतवादी कहते हैं कि अजात एवं अविकारी सनातन 'आत्मा' में विकार आजाता है । जो तत्त्व स्वयं अविकारी तथा अविनाशी है भला वह किस प्रकार मर्त्य हो सकता है ?

पिछले मंत्र के भाव को जारी रखते हुए श्री गौड़पाद यहाँ उन द्वैतवादियों की कड़ी आलोचना करते हैं जो कारणत्व के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखते हैं । अगले अध्याय में अधिक तीव्रता से इस सिद्धान्त का युक्ति-पूर्ण खण्डन किया जायेगा । वहाँ नीचे दिये दो मंत्रों की पुनरावृत्ति की जायेगी ।

द्वैतवादियों की यह धारणा कि अविकारी 'आत्मा' में 'विकार' आता है एक काट्य प्रमाण है । श्री गौड़पाद इसे इस प्रश्न द्वारा प्रकट करते हैं—'अमृत-तत्त्व' किस तरह 'मर्त्य' हो सकता है ? फिर भी कई अदूरदर्शी व्यक्ति, जो विवेक-पूर्ण दृष्टि नहीं रखते, कह सकते हैं कि—'क्यों नहीं ?'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।२१।।

'अमर्त्य' कभी 'मर्त्य' नहीं हो सकता और न ही 'मर्त्य' कभी 'अमर्त्य' हो सकता है क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप को रखते हुए कोई वस्तु किसी विकार को प्राप्त नहीं हो सकती ।

यदि हम 'अमर्त्य' को 'मर्त्य' मान लें तो हम इसके वास्तविक रूप से अपरिचित होने का प्रमाण देंगे क्योंकि प्रकृति का नियम है कि कोई पदार्थ अपने स्वरूप को बनाये रखने के साथ किसी अन्य रूप को ग्रहण नहीं कर सकता । 'उड़ने वाले पर्वत', 'अग्नि समान उष्ण हिम'—ये असंभव बातें केवल उस व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज होंगी जिसकी बुद्धि का पूरी तरह दिवाला निकल चुका हो । ये सब प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल हैं । यदि द्वैतवादियों के इस विचार को मान लिया जाए कि 'अमर्त्य' बदल कर 'मर्त्य' हो सकता है तो हमें इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि पर्वत उड़ सकते हैं ।

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।२२।।

स्वभाव से 'अमर्त्य' रहने वाले तत्त्व को 'मर्त्य' मानने वाला व्यक्ति किस प्रकार इस धारणा पर भी दृढ़ रह सकता है कि विकार होने पर यह तत्त्व अपने वास्तविक रूप को ज्यों का त्यों बनाए रखता है ?

यहाँ टीकाकार ने इस दार्शनिक दावे को स्वीकार करने में कुछ और बातें कहीं हैं । ऐसी धारणा के वास्तविक महत्त्व को सुगमता से समझना संभव है ।

'द्वैतवादी' यह भावना रखते हैं कि परम-तत्त्व से दृष्ट-संसार की उत्पत्ति करने के लिए अमृत-तत्त्व में विकल्प होता है; इस पर भी वे इस वास्तविक सत्ता को अविकारी तथा शाश्वत मानते हैं । कोई सामान्य बुद्धि का मनुष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस बात को नहीं मानेगा कि अविकारी कहलाने वाले तत्व में किसी प्रकार का विकार आना सम्भव हो सकता है ।

भूततोऽभूततो वाऽपि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्ध्रुवति नेतरम् ॥२३॥

'श्रुति' द्वारा बलपूर्वक कहा गया है कि सृष्टि वास्तविक एवं अवास्तविक है। जिस ('सत्य') को श्रुति ने घोषित किया है और जो तर्क के आधार पर स्वीकार्य है वही 'सत्य' सर्वमान्य है और कुछ नहीं ।

यहाँ वेदान्त-तत्त्व का पुनः प्रतिपादन किया गया है । यद्यपि वेदान्तवादी शास्त्र-विहित तथ्य को प्रमाण मानते हैं तथापि वे किसी बात में अन्धाधुन्ध विश्वास नहीं रखते । महर्षियों के सहज ज्ञान में इन्हें बहुत श्रद्धा है और वे महत्तर 'तथ्य' को आदरपूर्वक स्वीकार करने के लिए सदा कटिबद्ध रहते हैं । ऋषियों की अनुभूति का विधिवत मानने वाले इन वेदान्तवादियों को उनके तर्क-युक्त विचार सदा शिरोधार्य होते हैं ।

किन्तु यदि कोई ऋषि हँसी में कुछ कह दे तो वेदान्ती इसे परम-तत्त्व स्वीकार करने की मूर्खता कभी नहीं कर सकता । इसलिए भगवान शंकराचार्य्य कहते हैं कि एक वेदान्ती 'माता श्रुति' के वचनों को किसी अवस्था में मानने के लिए तत्पर न होगा जब तक वह उनकी यथार्थता को तर्क की कसौटी पर न परख ले ।

यदि श्रुति में कहीं यह लिखा हुआ पाया जाय कि 'अग्नि ठण्डी है' तो कोई वेदान्ती इस उक्ति को इस कारण स्वीकार नहीं करेगा कि ये शब्द किसी ऋषि द्वारा कहे गये हैं । यदि कोई महर्षि अपने अनुभव के परिणाम-स्वरूप ऐसी बातें कहता है जो पारस्परिक विरोध रखती हैं तो ये (बातें) इसलिए मान्य नहीं समझी जायेंगी कि ये उस महर्षि के मुख से निकली हैं । इन्हें युक्ति एवं तर्क के धर्म-काँटे पर तोलना नितान्त आवश्यक है । यदि शास्त्रों में इस प्रकार की बातें कहीं मिल जायँ तो उनके वास्तविक अर्थ को न मान कर उनके अन्तर्निहित भाव को समझना चाहिए ।

यदि उपनिषद् के 'आदि' भाग में कहीं यह कहा गया हो कि सनातन-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तत्त्व से पदार्थमय संसार की उत्पत्ति हुई तो इसे 'गौण' मानना चाहिए और इसका निष्कर्ष निकाल कर ही इस प्रकार की घोषणाएँ की जाएँ—"जैसे परम-तत्त्व सर्वथा अविकारी है।" "दृष्ट-ससार वस्तुतः 'सत्य' में आरोपमात्र है।"—उन्हें अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए। आने वाले मन्त्र में दो शास्त्रोक्तियों की व्याख्या की गयी है।

नेहनानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

यद्यपि शास्त्रों में ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं—"इसमें कोई नानात्व नहीं।", "माया आदि के द्वारा इन्द्र"—तथापि हम इस (सत्य) से भली भली भाँति परिचित हैं कि 'आत्मा' अजात होते हुए भी 'माया' के कारण विविध नाम-रूप में विभक्त प्रतीत होता है।

इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में **'बृहदारण्यक'** उपनिषद् की दो महत्वपूर्ण उक्तियों का उल्लेख किया गया है। श्री **गौड़पाद** ने इस बृहद् ग्रन्थ का बहुधा उपयोग किया है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' की पहली उक्ति में निश्चित् रूप से पदार्थमय संसार का खण्डन किया गया है किन्तु दूसरी उक्ति में दृष्ट-संसार की व्याख्या की गयी है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इन्द्र की 'माया' के कारण यह सब (प्रत्यक्ष संसार) दृष्टिगोचर होता है। इस कथन पर हम जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही इसका रहस्य-पूर्ण अर्थ हमारी समझ में आयेगा।

इन्द्र को 'मन' का अधिष्ठातृ-देव माना जाता है। दूसरे धर्म-ग्रन्थों में भी मन के लिए 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। (जैसे 'केनोपनिषद्')। इसलिए दार्शनिक ढंग से इन्द्र को प्रत्यक्ष संसार का स्रष्टा कहने का यह अर्थ है कि यह विचार हमारे मन की भ्रान्ति का द्योतक है। मानसिक स्तर से जब हम बाह्य संसार को देखते हैं तो नाम-रूप जगत हमारे दृष्टिगोचर होता है; किन्तु जब हम परमात्म-तत्व के सर्वोत्कृष्ट स्थान से बाहिर दृष्टि डालते हैं तो हमें "नानात्व का कोई ज्ञान नहीं होता।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दोनों उक्तियों का समंजन करने पर श्री गौड़पाद ने यहाँ इस विचार की पुष्टि की है कि सत्य-सनातन 'अजात' होने पर भी अनेकत्व को धारण किये हुए दिखायी देता है।

सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिद्यते।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिशिद्यते ॥२५॥

सम्भूति (सृष्टि) को न मानने से इस (उत्पत्ति) का खण्डन होता है। 'आत्मा में कारणत्व को इस उक्ति द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता—इसे कौन जन्म देने के योग्य बना सकता है?

वेदान्त-साहित्य में 'सृष्टि' के विचार को मिथ्या सिद्ध करने के उद्देश्य से बहुधा शास्त्रों की उक्तियों का उल्लेख किया जाता है। इस भावना को मिथ्या सिद्ध करते हुए 'आत्मा' से जन्म होने की भ्रान्ति का भी मूलोच्छेदन कर दिया गया है। आत्म-तत्व में न कोई परिवर्तन होता है और न ही इसके अपने स्वरूप में कोई विकार आता है।

'अजातवाद' को 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में बड़े अच्छे ढंग से समझाया गया है। वहाँ ऋषि ने कहा है—"इसे जन्म देने के योग्य बनाने वाला कौन है?" इससे यह समझना चाहिए कि कोई ऐसी शक्ति नहीं जो परम-तत्त्व को जन्म देने के योग्य बनाए। इस भाव को प्रकट करते हुए 'माता' श्रुति सनातन-तत्त्व को न तो भौतिक स्तर पर आने देती है और न ही इसे पदार्थ-संसार की उत्पत्ति का कारण मानती है। संक्षेप में सर्व-शक्तिमान् में कारणत्व की भावना करना स्वीकार्य नहीं।

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥२६॥

ग्राह्यमान न होने के कारण शास्त्र 'आत्मा' को नेति, नेति (यह भी नहीं, यह भी नहीं) कह कर पुकारते हैं। इस तरह आत्मा को प्राप्त करने के लिए जिन 'द्वैत' साधनों की व्याख्या की गयी है इन सब का खण्डन हो जाता है। इससे 'आत्मा' अजात सिद्ध हुआ न कि नाना रूप वाला।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में इस सुविख्यात भाव को प्रकट किया गया है कि आत्मा को अपवाद रूप से 'नेति, नेति' कह कर बताया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि 'माण्डूक्योपनिषद्' में तुरीयावस्था की परिभाषा देते हुए ऋषि ने इसी साधन को सन्तोषजनक ढंग से अपनाया है।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा की अनुभूति का परिचय देने का एकमात्र उपाय इसे नकारात्मक भाषा में प्रकट करना है क्योंकि यह अनादि-शक्ति बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं। इस परिस्थिति में हमारी सांसारिक भाषा अपने दैनिक अनुभवों की सीमा से परे जाने में असमर्थ होती है जिससे 'अद्वैत' आत्मा की अनुभूति को निश्चित भाषा में सीमा-बद्ध करना एक असम्भव बात है। संसार के नानात्व का अपवाद ही वास्तविकता को सिद्ध करता है। रज्जु के वास्तविक रूप को दिखाने का यही उपाय है कि हम उसमें सर्प के अस्तित्व को असत्य सिद्ध कर दें। ऐसे सभी मामलों में, जहाँ किसी वस्तु का आरोप किया जाता है, मिथ्यात्व का अन्त होना ज्ञान की अनुभूति का सूचक होता है। इस भ्रान्ति को दूर करने का उपाय इस 'आरोप' भाव को मिथ्या सिद्ध करना है।

इस तरह स्थूल संसार सूक्ष्म संसार तथा विचार-जगत का अपवाद करने पर ही इनके परे व्याप्त रहने वाली इस अद्वितीय शक्ति को जिससे किसी प्रत्यक्ष जगत की उत्पत्ति नहीं हो सकती जाना जा सकता है।

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥२७॥

माया के कारण शाश्वत तत्त्व जन्म लेता प्रतीत होता है—यह धारणा वास्तविकता के दृष्टि-कोण से मान्य नहीं। जो इसके जन्म लेने में विश्वास रखते हैं उनका दावा है कि, जिसका जन्म हो चुका है, वह अनिश्चित काल तक जन्म लेता रहेगा।

पिछले मन्त्र में श्री गौड़पाद ने हमें बताया था कि उपनिषदों ने मुख्यतः अद्वैत आत्मा का दिग्दर्शन कराया है और इस क्रम में 'श्रुति' ने भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनेकत्व का खण्डन किया है। इस मन्त्र में आचार्य्य हमें यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि पदार्थमय जगत की हमें क्यों और कैसे अनुभूति होती है। आप बलपूर्वक इस विचार को प्रकट करते हैं कि इस (दृष्ट-संसार) की उत्पत्ति परमात्म-तत्त्व से नहीं होती बल्कि हमें माया के कारण यह भासित होता है। सृष्टि को वास्तविक मान लेने पर हमें किन किन तार्किक विषमताओं से जूझना पड़ता है इस बात पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। यदि ऐसा होना मान लिया जाय तो तर्क द्वारा इसे सिद्ध करना एक असंभव बात होगी।

वास्तव में यह अनादि एवं अनन्त शक्ति अजात तथा अविकारी है। यदि हम यह मान लें कि इससे किसी वस्तु की उत्पत्ति हुई है तो हमें यह मालूम करना होगा कि उस कारण का कर्त्ता कौन था जिसके द्वारा इस (परम-सत्ता) में विकार आया और परिणाम प्रत्यक्षीभूत हुआ। यदि हम यह कहते हैं कि परमात्मा से सृष्टि का जन्म हुआ तो हमें यह जानना होगा कि इस स्रष्टा को जन्म देने वाला कौन था और फिर उसे किसने जन्म दिया? इस तरह हमारे लिए आदि-कारण को जानना असम्भव हो जायेगा। इस कारण-कार्य की भीषण भंवरों में फँस कर हम इनमें ही डूब जायेंगे।

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥२८॥

असत का जन्म वस्तुतः अथवा माया के कारण कभी नहीं हो सकता, जैसे एक बाँझ स्त्री के यथार्थ रूप में या माया से पुत्र का होना असंभव है।

'कारणत्व' को स्वीकार करने और परमात्म-तत्व को जन्मदाता मानने को सब प्रकार से उपयुक्त कहा जा चुका है। अब हम इस विचार पर दृष्टि-पात करेंगे कि क्या वास्तविक तत्व को 'असत' का कारण मानना न्यायसंगत होगा। श्री गौड़पाद इस 'असत' परमात्म-तत्व में 'कार्य-कारण' की संभावना को मानने से साफ़ इन्कार करते हैं। जो स्वयं असत है वह वस्तुतः अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माया से किसी को जन्म नहीं दे सकता। क्या कभी किसी बाँझ स्त्री को यथार्थतः या मंत्र-तंत्र से पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है ?

इस तरह हमें पता चला कि 'सत्' अथवा 'असत्' परम-तत्त्व से नानात्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब किसी वस्तु का कोई कारण ही नहीं तो भला उससे कार्य कैसे हो सकता है।

यथा स्वप्ने द्वया भासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥२९॥

जिस प्रकार स्वप्न में माया के कारण मन अनेक रूप धर लेता है वैसे ही जाग्रतावस्था में माया से चलायमान होकर यह मन विविध पदार्थों वाले जगत को प्रकट करता है।

जिस तरह स्वप्न देखते हुए मन में विक्षेप आने पर मिथ्या स्वप्न-जगत की सृष्टि होती है और इससे संपर्क स्थापित करके स्वप्न-द्रष्टा इसको वास्तविक अनुभव करता है वैसे ही जाग्रतावस्था में हमारा चंचल मन मिथ्या बाह्य-संसार की अनेकता को अनुभव करता हुआ इसे यथार्थ मान बैठता है।

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशय ॥३०॥

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि एकाकी मन स्वप्न में अनेकता में विभक्त होता प्रतीत होता है। ऐसे ही अद्वैत-तत्त्व जाग्रतावस्था में पदार्थमय संसार का रूप धरता दिखायी देता है।

नाना पदार्थों वाले इस संसार की दार्शनिक रूप से व्याख्या का तार्किक उपसंहार इस प्रकार किया जा सकता है कि यह हमारे मन के कारण ही दृष्टिगोचर होता रहता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में यह मन ही विविध पदार्थों का रूप धर लेता है वैसे जाग्रतावस्था में भी इस मन का बाह्य-संसार में प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है।

स्वप्न-जगत् के शिकारों तथा शिकार, द्रष्टा और दृष्ट-पदार्थ (जैसे पृथ्वी, स्वप्न-द्रष्टा का शरीर जो इधर उधर घूमता रहता है) केवल-मात्र स्वप्न-द्रष्टा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के अपने मनके भिन्न रूप होते हैं । निद्रा से जगने पर वह समझ लेता है कि उसके एकमात्र मन ने अनेक रूपों में विभक्त होकर मिथ्या स्वप्न-जगत की सृष्टि की । ठीक ऐसे ही हम यह अनुभव करेंगे कि जाग्रतावस्था का दृष्ट-संसार हमें इस कारण दिखायी पड़ता है कि हमारा विक्षिप्त मन अज्ञानवश भीतरी संघर्ष से अनेक रूपों में बँट जाता है । प्रत्यक्ष संसार के स्वप्न को देख चुकने पर ही हम विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर पायेंगे और तभी हमें इस (संसार) की असारता का पता चलेगा ।

मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥३१॥

दृष्ट-संसार, जो चर अथवा अचर दिखायी देता है, कवल-मात्र मन की अनुभूति है अर्थात् मन की ही प्रतिच्छाया है क्योंकि मन को लाँघ लेने पर इस नानात्व का अनुभव नहीं होता ।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद ने प्रत्यक्ष पदार्थमय-संसार के सम्बन्ध में हमें तीसरी व्याख्या देने का अनुग्रह किया है। वह कहते हैं कि यह नानात्व हमारे मन का आभासमात्र है । ऋषि ने इसमें प्रत्यक्ष संसार के चर तथा अचर दोनों का समावेश किया है । 'चर' में संसार के सभी प्राणी और 'अचर' में जड़ भूत-पदार्थ आते हैं ।

महान् आचार्य्य ने किस युक्ति के आधार पर दृष्ट-संसार को मन ही की अनुभूति कहा है ? ऋषि कहते हैं कि मन के क्रियमाण न होने पर संसार के नानात्व का हमें अनुभव नहीं होता । अपने दैनिक अनुभवों के फल-स्वरूप हम कह सकते हैं कि जब हम किसी समस्या को हल कर रहे होते हैं अथवा जिस समय हमारा मन 'कहीं' गया होता है तो हमें अपने सामने हो रही घटनाओं का ज्ञान नहीं रहता । इस प्रकार के अनुभव से हम कह सकते हैं कि—"जहाँ मन नहीं, वहाँ संसार नहीं ।"

मन के न होने की अवस्था को 'अमनीभाव' कहा जाता है । यह शब्द इतना सुन्दर एवं भाव-पूर्ण है कि इसके लिए किसी अन्य उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना असम्भव ही है । (अ=न होना; मन=मन का अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अमनत्व) । यही परमात्म-तत्त्व है । इस परमोच्च स्तर से संसार दृष्टिगोचर नहीं हो सकता अर्थात् इसके नानात्व का ज्ञान नहीं रहता ।

हम पहले यह देख चुके हैं कि 'योग' का ध्येय मन का उन्नयन करना है। इस तरह सभी आध्यात्मिक साधनों का एकमात्र उद्देश्य इस (अमनत्व) की अवस्था को प्राप्त करना है ।

चंचल-मन एवं बुद्धि के उपकरण को पूर्णतः समाप्त कर देने पर ही 'मर्त्य' अमरत्व को प्राप्त करता है । मन का अस्तित्व खो देने पर ही **'पुरुषोत्तमावस्था'** की प्राप्ति होती है । ऐसा सिद्ध पुरुष पदार्थमय संसार का फिर अनुभव नहीं करेगा क्योंकि उस समय विकृत-संसार को दिखाने वाला यह उपकरण (मन) उसे उपलब्ध नहीं होगा । वह तो आध्यात्मिक दृष्टि से सब कुछ देखेगा । नीचे दिये मंत्र में हमें बताया जायेगा कि किस प्रकार 'अमनीभाव' अवस्था की प्राप्ति हो सकती है ।

आत्म सत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥३२॥

शुद्ध चेतन-स्वरूप 'आत्म-तत्त्व' को अनुभव कर लेने पर मन में कोई संकल्प-विकल्प नहीं होता । दृष्ट-पदार्थों के न होने पर मन द्वारा इनकी अनुभूति नहीं हो पाती अर्थात् मन में इनका विचार नहीं आता ।

जो व्यक्ति विवेक-बुद्धि से बाह्य संसार के नानात्व से अपना ध्यान पूरी तरह हटा लेता और अपने शरीर, मन तथा बुद्धि से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है वह परम-व्यक्तित्व को पूर्णतः अनुभव करने लगता है ।

आत्मानुभूति को 'अमनी-भाव' क्यों कहा जाता है ? इसका कारण श्री गौड़पाद ने समझाया है । ऋषि कहते हैं कि दृष्ट-पदार्थ रहने पर ही मन का अस्तित्व रह सकता है और तभी तक यह (मन) निज व्यक्तित्व को बनाये रखता है । चौथे अध्याय में इस युक्ति को विस्तार से बताया जायेगा; इस समय हमारे लिए इतना समझना पर्याप्त होगा कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का एकीकरण-विन्दु ही **'मन'** है । यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न रहे तो फिर उनका एकीकरण-विन्दु किस प्रकार हो सकता है ? रिक्त मन को अमनत्व कहा जाता है । इस प्रकार की चेतना-स्थिति में, जब चेतना को अपनी शक्ति की ही अनुभूति होती है, मन का रहना असम्भव हो जाता है ।

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥३३॥

अजात एवं कल्पना में न आने वाला ज्ञान सदा ज्ञेय-पदार्थों से पृथक् रहता है । तब अनादि ब्रह्म ही जानने योग्य (होता) है । 'अज' को अज ही जान सकता है ।

प्रस्तुत मंत्र में श्री गौड़पाद ने परम-तत्त्व को अपनी भाषा में प्रायः सीमाबद्ध कर दिया है, मानो ऋषि न असंभव को संभव कर दिया हो । अनुभव के क्षेत्र, न कि व्यक्त संसार, से सामान्यतः संबन्ध रखने वाले विचारों को यहाँ प्रकट किया गया है ।

विशुद्ध चेतना को सम्पूर्ण ज्ञान कहना एक ऐसी परिभाषा है जिसकी समता शास्त्र-साहित्य में और कहीं नहीं मिलती । इससे पहले इस विषय को इतनी दृढ़ता से और कहीं प्रकट नहीं किया गया है ।

साधारणतः सर्व-व्यापक चेतना को निर्गुण कहा जाता है और यह दृष्ट-पदार्थों की परिधि में नहीं आ सकता । 'श्रुति' द्वारा भी परम-तत्त्व की निश्चित रूप से परिभाषा नहीं की जाती; किन्तु श्री बद्रीनाथ के इस महान् आचार्य्य (श्री गौड़पाद) ने परम आत्मानुभूति के कारण अव्यक्त को व्यक्त कर दिया है ।

दार्शनिक भाषा में 'ज्ञान' का वह अर्थ नहीं जो हमारे व्यावहारिक जीवन में समझा जाता है । प्रत्यक्ष संसार में ज्ञान का अभिप्राय पदार्थ-ज्ञान है अर्थात् हम दृष्ट-वस्तुओं को देखने, सुनने, चखने आदि से जानते हैं । इस तरह हम एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं । यहाँ ऋषि ने सर्व-व्यापक परम-ज्ञान की व्याख्या करने का प्रयास किया है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृष्टान्त द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जायेगी । विविध रंग और आकार वाली बोतलों में एक ही प्रकार का पानी डालने पर हम देखेंगे कि जल एक ही है किन्तु बोतलें भिन्न भिन्न पड़ी हुई हैं । यदि हम उनके बाह्याकार से जल को नीला, पीला, लाल आदि समझने लगें तो हमारी भूल होगी । जल तो एक-समान है चाहे वे बोतलें विविध रंग की क्यों न दिखायी देती हों । इस तरह हमें अनेक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है । उपरोक्त उदाहरण को समझ लेने पर हम सम्पूर्ण-ज्ञान तथा पदार्थ-ज्ञान में भेद जान सकेंगे ।

विशुद्ध चेतना ही अविकारी ज्ञान है जिस कीहम कल्पना नहीं कर सकते । सब प्राणियों का एकमात्र जीवन-केन्द्र यह परम-ज्ञान है । जब हम कोई कल्पना करते हैं तो हमारे मानसिक-क्षेत्र में विक्षेप होता है और तब यह विशुद्ध-चेतना इन मनोवृत्तियों की उपाधि ग्रहण कर लेती है । इसका यह परिणाम होता है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की बजाय मनोवृत्तियों से सम्बन्धित ज्ञान को ही अनुभव कर पाते हैं । दृष्ट-पदार्थों के प्रतिक्षण बदलते रहने के कारण हमारी मनोवृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं । यहाँ तो वास्तविक ज्ञान को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है । इसलिए जब हमारे मन में कोई तरंग नहीं उठती वरन् चेतना की एकमात्र सत्ता रहती है तो अविकारी सम्पूर्ण-ज्ञान स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाता है ।

साधारण रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान-बिम्ब बाहिर निकल कर दृष्ट-वस्तु को ढकने के बाद उसमें प्रतिबिम्बित होता है । उस समय हम यह कहते हैं कि 'हमें उस वस्तु का ज्ञान है ।' जब मेरी चेतन-शक्ति एक पुष्प को देखने के लिए बहिर्मुखी होती है उस क्षण वह पुष्प मेरी ज्ञान-परिधि से बाहिर नहीं रहता । वास्तव में मेरी चेतना उसे ढाँप लेती है । उसे जानने पर ही मैं कहने लगता हूँ कि मुझे उस (पुष्प) का ज्ञान हो गया है । उस समय बाहिर दिखायी देने वाले पुष्प और तत्सम्बन्धी मेरे ज्ञान में कोई पृथकता नहीं रहती । वस्तुतः वह पुष्प ही मेरे ज्ञान का स्वरूप धारण कर लेता है । यह अनुभूति क्षणिक होती है जिससे मैं इस रहस्य को न जानकर इस वास्तविक ज्ञान से वंचित रहता हूँ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इस महान् सत्य की व्याख्या की गयी है। जिस क्षण हमें (खम्भे के) भूत के यथार्थ रूप का ज्ञान हो जायेगा उसी समय वह (भूत) उसी खम्भे में समा जायेगा और तत्सम्बन्धी हमारा ज्ञान पूर्ण हो जायेगा। ऐसे ही, जब हम दृष्ट-जगत की वास्तविकता को समझ लेंगे, उस समय हमें ज्ञान की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जब हमारा मन बाह्य वस्तुओं को पृथक् नहीं देखता, अर्थात् जब हमारे मन में विक्षेप नहीं होता, तब आत्मा का इस (मन) पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। आत्मा द्वारा भौतिक पदार्थों पर विजय पाने के क्षण हमें आत्मानुभूति हो जाती है।

आत्मानुभव होने पर अन्तर्मुखी चेतना केवल अपने आप को ही देखती है अर्थात् कर्त्ता (द्रष्टा) का ही अस्तित्व रह पाता है किन्तु जब 'कर्म' न हो तब 'कर्त्ता' का महत्त्व क्या होगा ? इस लिए यह शंका उठती है कि फिर इस सर्वज्ञ कर्त्ता द्वारा किस (पदार्थ) को आलोकित किया जाता है।

यहाँ भगवान् गौड़पाद हमें बताते हैं कि वह (आलोकित) तत्त्व 'ब्रह्म' ही है अर्थात् केवल 'ब्रह्म' (कर्त्ता) की ही सत्ता बनी रहती है और कोई दृष्ट-वस्तु नहीं रहती; 'आत्मा' अपने आप का द्रष्टा होता है; इस कारण यहाँ कहा गया है कि 'अजात' ही 'अजात' को जान सकता है। 'मर्त्य' किस प्रकार 'अमर्त्य' के स्वरूप को धारण कर सकता है ? वास्तव में मर्त्य को यह ज्ञान हो जाता है कि वह स्वयं अमर्त्य है। मन तथा बुद्धि द्वारा 'ब्रह्म' ग्राह्य नहीं है। इनका अतिक्रमण करने पर ही 'आत्मा' का 'परमात्मा' में विलय हो जाता है।

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥३४॥

जिस मन को वश में लाया जा चुका है (अर्थात् जिसमें संकल्प-विकल्प नहीं होते) और जिस (मन) का विवेक-पूर्ण निग्रह किया गया है उस (मन) को जानना चाहिए। सुषुप्तावस्था में इस की और ही स्थिति होती है जो नियंत्रित मन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की अवस्था से सर्वथा भिन्न है।

जो व्यक्ति अब तक इन प्रवचनों को समझते आ रहे हैं वे सुषुप्तावस्था में मन की स्थिति को उपर्युक्त (मन-निग्रह) अवस्था के तुल्य मान सकते हैं क्योंकि इस समय तक हमें यह बताया जा चुका है कि परम-ज्ञान वह अवस्था है जिसमें मन बाह्य-संसार की किसी वस्तु को देख कर केवल आत्मानुभूति करने लगता है। अतः यह भ्रान्ति हो सकती है कि जिस सुषुप्तावस्था में हमें 'जाग्रत' संसार तथा 'स्वप्न' जगत् के अनेकत्व का ज्ञान नहीं रहता उसके समान ही आत्मानुभव की अवस्था होगी। इस भ्रान्ति को निवारण करने की दृष्टि से श्री गौड़पाद आत्म-ज्ञान की भिन्न स्थिति को साफ़ तौर पर समझा रहे हैं।

हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि 'कारिका' में 'माण्डूक्योपनिषद्' को व्याख्या की गयी है। शास्त्रों में हमें तीन ('जाग्रत', 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्त') अवस्थाओं के विषय में जानकारी दी गयी है। श्रुति-ज्ञान देने वाले ऋषियों ने चौथी (तुरीय) अवस्था की ओर भी संकेत किया है। वे कहते हैं कि चतुर्थावस्था को प्राप्त करने वाले सिद्ध पुरुष को पदार्थमय-संसार की अनुभूति नहीं होती। प्रस्तुत मंत्र में इस 'तुरीयावस्था' को यथार्थ रूप से वर्णन किया गया है।

इस उपनिषद् से सातवें मंत्र में अपवाद रूप से एवं निश्चित भाषा में 'श्रुति' द्वारा इस (तुरीय) अवस्था को बताया गया है किन्तु मन तथा बुद्धि के अधूरे उपकरण को रखने के कारण हम कदाचित् इस (अवस्था) को ठीक तरह समझ न पाये हों। इस श्लोक में दिये गये शब्दों को पूर्णतः समझना अत्यन्त आवश्यक है ताकि हम इस अवस्था को अपनी बुद्धि द्वारा जान सकें। जब हम पूरी तरह समाधिस्थ होते हैं तब हमारा अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रहता है किन्तु इस 'निग्रह' से हमारे मन की क्रियाओं को बलात् दबाना वांच्छनीय नहीं होगा।

परिपूर्ण परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार करने के लिए मन को बलपूर्वक रोकना उचित साधन नहीं है। हमें तो निरन्तर विवेक (ज्ञान) द्वारा इस (मन)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को आत्मघाती संकल्प-विकल्प से दूर रखना होगा। बुद्धि (विवेक) की सहायता लिये बिना मन का बलात् निरोध करना एक विफल प्रयास है। विवेक तथा विज्ञानपूर्ण धारणा द्वारा मन के अस्तित्व को मिटाने का हमें प्रयत्न करना चाहिए; ऐसा करने पर ही हमें आध्यात्मिक परिपूर्णता की अनुभूति हो सकती है।

इस तत्त्व को प्रकट करने के लिए अर्जुन के रथ के पाँच घोड़ों की बाग (लगाम) को पकड़े हुए भगवान् पार्थ-सारथि (श्री कृष्ण) को दिखाया गया है। जब हम इस चित्र पर 'कठोपनिषद्' में बताये गये 'रथ' के उदाहरण की दृष्टि से विचार करते हैं तब हम तुरन्त जान लेते हैं कि शुद्ध बुद्धि (विवेक) को ही सारथी के रूप में दिखाया गया है। इससे हमें पता चलता है कि केवल वह साधक अनन्त-शक्ति की प्राप्ति की लम्बी यात्रा को पूरा करता है जो पञ्चेन्द्रियों को विवेक-शक्ति द्वारा शासित मन के वश में कर लेता है।

यही कारण है कि जब कई वर्ष ध्यान-क्रिया करते रहने पर साधक इस दिशा में कोई प्रगति अनुभव नहीं करते तब वे ऐसा समझने लगते हैं कि वे कहीं के न रहे। इस असफलता का कारण यह है कि ये व्यक्ति बलात् मन का निग्रह करने में लगे रहते हैं जिससे उनका मन दबा रहता है न कि वासना-रहित। इस तरह हम बहुत से ऐसे योगियों की दुःखपूर्ण कथाएँ सुनते आये हैं जो हिमालय की कन्दराओं में कई वर्ष समाधिस्थ रहने पर भी सफलता न प्राप्त कर सके बल्कि पहले से अधिक उच्छृंखल, घमण्डी, कामुक तथा अभिमानी बन कर वहाँ से लौटे। यह उन मनुष्यों की दुःखद गाथा है जिन्होंने बल प्रयोग से ही अपने मन की गति का विरोध करके इसे विकृत कर दिया। यहाँ साधकों की इस संभावना के प्रति सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि मन के सब संकल्प-विकल्पों को विवेक-बुद्धि द्वारा धीरे-धीरे मिटाना चाहिए।

विवेक से अपने मन का निग्रह कर लेने पर हमें पता चलेगा कि उन्नतावस्था को पहुँचा हुआ हमारा मन निद्रा-जन्य स्थिति के किसी निष्क्रिय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुभव को प्राप्त नहीं करता । निद्रावस्था में हमारा मन निश्चय से निष्क्रिय होता है; फिर भी यह अशक्त रहता हुआ अपनी वासनाओं को लिये हुए कुछ समय अज्ञान-मग्न रहता है । जब यह (मन) हमारे द्वारा शुद्ध हो कर पूर्ण विवेक से नियंत्रण में लाया जाता है तब यह परमावस्था को प्राप्त कर लेता है । उस समय हमें 'अज्ञान' का ज्ञान नहीं रहता बल्कि 'ज्ञान' से पूरा परिचय हो जाता है । यह अनुभूति नकारात्मक अस्तित्व लिये हुए नहीं बल्कि चेतना-युक्त परम-शान्ति की सूचक होती है ।

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगूहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥३५॥

सुषुप्तावस्था में मन केवल निष्क्रिय अथवा अज्ञान में डूबा रहता है किन्तु वेदान्त-विहित उपायों से जब इस को वश में लाया जाता है तब यह बात नहीं होती । इस प्रकार गहरी निद्रा में सोये तथा आत्मानुभूत व्यक्तियों के अनुभवों में अन्तर होता है । ज्ञानी का मन तो निर्भय ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । इस क्षण इसकी एकमात्र यह परिमितता रहती है कि यह (अपने पृथक्-रूप का त्याग कर के) आत्म-स्वरूप को ग्रहण कर लेता है ।

पिछले मंत्र में केवल यह कहा गया था कि सुषुप्तावस्था में हमारा मन उस परम-स्थिति को प्राप्त नहीं करता जिसकी इसे आत्म-साक्षात्कार करते समय अनुभूति होती है । ज्ञानी तथा अगाढ़ निद्रा में सोये हुए व्यक्ति के मन में जो भेद पाया जाता है उसे इस मंत्र में पूर्ण रूप से समझाया गया है । जिस अनुष्य का मन सुषुप्तावस्था में क्रियमाण नहीं होता उसमें वासनाएँ समायी रहती हैं । उस समय ऐसा मालूम देता है कि यह अज्ञान के बादल के पीछे छिपा हुआ है । यह (मन) उस पात्र के सदृश है जो पर्दे के पीछे बैठा हुआ आने वाले दृश्य की बाट जोहता है ताकि वह रंगमंच पर फिर आ कर अपना पार्ट कर सके । इस नाट्य-पात्र की तरह परिभ्रान्त मन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुछ क्षण के लिए विश्राम करता है और हमारे जागन पर जीवन-रूपी नाटक के रंगमंच पर आकर यह क्षोभ, इच्छा, वासना, उत्कण्ठा आदि का खेल पूर्ववत् दिखाने लगता है।

परिपूर्ण-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए निरन्तर यत्न करके मन को शुद्ध रखना पड़ता है ताकि एकाग्रता के द्वारा इसे उन्नतावस्था में लेजाया जा सके क्योंकि तब यह उस पात्र के समान होगा जो नाटक कम्पनी की नौकरी छोड़ कर फिर रंगमंच पर नहीं आता। ऐसे इस मन में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुषुप्त और आत्मानुभूति की अवस्थाओं में हमारे मन की प्रतिक्रिया एक-समान नहीं होती।

जब हमारे मन का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् जिस समय यह हमारे वश में आ जाता है तब हमें यह सन्देह हो सकता है कि उस क्षण इसका क्या बनेगा। इस शंका को निवारण करने के उद्देश्य से महान् आचार्य्य यहाँ कहते हैं कि मन की इस अवस्था का अर्थ इसका ब्रह्म में लोन हो जाना है। यह बात हमें पूरी तरह समझ आ जायेगी जब हम इस तथ्य को स्मरण रखेंगे कि मन तो वास्तविक तत्त्व में आरोपमात्र है। जिस तरह सर्प रस्सी में आरोपमात्र है और उसका वास्तविक अस्तित्व कुछ भी नहीं उसी प्रकार मन के स्थिर होने पर हमें अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि हमारा मन स्वतः आत्म-तत्त्व में विलीन हो जाता है। भासित होने वाले सर्प का प्रत्येक भाग रज्जु ही तो है।

मृग-तृष्णा की छाया में हमें लहर, बुद्बुद्, जल, सूर्य्य का प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत होते हैं किन्तु उनमें कोई यथार्थता नहीं होती। ऐसे ही इष्ट-पदार्थ, मन, बुद्धि—यहाँ तक कि सब कुछ—विशुद्ध-चेतन **'ब्रह्म'** का ही स्वरूप हैं।

जब तक हमारा चंचल मन आत्म-तत्त्व की ज्योति में गतिमान रहता है तब तक हमें माया-रूपी संसार की प्रतीति होती रहती है और हम इसे वास्तविक समझे रहते हैं। जब हम अपने मन का निग्रह कर लेते हैं तब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हम सर्वशक्तिमान् परमात्मा के बिना और किसी की अनुभूति नहीं होती।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।३६।।

ब्रह्म अजात, निद्रा एवं स्वप्न-रहित, नाम-रूप के बिना और सर्वदा जाज्वल्यमान तथा सर्वज्ञ है। ब्रह्म की उपासना के लिए किसी प्रकार का अनुष्ठान करना व्यर्थ है।

हमारे परिमित शब्द किसी प्रकार अपरिमित 'ब्रह्म' का लक्षण नहीं बता सकते। परमात्म-तत्त्व अविनाशी है; अतः सीमित शब्दों द्वारा इसकी परिभाषा करना असंभव है। इतना होने पर भी गत मंत्र में बताया गया था कि मन के निश्चल हो जाने पर आत्मा का अनुभव होता है। प्रस्तुत मंत्र में आत्मा के गुण-स्वभाव की ओर संकेत किया गया है।

शास्त्रों के सनातन-तत्त्व को संकेत-मात्र से समझाया जाता है न कि परिभाषा द्वारा। यहाँ हमें एक ऐसा अनुपम उदाहरण दिया गया है जिससे वास्तविक-तत्त्व को बड़ी कुशलता से बताया गया है। जो व्यक्ति ऋषि के स्तर तक उठ कर उनके विचार समझने में समर्थ हो सकें उन्हें आत्मानुभूति के विषय में पर्याप्त ज्ञान की निस्सन्देह प्राप्ति होगी।

'अजम्'—जन्म-रहित। इस शब्द के विषय में पहले बताया जा चुका है कि आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् इससे किसी का जन्म नहीं होता। इससे हम यह समझते हैं कि आत्मा परिवर्तन-रहित है। यह सदा एक समान रहता है।

'अनिद्र'—निद्रा-रहित। यहाँ निद्रा का शाब्दिक अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए। बहुत से पण्डित ऐसा ही करते हैं जिससे साधारण हिन्दू-समाज में भ्रान्ति-पूर्ण धारणाएँ होने लगी हैं। अब लोग यह मानने लगे हैं कि सिद्ध पुरुष न विश्राम करता है और न ही निद्रा-ग्रस्त होता है। यहाँ इस शब्द का उपयोग इस दृष्टि से नहीं किया गया है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, आराम करना एक स्वाभाविक क्रिया है क्योंकि विश्राम से स्फूर्ति आती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि हम सत्य-सनातन को निद्रा-रहित कहें तो कारण-शरीर की सुषुप्तावस्था में, जब हम अज्ञान-तिमिर में खोये रहते हैं, आत्मा के अस्तित्व को न स्वीकार करना होगा । प्रगाढ़ निद्रा में औखत बुद्धि वाला व्यक्ति भी 'अज्ञान' को अनुभव करता रहता है । हमें विदित है कि निद्रा 'चेतना' की वह स्थिति है जब हम कारण-शरीर कोश से सम्बन्ध स्थापित किये होते हैं । यह बात हम पहले बता चुके हैं । निद्रा वह स्थिति है जब 'मन' अज्ञान में मग्न हो जाता है ।

इस तरह यहाँ 'निद्रा' शब्द का अर्थ 'अज्ञान' समझना चाहिए । आत्म-स्वरूप का अनुभव होते ही अज्ञान का लेशमात्र नहीं रह सकता अर्थात् ज्ञान को जानने पर अज्ञान का लोप हो जाता है । खम्भे का ज्ञान न होने पर भूत का आभास होने लगता है । जिस क्षण 'भूत' के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है, तत्क्षण हम खम्भे की यथार्थता को जान लेते हैं । तब हमें वह भ्रान्ति नहीं रहती जिसके कारण हमने अज्ञानवश खम्भे के स्थान में 'भूत' के दर्शन किये थे । आत्म-केन्द्र को खोज कर लेने पर हमें निज स्वरूप के प्रति रत्ती भर भ्रान्ति नहीं रहती और पदार्थमय दृष्ट-संसार के मिथ्यात्व का पता चल जाता है

'अस्वप्न'—स्वप्न-रहित । इसका अर्थ न केवल हमारी स्वप्नावस्था का समावेश होना है बल्कि जाग्रतावस्था को भी ध्यान में रखा गया है क्योंकि एक वेदान्ती के लिए स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था में कोई भेद नहीं है । एक अवस्था (जाग्रत) केवल दूसरी अवस्था (स्वप्न) का विस्तारमात्र है । यहाँ 'स्वप्न' शब्द का यह अभिप्राय है कि इसके द्वारा स्वप्न-द्रष्टा का मन नाम-रूप के स्थान में सुख-दुःख, हर्ष-शोक, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों की अनुभूति करने लगता है । जिन्हें हम दृष्ट-पदार्थ संसार में श्रेणा-बद्ध करते हैं । इन सब की हमें केवलमात्र भ्रान्ति होती रहती है क्योंकि हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते । जिस यथार्थ-तत्त्व का कारण नहीं, भला उस का प्रभाव क्या हो सकता है ? जहाँ खम्भा ही नहीं, वहाँ हमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूत' की भ्रान्ति कैसे होगी ? प्रत्यूष काल में हमें सर्प की भ्रान्ति तभी होगी जब कोई रस्सी हमारे सामने पड़ी हो ।

'अनामकमरूपकम्'—बिना नाम तथा रूप । परम-तत्त्व में नाम-रूप संसार नहीं रह सकता क्योंकि इस यथार्थता में दृष्ट-संसार का मिथ्यात्व कभी नहीं रह पाता ।

'अकृत् विभातम्'—सर्वदा जाज्वल्यमान् । यह तथ्य उपनिषदों के सैकड़ों अनुच्छेदों में समझाया गया है कि 'आत्मा' सब ज्योति का आदि-स्रोत है । यह ज्योति सूर्य्य अथवा अग्नि के समान नहीं समझी जानी चाहिए । यह तो 'बुद्धि की प्रवरता' है जिसे हम चेतना कहते हैं । स्वयं आलोकित होने का अर्थ यह भी है कि इसका कोई द्रष्टा नहीं; यह तो स्वतः ज्ञान-भण्डार है । आने वाले अध्याय में इस शब्द को अधिक विस्तार से समझाया जायेगा ।

'सर्वज्ञम्'—सब कुछ जानने वाला । हर विचारवान् प्राणी के भीतर रहने वाला ज्ञाता स्वतः प्रकाशपुंज है । सर्वव्यापक, सनातन तथा, विशुद्ध होने के कारण, अविभाज्य तत्त्व तीन-काल में एक समान रहता है । इसलिए इसे 'सर्वज्ञ' कहना सर्वथा उचित है ।

इस मंत्र में निषेधात्मक भाषा द्वारा संसार के अनुभूत पदार्थों की सत्ता को न मान कर अद्वैत एवं सर्वज्ञ क्रियमाण विशुद्ध-चेतना की परिभाषा की गयी है ।

सनातन-तत्त्व की अनुभूति करने के लिए किसी यज्ञ-सम्बन्धी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है । इस दिशा में आत्मा को अनुभव करने के कारण 'ध्यान' भी नहीं होता । यह कहना उचित नहीं कि परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति 'साधन' द्वारा होती है । यदि यह बात ठीक होती तो यह (आत्मा) किसी कारण का परिणाम बन कर रह जाता और तब परमेश्वर को नित्यता का अपवाद होता । वेदान्तवादियों का सिद्धान्त है कि 'साधन' तथा 'ध्यान' द्वारा हम केवल अपने भीतर के नश्वर, जात तथा सीमित अज्ञान को समाप्त कर देते हैं; जिसके नष्ट होने पर स्व-प्रकाशित और आत्म-विद् ज्ञान अपने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तविक रूप को जान लेता है। बादलों के एक ओर हट जाने पर सूर्य्य को प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता नहीं रहती। किसी तालाब के जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब देखने के लिए उस (जल) के ऊपर से 'काई' को हटा देना ही पर्य्याप्त होता है। जब काई को हटा कर हम स्वच्छ जल को देखने लगते हैं तब सूर्य्य-देव स्वयमेव उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं न कि हम उन (सूर्य्य-देव) का आवाहन करने बैठते हैं। वह (सूर्य्य) तो पहले से वहाँ प्रतिबिम्बित हो रहा था; केवल उसे काई ने ढाँपा हुआ था। ऐसे ही हमें अपने भीतर आत्मा को निरावरण करना होगा।

आत्मा शाश्वत एवं सतातन-तत्त्व है जिसके बिना यह शरीर न तो जन्म ले सकता और न ही निज सत्ता रखता हुआ क्रियमाण हो पाता है। इसमें कोई विचार विवक, भाव आदि नहीं रह सकता है। हम विवेक विचारादि को ध्यान द्वारा कहीं बाहिर से अपने भीतर नहीं लाते। 'ध्यान' वह क्रिया-विधि है जिसके द्वारा हम मन को स्थिर करके अपनी मानसिक दुर्बलताओं को दूर करते हैं। चलायमान न होने वाला हमारा मन जब विशुद्ध-ज्ञान का ध्यान धरता है तब मन की इति हो जाती है। 'मन' तो हमारे भीतर के अज्ञान को व्यक्त करने का साधनमात्र है। इसका अस्तित्व न रहने पर अज्ञान कहीं ढूंढे भी नहीं मिलता। इस (अज्ञान) के तिमिराच्छन्न साँकरे मार्ग के अन्त में अपने आप प्रकाशमान परम-ज्ञान का प्रदीप्त केन्द्र स्थान स्थित है।

सर्वाभिलाषविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥३७॥

यह (आत्मा) मन के द्वारा व्यक्त, शब्द-बद्ध तथा ग्राह्य नहीं होता। यह सब प्रकार प्रशान्त, सदा ज्योतिर्मान, निष्क्रिय तथा निर्भय है। इसको सम-बुद्धि (समाधि) द्वारा प्राप्त किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मंत्र में हमें यह समझाया गया है कि इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से पहले सनातन-तत्त्व की परिभाषा क्यों नहीं की गयी। दूसरे शब्दों में यहाँ हमें बताया गया है कि परमात्मा को भाषा-बद्ध करना अथवा किसी प्रकार वर्णन करना एक असंभव प्रयास है।

'अभिलापः'—वर्णन करना। यहाँ उस उपकरण की ओर संकेत किया गया है जिसके द्वारा हम ध्वनि करके अपने भाव व्यक्त करते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यह अमृत-तत्त्व प्रकट नहीं किया जा सकता अर्थात् यह हमारे मन द्वारा इस प्रकार समझा नहीं जा सकता जिस प्रकार यह (मन) हमारी ज्ञानेन्द्रियों की मूक भाषा को समझ कर बाह्य-संसार के विषय-पदार्थों का स्पष्टीकरण करता है। यह बात हमें भली-भाँति विदित है कि हम केवल स्थूल दृष्ट-पदार्थों को भाषा द्वारा वर्णन कर सकते हैं।

इस मंत्र में एक और शब्द के प्रयोग द्वारा यह बताया गया है कि यह (आत्मा) "मन की क्रियाओं की परिधि से परे है"। यदि यह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं तो इसे महसूस करना संभव हो सकता है—यह विचार हमारे मन में उठ सकता है। 'प्रेम' को ही लीजिए—इसे हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देख नहीं सकते; फिर भी यह महसूस किया जाता है। जहाँ तक अविनाशी आत्मा का सम्बन्ध है इसे महसूस भी नहीं किया जा सकता। जब मन हमारी किसी वासना से पृथक् होकर इसके प्रति निज प्रतिक्रिया को प्रकट करता है तब हम उसको महसूस कर पाते हैं। विशुद्ध चेतना तो हमारे मन का 'सार' है जिससे इसका उस (मन) से अलग होना एक असंभव बात है क्योंकि ऐसा होने पर 'मन' अपने गुण-स्वभाव से वंचित हो जायेगा। इस तरह हमें पता चला कि आत्म-तत्त्व हमारे मन का अनुभूत पदार्थ नहीं हो सकता।

इसके बाद कहा गया है कि यह (आत्मा) हमारी बुद्धि से भी परे है। एक नास्तिक इस परिभाषा को मानने के लिए कभी तैयार न होगा क्योंकि उसकी कल्पना-शक्ति 'आत्म-विचार' तक उड़ान करने में असमर्थ होती है और न ही वह इस तत्त्व की अनुभूति के समर्थ होता है क्योंकि यह सत्ता बुद्धि, मन और इन्द्रियों को लाँघने पर ही हम अनुभव कर सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ आचार्य्य ने कहा है कि 'आत्मा' इतना सूक्ष्म है कि यह बुद्धि में किसी प्रकार अशान्ति नहीं ला सकता। बुद्धि का कार्य्य-क्षेत्र विचार है और हमारे मस्तिष्क में किसी विचार के उठने से हलचल होने लगती है। जब हमारी बुद्धि पूर्णतः स्थिर होगी तब विशुद्ध चेतना स्वतः जाज्वल्यमान होने लगेगी। जब तक हमारी बुद्धि में विचार-तरंगें उठती रहती हैं तब तक परम-ज्ञान इन्हें आलोकित करता रहता है जिससे हम केवल बुद्धि-गत विचारों को जान सकते हैं।

इस मंत्र में 'चेतना' द्वारा प्रकाशमान वस्तुओं का किसी प्रकार हवाला दिये बिना इस (विशुद्ध चेतना) की परिभाषा करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि परमात्म-तत्त्व तक बुद्धि का पहुँच पाना असंभव है। जब हम इस सनातन-तत्त्व को इन्द्रिय, मन और बुद्धि (जिनके द्वारा मर्त्य किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं) से भी परे हैं तो हमें घोर निराशा का सामना करना होता है क्योंकि यहाँ पहुँच कर हम आत्म-दर्शन कभी न कर सकेंगे, यहाँ 'स्वकृत-ज्योति' का प्रयोग इसलिए किया गया है कि ऋषि हमारे मन पर यह छाप बिठाना चाहते हैं कि 'चेतना' को प्रकाशमान् करने के लिए किसी अन्य ज्योति की आवश्यकता नहीं।

क्या सूर्य्य को देखने के लिए हमें कोई और रोशनी आवश्यक है? हमें केवल अपने और सूर्य्य के बीच आने वाली रुकावट को दूर करना है। इस तरह हमारे मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र के विविध प्रकम्पन शान्त होते ही कीर्त्तिमान आत्म-स्वरूप स्वयमेव व्यक्त हो जाता है।

परम-चेतना की अवस्था नाम-रूप में सर्वतः एक-समान है जिससे यह अद्वैत, शाश्वत् तथा असीम तत्त्व परिवर्त्तनशील नहीं हो सकता और जब इसमें कोई विचार नहीं आता तो इसे किस से भय हो सकता है?

जब तक गुरु अपने शिष्यों के लिए उस साधन की व्यवस्था नहीं करते जिसके द्वारा वे अपने ध्येय (आत्मा) को अनुभव करने में समर्थ हों तब तक आर्य्य-जाति को अत्यन्त व्यावहारिक संस्कृति में वास्तविक-तत्त्व की निश्चित् अथवा नकारात्मक भाषा द्वारा परिभाषा करना एक बिफल प्रयास होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस लिए यहाँ श्री गौड़पाद ने 'साधन' के आदर्श की ओर संकेत करने के लिए 'समाधि' शब्द का सुन्दर एवं उपयुक्त प्रयोग किया है ।

अवनति की ओर जा रहे हमारे हिन्दू धर्म में 'समाधि' शब्द का सर्वथा दुरुपयोग किया जाता है । आध्यात्मिक ज्ञान न रहने के कारण इस शब्द (समाधि) को सुनते ही हमारे सामने एक ऐसे दम्भी योगी का चित्र आ जाता है जो भूमि में गड्ढा बना कर उसमें बन्द होना चाहता है । इन क्रियाओं का समाधि' से कोई सम्बन्ध नहीं । 'धा' शब्द का अर्थ है 'बुद्धि' । इस तरह 'समाधि' का अभिप्राय 'बुद्धि की सन्तुलित स्थिति' हुआ । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि एक सिद्ध पुरुष निज मन एवं बुद्धि को अपने वश में रखता है जिससे उस की बुद्धि पूर्ण रूप से स्थिरता तथा सन्तुलन का अनुभव करती रहती है । वह (बुद्धि) जीवन की विविध परिस्थितियों के विकराल नृत्य से पृथक् रहती है । ऐसी पूर्णावस्था में ही हम परम-तत्त्व को सुविधा-पूर्वक अनुभव कर सकते हैं । अतः 'समाधिस्थ' होने से यह न समझना चाहिए कि यह किसी यौगिक-चमत्कार अथवा जन-समूह के मनोरंजन के लिए किये गये तमाशे की क्रिया है । यह सन्तुलन केवल वह व्यक्ति अनुभव कर सकता है, जिसकी बुद्धि पूर्णतः परिपक्व है और जिसने अपने व्यक्तित्व को संतुलित कर लिया है । ऐसा मनुष्य अपने भीतर अविरल गति से प्रवाहित मूक-आनन्द का अनुभव करने लगता है । विवेकमयी बुद्धि के साथ अपने मन के विविध विक्षेपों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण आत्म-विश्वास रखने वाला यह व्यक्ति जीवन के प्रति किसी तरह का मोह नहीं रखता ।

यहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ।।३८।।

आत्मा में, जो मन की सभी क्रियाओं की अन्तिम पूर्ति है, न तो कोई दृष्टि (अनुभूति) है और न ही विचारों की कोई बिजृम्भना । अपने आप में स्थित आत्मा ज्ञान द्वारा व्याप्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है । यह ज्ञान अनादित्व एवं समता की अवस्था को प्राप्त करता है ।

पिछले मंत्र में हमें बताया गया था कि मन का निग्रह करने पर हम परमात्म-तत्त्व की व्यक्तिगत अनुभूति कर सकते हैं । मन का निष्फल होना ही परमात्मा के दर्शन करना है । आत्मा में विचार, भावना और वासनाओं का आदान-प्रदान नहीं होता । 'सत्य' का सृजन, पालन तथा संहार होना असंभव है । इस आध्यात्मिक केन्द्र में मन के किसी संकल्प-विकल्प के लिए स्थान नहीं है ।

जिस क्षण मन हमारे वश में आ जाता है उसी क्षण हम अविनाशी हो जाते हैं क्योंकि तब हमारा नश्वर मिथ्याभिमान सत्य-सनातन में विलीन हो जाता है तथा उसके बाद यह नाश-रहित कहलाने लगता है क्योंकि 'आत्मा' में कोई विकार नहीं हो सकता ।

अविनाशी-तत्त्व निश्चित् रूप से एक-रूप रहेगा और न ही इसके भाग किये जा सकेंगे । अद्वैत, सनातन और सर्व-व्यापक 'चेतना' स्वभाव से सनातन-रूप है । 'अहंकार' का नाश हो जाने पर हमारा मन परमात्मा को प्राप्ति कर लेता है । जब हमारा पार्थक्य समाप्त हो जाता है और हमारे मन एवं बुद्धि निश्चलता को प्राप्त कर लेते हैं तब हमें विशुद्ध ज्ञान का वास्तविक अनुभव हो जाता है ।

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दशः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥३९॥

यह योग, जिसे **अस्पर्श योग** कहते हैं, सभी योगियों द्वारा सुगमता से प्राप्त नहीं किया जा सकता । योगी तो इस मार्ग को अपनाने से डरते हैं क्योंकि व इस परम-तत्त्व से भयभीत रहते हैं । इसको प्राप्त करने पर ही निर्भयता की वास्तविक स्थिति का अनुभव होता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ श्री गौड़पाद ने वेदान्त-साधना के लिए **'अस्पर्श योग'** के अद्वितीय शब्द का प्रयोग करके निज बुद्धि-चातुर्य्य का अनुपम प्रमाण दिया है । कई आलोचक कहते हैं कि ऋषि ने यह शब्द बौद्ध-साहित्य से लिया है क्योंकि शास्त्रों में इस तरह का कोई शब्द नहीं मिलता । टीका-टिप्पणी करने वाले व्यक्तियों ने तो बौद्ध-ग्रन्थों से कई हवाले दे कर यहाँ तक कह दिया है कि भगवान् गौड़पाद ने इसे वहाँ से नकल किया है ।

इस ग्रंथ को सहृदयता से समझने वाले वेदान्त-प्रेमी इस विचार से सहमत नहीं हैं । हमें **'श्रीमद्भगवद्गीता'** में प्रत्यक्ष रूप से पता चलता है कि पाँचवें अध्याय के २१, २२ और २७वें श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने **'स्पर्श'** शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ इन्द्रियों द्वारा मन का बाह्य पदार्थों से संपर्क स्थापित करना है । गीता का ज्ञान होने के कारण ऋषि ने यह शब्द स्वयं गढ़ा होगा ।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'स्पर्श' का उपयोग उस मानसिक स्थिति को समझाने के लिए किया गया है जिसके द्वारा प्रत्येक विमूढ़ व्यक्ति विषय-पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित तथा हर्ष या विषाद की अनुभूति करता रहता है ।

बाह्य संसार के पदार्थों में स्वतः किसी विशेष अनुभूति की प्राप्ति कराने की क्षमता नहीं है । बात यह है कि अनुभव-कर्त्ता आत्माभिमानी इन्द्रियों के मार्ग से बाहिर जा कर स्थूल संसार से संपर्क स्थापित कर लेता है । हम स्वयं विभ्रमित हो कर मिथ्या भावनाओं का शिकार होते हैं जिस से ये विषय-पदार्थ हमसे ही बल पाकर हमें विविध यातनाओं से पीड़ित करते रहते हैं । गीता के पाँचवें अध्याय में इस विचार की बड़ी सुन्दरता से व्याख्या की गयी है । आत्मानुभूति की वेदान्त-सम्बन्धी प्रक्रिया को हमारे हृदय-पटल पर अंकित करने के लिए ही श्री गौड़पाद ने यहाँ 'अस्पर्श-योग' का प्रयोग किया है ।

बौद्धिक विश्लेषण और यथार्थ ज्ञान की प्रक्रिया द्वारा मन का इसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय-पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करना ही वह वेदान्त-अभ्यास है जो हमारा आध्यात्मिक विकास कर देता है। इस विचार को 'अस्पर्श-योग' शब्द द्वारा ही इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया जा सकता है।

इस शब्द में पारस्परिक विरोध पाया जाता है। 'योग' का अर्थ (युज्-जोड़ना) वह क्रिया है जिसके द्वारा आत्म-तत्त्व का परमात्मा में विलय होजाता है। इस क्रिया द्वारा शरीर, मन, बुद्धि आदि सहित 'अहंकार' स्थूल पदार्थों से अपना सम्बन्ध तोड़ने में प्रयत्नशील होता है और अन्त में यह अपनी पृथक् सत्ता को खो देता तथा आत्म-स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार ऋषियों द्वारा निर्धारित आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए वेदान्त ने एक विविध प्रक्रिया की व्यवस्था की है जिसे एक साथ अपनाना श्रेयस्कर है।

किसी एक साधक के लिए परम-सत्ता तथा इसके वास्तविक स्वरूप पर ध्यान जमाना ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसे इस मन से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा जो हमारा इन्द्रियों आदि के द्वारा हमें बन्धन में जकड़े रखता है। इस तरह हम एक ओर आत्मा से इतर सत्ता को अलग करना है और दूसरी ओर 'आत्मा' के सनातन गुणों का विधि पूर्वक मनन करना है।

'अस्पर्श योग' शब्द इन दोनों आध्यात्मिक प्रक्रियाओं—निश्चियात्मक एवं नकारात्मक—का द्योतक है। 'अस्पर्श' का अर्थ है अवास्तविकता के प्रति अपने मोह तथा बन्धन का त्याग करना और 'योग' उस प्रयास का सूचक है जिसके द्वारा साधक की विशुद्ध जीवात्मा यथार्थ एवं सनातन-तत्त्व से पुनः अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है।

भ्रान्ति-पूर्ण 'भूत' के परोक्ष रहने वाली वास्तविकता की खोज करने की दो क्रियाएँ हैं—अवास्तविक 'भूत' से सम्बन्धित मिथ्या धारणा का पूर्ण रूप से त्याग करना और साथ ही 'खम्भे' के स्वरूप का ध्यान करने की योग्यता प्राप्त करना। हमें इन दोनों तरीक़ों को एक साथ दृढ़ता-पूर्वक अपनाना है ताकि अन्ततोगत्वा हम दृष्ट-भ्रान्ति के पीछे रहने वाली वास्तविक सत्ता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के प्रति जागरूक हो सके । इन निश्चित एवं निषिद्ध प्रक्रियाओं को अपनाना अर्थात् आध्यात्मिक अभ्यास को उपयोग में लाना योगियों के लिए भी दुष्कर है ।

श्री गौड़पाद के इन शब्दों से कि यह प्रक्रिया महान् योगियों के लिए भी अतीव कठिन है यह प्रकट नहीं होता कि कोई साधक इस पूर्णावस्था को प्राप्ति कर ही नहीं सकता । हमें तो यहाँ यह समझना है कि आत्म-स्वरूप को अनुभव करना कितना कठिन कार्य्य है । यहाँ साधकों को किसी प्रकार निरुत्साहित करने का उद्देश्य नहीं बल्कि उन्हें यह चेतावनी देना है कि इस दिशा में सतत प्रयत्न करते रहना अनिवार्य है ।

योगियों के विपरीत द्वैतवादी सदा इस विचार से भयभीत रहते हैं कि अपने इस प्रयास में सफल हो जाने पर उनकी पृथक् सत्ता (जीव-भावना) समाप्त हो जायेगी और वे आत्मा में विलीन हो जायेंगे । वे चाहते हैं कि इन दोनों (जीव तथा परमात्मा) की सत्ता बनी रहे । दूसरे शब्दों में वे परम-सत्ता को अपने से पृथक् देख कर आनन्द लेते रहना चाहते हैं । उनका यह आग्रह उस भय का सूचक है जो उन्हें आत्म-केन्द्रित जीवन का परित्याग करने से रोकता रहता है ।

वास्तव में परमात्म-स्थिति भय-रहित है; फिर भी द्वैतवादी अपने पृथक् व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण समर्पण करने से घबराते हैं और साथ ही वे इस सनातन-तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं । जब तक साधक अपने व्यक्तित्व को समर्पण करने का दृढ़ निश्चय नहीं करते तब तक उन्हें आध्यात्मिक परिपूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ही वे परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं ।

वह संसारी जो दुःखपूर्ण तथा नश्वर जीवन व्यतीत करता है 'स्पर्श-योगी' है । इसके विपरीत हम उस दैवी पुरुष को 'अस्पर्श-योगी' कहते हैं जो निष्ठा से सनातन एवं अविनाशी जीवन बिताता है ।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेवच ॥४०॥

जो योगी कारिका में बताये गये ज्ञान-मार्ग को नहीं अपनाते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वे अपने मन को वश में रखने के लिए उस आत्म-ज्ञान का सहारा लेते हैं जो निर्भयता, सुख एवं शान्ति का प्रदाता है ।

पिछले मंत्र में हमने वेदान्तियों के अतिरिक्त आत्मानभूति के जिन मार्गों का वर्णन किया है वे सब शारीरिक प्रक्रिया द्वारा मानसिक उन्नति की प्राप्ति में आस्था रखते हैं । भक्ति-मार्ग के अनुयायी अपने भावों पर आश्रित रहते हैं जब कि 'हठ-योग' को अपनाने वाले 'प्राणायाम' द्वारा अपने मन को वश में लाने में प्रयत्नशील होते हैं । इन सब के विपरीत वेदान्तवादी अपने मन का निग्रह बुद्धि के श्रेयस उपकरण द्वारा करते हैं । 'विवेक' वह सूक्ष्म गतिमान शक्ति है जिसके द्वारा वे अपने मन का नियंत्रण एवं नियमन करते हैं ।

इस मंत्र में प्रयुक्त 'निर्भयता', 'दुःख-नाश', 'आत्म-ज्ञान' अथवा 'शाश्वत शान्ति' शब्द परमात्म-तत्त्व या विशुद्ध-चेतना के उस ध्येय की ओर संकेत करते हैं जिसे प्राप्त करने के लिए सभी धर्मानुयायी प्रयत्नशील रहते हैं । यहाँ इनकी अलग-अलग व्याख्या करना व्यर्थ होगा क्योंकि प्रारम्भिक प्रयत्नों में इन पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है ।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥४१॥

सतत प्रयत्न करते रहने पर ही मन को वश में लाया जा सकता है जिस प्रकार कुशा के एक तिनके द्वारा समुद्र को रिक्त करने के लिए अनुपम साहस एवं प्रयत्न होना आवश्यक है ।

समुद्र को रिक्त करने के प्रयत्न का यहाँ जो प्रसंग दिया गया है उस का उल्लेख 'हितोपदेश' की तिथिपोपाख्यान नामक कथा में किया गया है । मूल कथा में कहा गया है कि एक पक्षी ने समुद्र के तट पर अण्डे दिये । समुद्र में ज्वार-भाटा आने पर वे सब समुद्र में बह गये । जब पक्षी ने वहाँ लौट कर अपने अण्डे न पाए तो उसने अपने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह समुद्र के जल को सुखा कर अपने अण्डे प्राप्त करेगा। इस पर उसने कुशा का एक तिनका अपनी चोंच में लिया और समुद्र का पानी एक-एक बूंद द्वारा बाहिर फैंकना आरम्भ कर दिया। आकाश में उड़ रहे 'गरुड़' ने दृढ़-संकल्प वाले उस पक्षी के इस परिश्रम की सराहना करते हुए उसे सहायता देने का निश्चय कर लिया। 'गरुड़' के क्रोध से भयभीत हो कर समुद्र ने उस पक्षी के अण्डे लौटा दिये।

द्वैतवादी बहुधा इस कथा का हवाला दे कर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि आत्म-परिपूर्णता की प्राप्ति चाहे कितनी कठिन हो इसकी अनुभूति संभव हो जायेगी यदि हम उपरोक्त पक्षी की तरह दृढ़ता-पूर्वक अपनी धारणा को कार्यान्वित करने में लगे रहें। जिस तरह पक्षी की सहायता 'गरुड़' ने की वैसे ही हम पर 'ईश्वर-कृपा' बनी रहेगी और हम अपने ध्येय की प्राप्ति कर लेंगे। किन्तु यहाँ इस कथा का किसी और दृष्टि से उपयोग किया गया है। 'पञ्चदशी' में श्री विद्यारण्य तथा 'भागवत्' की टीका में श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस कथा का उल्लेख किया है।

गत मंत्र में हम उन उपायों का वर्णन कर चुके हैं जिनका आत्मानुभूति में प्रयत्नशील 'योगी' तथा 'ज्ञानी' प्रयोग किया करते हैं। योगी तो अपने विचारों को उच्च करने अर्थात् इन्हें मिटाने का प्रयास करते रहते हैं। वे मनन एवं अभ्यास द्वारा अपने मन को विचारों से रिक्त करने में लगे रहते हैं जिससे उनका मन विचार-रहित हो जाए। 'कारिका' में श्री गौड़पाद का उद्देश्य हमें यह बताना है कि इस स्थिति को प्राप्त करना असंभवप्राय है और यह प्रयत्न इतना ही कठिन है जितना कुशा के एक तिनके द्वारा समुद्र को सुखाना।

तो भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ ऋषि इस दिशा में किये गये प्रयास की विफलता पर बल नहीं देते। इस उपाय द्वारा हम निश्चय-पूर्वक अपने मन को रिक्त कर सकते हैं किन्तु यह कार्य्य अति दुष्कर है क्योंकि एक साधारण साधक उस समय तक सफल नहीं हो सकता जब तक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस पर भगवान् अथवा गुरु का अनुग्रह न हो। भगवद्-अनुग्रह अथवा गुरु-कृपा तभी उपलब्ध होगी जब हम सच्चे दिल से ध्यान-मग्न हों।

इस मंत्र को आने वाले सात मंत्रों की भूमिका ही समझना चाहिए। इन मंत्रों के बाद यह अध्याय समाप्त होता है। जैसा हम कह चुके हैं, यह धुस्तक उपदेश-ग्रन्थ है। इसलिए इस तरह के साहित्य के साहित्यिक नियम के अनुसार श्री गौड़पाद स्पष्ट रूप से ऐसी हिदायतें देते हैं जिनका पालन करते हुए साधक परिपूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ पाते हैं। इस सत्य-पथ का प्रदर्शन करने वाले सात मंत्रों में अमूल्य निर्देशों का समावेश किया गया है। इनको ध्यान में रखते रहने पर साधक को साधन-सम्बन्धी किसी गम्भीर समस्या का सामना नहीं करना पड़ेगा; किन्तु ऐसा व्यक्ति एक सच्चा साधक होना चाहिए। ऐसे साधकों का मिलना प्रायः दुर्लभ है।

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयो :।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥४२॥

कामना और भोग द्वारा जिसका मन विक्षेप को प्राप्त हो चुका है और जो (मन) पूर्ण विस्मृति (लय) का उपयोग करता है उसे उचित उपायों द्वारा इस (मन) का उद्बोधित करके पूरे नियंत्रण में लाना चाहिए। 'लय' की अवस्था इतनी हानिकारक है जितना विचारों का प्रवाह।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद ध्यान-मार्ग पर चलने वाले सच्चे साधक को लाभप्रद निर्देश देने का प्रयास कर रहे हैं जो उसे ध्यानावस्थित होते हुए संभावित बाधाओं से सुरक्षित रख सकेंगी। इनको ध्यान में रख कर वह (साधक) अपने मन को इन गड्ढों से दूर रख कर अतीत की उड़ानें भरने में समर्थ होता है।

सबसे अधिक दुष्कर एवं दुःखप्रद बाधाओं में से एक रुकावट वह है जो हमारे मन को सहसा विच्छिन्न कर देती है। इसे संस्कृत में 'लय' (निद्रा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अथवा मुग्धावस्था) कहते हैं। जब हम ध्यान में बैठ कर अपने मन को स्थूल पदार्थों के क्षेत्र से हटाते और एकाग्रता द्वारा उसे एकस्थ कर देते हैं तब इस के अज्ञान (जिसे निद्रा या विस्मृति कहा जाता है) के गर्त्त में गिरने की संभावना होती है। यह निद्रा हमारी सामान्य निद्रा से भिन्न होने के साथ हर्ष-पूर्ण मनमोहकता लिये रहती है। कई व्यक्ति इसे भूल से 'समाधि' कह देते हैं। इस लिए ऋषि ने परामर्श दिया है कि इस अवस्था से मन को उद्‌बोधित कर के फिर ध्यान-मग्न होना चाहिए।

कई बार हमारा मन बीते हुए, बीत रहे और कल्पित हर्ष-सम्बन्धी अनुभवों की भूल-भुलैयों में भटकता रहता है। आत्मानुभूति के मार्ग पर चलने वाले सच्चे साधक को लय एवं कामना की स्थितियों से सतर्क रहना चाहिए क्योंकि इन दोनों का परिणाम भयंकर होता है। 'लय' (आध्यात्मिक निद्रा) अथवा अक्षुण्ण इच्छा के प्रवाह में बह जाने वाला साधक अपने मन का निग्रह करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं कर सकता।

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य काम भोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥४३॥

इस धारणा को समक्ष रखते हुए कि दृष्ट-पदार्थ दुःख का घर है, मन को भोग से होने वाले हर्ष से दूर रखो। यदि हम अजात 'ब्रह्म' का निरन्तर ध्यान करते रहेंगे तो द्वैत-पदार्थ हमारे अनुभव में न आने पायेंगे।

एक पिछले मंत्र में यह बताया गया था कि हमें अपने मन को इच्छाओं से किस प्रकार दूर रखना चाहिए। हमें यह भी पता चल चुका है कि आध्यात्मिक जगत् में मन को निष्क्रिय करना जरूरी होता है और ऐसा करने पर सतत प्रयत्न द्वारा हम उसे उन्नत कर सकते हैं। यहां हमें ऐसी हिदायतें दी गयी हैं जिनका पालन करके हम अपने सामान्यतः विक्षिप्त मन को वश में ला सकते हैं।

हर्ष प्राप्त करने की इच्छा से पूर्ण मन साधारणतः सूक्ष्म पदार्थों के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाल में बँधा रहता है। यह मन केवल उन पदार्थों की ओर भाग सकता है जिन में इन तीन मिथ्या धारणाओं में से कोई एक भ्रान्ति पायी जाए—(१) सत्यत्व भावना; (२) नित्यत्व भावना और (३) समचीनत्व भावना। ये तीन धारणाएँ स्थूल पदार्थों में हमारे मन का आरोप होने के कारण प्रतीत होती हैं जब कि इन पदार्थों में स्वतः कोई ऐसा गुण नहीं पाया जाता।

यह एक ऐसी धारणा है जो हमारे इस अन्ध विश्वास के कारण प्रकट होती रहती है कि संसार के इष्ट-पदार्थों में मूलतः इन गुणों का समावेश होता है। यह बात भी मानने योग्य है कि जहाँ ये गुण दिखाई नहीं देते उस ओर हमारा मन प्रवृत्त नहीं होता। हमारे मन को समझाने का एक-मात्र आचार्य्य हमारी विशुद्ध विवेक-शक्ति (बुद्धि) है। आजकल के औसत व्यक्ति की बुद्धि कुण्ठित हो चुकी है। इसलिए आध्यात्म-मार्ग को अपनाने वाले साधक को यह परामर्श दिया जाता है कि वह अपने मन को उन आवरणों से युक्त रखे जो उसने अपने आप ला खड़े किये हैं।

बुद्धि की विशुद्ध ज्योति को इसे ढाँपने वाली मानसिक धुंध से दूर रखो। बुद्धि को मानसिक प्रलोभनों के पाश से अलग रखने की क्रिया को अध्यात्म-साहित्य में 'विवेक' शब्द से स्मरण किया जाता है। जब हम 'विवेक' द्वारा विषय-पदार्थों के वास्तविक सुख का विश्लेषण करते हैं तब हमें इनकी निस्सारता का ज्ञान होने लगता है। उस समय हम नत-मस्तक हो कर सोचने लगते हैं कि इन मिथ्या गुणों में अधाधुंध आस्था रखने से हम कितनी भ्रान्ति का शिकार बने रहे हैं। तब हम उन मनमोहक विषय-पदार्थों के दुःखपूर्ण नृत्य द्वारा मुग्ध हो कर सत्य-मार्ग पर दृढ़ता से अग्रसर होने में प्रयत्नशील रहते हैं। जो पुरुष अपनी जाग्रत बुद्धि के शिखर से संसार पर दृष्टिपात करता है उसे संसार के पदार्थों में रत्ती भर हर्ष अथवा विषाद का अनुभव नहीं होता। उसे इन विषय-पदार्थों के वास्तविक स्वरूप (शक्तिहीनता एवं खोखलापन) का पूरा ज्ञान हो जाता है। ऐसे स्थित-प्रज्ञ ही इन स्थूल पदार्थों के गिर्द रहने वाले शान्तिमय परन्तु मनोहारी पर्दे को चीर कर अपनी पैनी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृष्टि से इनके दुःखप्रद घावों को देख पाते हैं।

यहाँ श्री गौड़पाद ज्ञान-मार्ग के यात्री को यह परामर्श देते हैं कि वह अपने जीवन का मूल्यांकन करने के उपाय द्वारा इस तरह परिचित हो और अपनी विवेक-बुद्धि को यथोचित उपयोग में लाए। जो साधक इस मार्ग पर सतर्कता से चलता रहेगा उसे ध्यानावस्था में न तो अतीत के हर्ष का स्मरण रहेगा; न उसे वर्त्तमान उपायों का रसास्वादन करना होगा और न ही कल्पित सुखों की लालसा उसे चलायमान रखेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहने पर एक विवेकपूर्ण योगी अपने मन के विक्षेपों पर नियंत्रण रखता है।

मन को शान्त कर लेने पर भी हमें पाँच विषय-कूकरों से जूझना शेष रहता है जो हमारी आत्मा की निस्तब्धता में सदा बाधा डालते रहते हैं। कोई सच्चा साधक ध्यानावस्था में इस बात को अनुभव नहीं करेगा। यहाँ श्री गौड़पाद इस कोटि के सिद्ध पुरुषों के विषय में कहते हैं कि सर्व-व्यापक सनातन-तत्त्व की सत्ता का ज्ञान रहने के कारण उनकी इन्द्रियाँ मन में लेशमात्र विक्षेप करने में असमर्थ होती हैं। इनके लिए विषय-पदार्थ वही महत्त्व रखते हैं जो इनकी अपनी इन्द्रियाँ। 'शब्द' इनका 'कान' है; 'रूप' इनकी 'दृष्टि' है। इनकी यह धारणा रहती है कि यदि संसार में विविध नाम-रूप पदार्थ न होते तो हमें अपने 'नेत्र' के अस्तित्व का ज्ञान तक न रहता और ये (नेत्र) हमारी नाभि की भाँति केवल दो छिद्र बन कर रह जाते अर्थात् हम इनकी क्रिया से पूर्ण रूप से अनभिज्ञ रहते।

इस प्रकार 'कान' फैल कर 'ध्वनि' बन गये; 'दृष्टि' ने अनेक नाम-रूप पदार्थों की आकृति ग्रहण कर ली इत्यादि। वास्तव में 'चेतना' ही हमारी इन्द्रियों को गतिमान रखती है और यही शक्ति हमारे मन एवं बुद्धि को दीप्तिमान करती है। जिस व्यक्ति ने दैवी सर्व-व्यापक आत्म-शक्ति से साक्षात्कार कर लिया है और जो इसकी ज्योति के अक्षुण्ण प्रवाह द्वारा आलोकित हो चुका है वह इन्द्रियों की भूल-भलैयों में कभी नहीं फँस सकता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लये संबोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकाषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥४४॥

इस 'लय' अवस्था में हम अपने मन का उद्‌बोधन कर लेते हैं; इसमें विक्षेप होने पर हम इस (मन) को शान्त कर लेते हैं। इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था में हम इस बात का ज्ञान रखते हैं कि इस (मन) में बलवती अव्यक्त इच्छाएँ भरी पड़ी हैं। (इन तीन बातों का ध्यान रखते हुए) जब हमारा मन सन्तुलनावस्था को प्राप्त कर ले तब इसे चलायमान न करें अर्थात् इसे वहाँ ठहरने दें।

इस मंत्र में सत्य-मार्ग को अपनाने वाले यात्री के लिए उन सभी विस्तृत निर्देशों का समावेश कर दिया गया है जिन्हें जानना उसके लिए अनिवार्य है।

'साधन' की प्रारम्भिक स्थिति में मन धीरे-धीरे शान्त हो जाता है किन्तु तब इस पर अज्ञान की धुंध छा जाती है जिससे यह गिरता हुआ 'लय' के तिमिरावृत क्षेत्र में जा पहुँचता है। यहाँ यह समझाया गया है कि साधक अपने मन को 'लय' से जगाता तथा सक्रिय रखता रहे। जब हम अभ्यास द्वारा मन की इस दुर्बलता पर विजय पा लेते हैं तब यह (मन) फिर 'लय' के गर्त्त में अपने आप गिरने नहीं पाता।

इस अवस्था में साधक के मार्ग में एक और बाधा आ खड़ी होती है और वह यह है कि हमारा उद्‌बुद्ध मन एकाग्रता को प्राप्त करते हुए भी वहाँ अधिक देर तक ठहर नहीं पाता और स्वतः विविध विचार-धाराओं में भाग निकलता है। यह बीती स्मृतियों, वर्त्तमान भोगों और कल्पित सुखों को स्मरण करके इधर-उधर भटकने लगता है। मन की इस विक्षिप्तावस्था में, जैसा गत मंत्र में कहा गया है, हमें इसे समझाते रहना चाहिए जिससे हम उन मिथ्याभासों से पृथक् रह सकें। यथार्थ रूप से 'ध्यान' के उत्तुंग शिखर पर पहुँच जाने के बाद हमें विवेक-बुद्धि द्वारा इसे अधिक से अधिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थिर बनाये रखना चाहिए।

जब साधक अपने मन का 'लय' अवस्था से उद्बोधन कर लेता और साथ ही अपने मार्ग पर विवेक-बुद्धि से आरूढ़ रहता है तब ब्रह्म-विद्या के इस छात्र में सहसा एक उज्ज्वल भावना का प्रादुर्भाव होता है जिससे वह यह परिणाम निकाल बैठता है कि अब उसका मन वशीभूत हो गया है और वह 'परिपूर्णता' की ओर बढ़ रहा है। ऐसे अदीक्षित छात्र को इस प्रकार के मनोहारी विचारों से सतर्क रखने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद ने बड़ी दयालुता से यह असाधारण चेतावनी दी है।

भगवान् कहते हैं कि मन पर इस प्रकार विजय प्राप्त कर लेने पर भी साधक को यह समझ लेना चाहिए कि कुछ समय तक नियंत्रण में रहता प्रतीत होने वाला हमारा विकसित मन प्रबल एवं अवचेतन वासनाओं से भरा रहता है। ऐसे अवसरों पर असंख्य जन्मों से चली आने वाली पाशविक प्रवृत्तियाँ, जो हमारे मन के एक क्षेत्र में निश्चेष्ठ पड़ी रहती हैं, किसी क्षण फूट निकलें और हमारे विजय-स्वप्न को भंग कर दें। इस चेतावनी से इस दिशा में बड़ी सहायता मिलती है जिससे अध्यात्म-पथ पर चलने वाले व्यक्ति किसी निराशा का सामना नहीं कर सकते।

ये पाशविक प्रवृत्तियाँ, जो हमारे मन में निश्चेष्ठ पड़ी रहती हैं। हमारे ध्यान की विवेकाग्नि में जल कर शुष्क हो जाने से पहले एक बार अवश्य उभरती हैं। इन्हें हम मन का 'कषाय' कहते हैं।

जब कोई साधक इस तरह 'विक्षेप' और 'कषाय' पर विजय पा लेता है तब वह वास्तविकता के तोरण-द्वार पर पहुँच कर खटखटाने लगता है। ईसा महान ने इसी लिए यह सन्देश दिया है—"(स्वर्ग के) द्वार को खटखटाओ और तुम भीतर प्रवेश पा लोगे।" जिस क्षण आप इस प्रकार 'द्वार' को खटखटा रहे हों अपने मन के सन्तुलन और धैर्य्य को हाथ से न जाने दें जब तक कि वह द्वार खुल न जाए। इस विचार को इन शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है कि जिस समय मन सन्तुलनावस्था को प्राप्त कर लेता है तब इसे फिर चलायमान न होने दें।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ध्यानावस्था में हमारा मन न तो सोया रहता है और न ही विक्षिप्त होता है । जब यह 'मन' निस्तब्ध एवं गतिमान् रिक्ति का असाधारण अनुभव प्राप्त कर रहा हो तब इसे किसी प्रकार डिगने देना आत्मा के प्रति महानतम पाप करना है।

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसंग प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरचित्तमेकोकुर्यात्प्रयत्नतः ॥४५॥

समाधि की अवस्था में अनुभव में आने वाले सुख के उपभोग से मन को बचा कर रखना चाहिए । नियमित रूप से विवेक द्वारा इस (मन) को ऐसे सुख में लिप्त होने से बचाना चाहिए । यदि स्थिरता प्राप्त करने के बाद हमारा मन कभी बाह्य पदार्थों की ओर निकल पड़े तो यत्न द्वारा इसका आत्मा से फिर एकीकरण करना चाहिए ।

जैसा पिछले दो मंत्रों में कहा जा चुका है, जब साधक अपने मन के विक्षेप अथवा अवचेतना में पायी जाने वाली वासनाओं तथा तन्द्रा से सम्बन्धित बाधाओं का अतिक्रमण कर लेता है तब यह समाधि की अवस्था को अनुभव करता है जो इसे बहुत आनन्द देती है । वास्तव में यह अवस्था अतीत सुख का आस्वादन कराती है । यहाँ साधक को चेतावनी देते हुए श्री गौड़पाद कहते हैं कि वह इस आत्म-प्रवंचना का शिकार न हो जाय कि उसे परम-सुख' का अनुभव हो रहा है । वस्तुतः यह अनुभव कृत्रिमता लिये हुए है यद्यपि वास्तविक प्रतीत होता है ।

सर्वज्ञ तत्व (आत्मा) को हम इस प्रकार अनुभव नहीं करते जिस तरह प्रत्यक्ष संसार को। वेदान्त-साधन से हम जिस मानसिक सन्तुलन की अनुभूति करते हैं वह शान्त एवं शक्ति-सम्पन्न होने पर भी आत्मानुभव की द्योतक नहीं होती । यदि इस सुख पर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि स्वतः यह अनुभव संसार के अनुभवों की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रद है । इसलिए इस उल्लास का अनुभव एवं उपभोग करना श्रेयस्कर नहीं क्योंकि स्थूल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संसार के अनुभव के पराङ्मुख होना सुगम है किन्तु इस सूक्ष्म उल्लास से मुक्त होना एक विषम समस्या है।

हमारे दैनिक अनुभव हमें बताते हैं कि संसार के पदार्थों से प्राप्त होने वाला हर्ष विषमय शोक से मिश्रित रहता है। हमें अपने भीतर जिस मानसिक शान्ति का अनुभव होता है वह कहीं अधिक पूर्णता लिये होती है; अतः यदि हम एक बार समाधिस्थ हो कर इस मनमोहक मस्ती की अनुभूति कर लें तो हम इसके बिना एक क्षण भी न रह सकेंगे और बाद में ऊँचे उठ कर 'आत्मा' की अनुभूति करने के योग्य होंगे। इस कारण हमें इस दिशा में यह कह कर सजग किया गया है कि ध्यान-मग्न होने के समय हमें इस 'सुख' में ही नहीं उलझ रहना चाहिए। उस अतीत सुख को अनुभव करते समय भी हममें इतना मानसिक सन्तुलन रहना चाहिए कि हम उससे अलग रह कर उसे प्रकाशमान करने वाले ज्योति-स्रोत की अनुभूति कर सकें। द्वैत-क्षेत्र के सभी अनुभवों का परित्याग करने पर ही हम एकमात्र एवं अनादि शक्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

जब हमारा मन इस अव्यक्त एवं अशान्त आत्म-सत्ता को प्राप्त कर ल तो इसे इधर-उधर न भटकने दिया जाए और यदि यह कभी स्वाभाविक संशय आदि का शिकार बनने लगे तो हमें इसे तुरन्त उस अव्यवस्थित दशा से निकाल कर 'विशुद्ध-चेतना' से सम-केन्द्रित कर देना चाहिए। इस प्रयास में सफल होने के लिए ईश्वर-कृपा अथवा गुरु-कृपा ही सहायक नहीं होगी बल्कि हमें स्वयं प्रयत्नशील भी होना पड़ेगा।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्मतत्तदा ॥४६॥

'लय' तथा विक्षेप से मुक्त अर्थात् शान्त एवं विचारों से रिक्त होने पर यह (मन) 'ब्रह्म' का स्वरूप हो जाता है।

जब हमें 'भूत' की आकृति दृष्टिगोचर नहीं होती और न ही हम इस सम्बन्ध में किसी तरह भयभीत होते हैं उस पावन क्षण म ही हम खम्भ के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ।

ज्योंही यह मन अज्ञान के पर्दे का भेदन करके सभी विक्षेपों से मुक्त हो जाता है त्योंही इसकी पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है क्योंकि हमें यह रहस्य पहले ही विदित है कि वास्तव में मन विचारों की अविरल धारा ही है । जिस क्षण हमारा मन आत्म-हत्या कर लेता है उसी क्षण इसे 'आत्मा' के दर्शन हो जाते हैं अर्थात् यह स्वयं आत्म-स्वरूप बन जाता है ।

हम जानते हैं कि संस्कृत भाषा में इस अनादि शक्ति को 'आत्मा' कहते हैं । यहाँ हमें इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि श्री गौड़पाद दृष्ट-पदार्थों से चल कर शरीर, मन और शक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधक का यथासंभव पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं । आत्म-साक्षात्कार करने के समय साधक को 'ब्रह्म' की अनुभूति होती है न कि 'आत्मा' की । यहाँ 'ब्रह्म' का उल्लेख जान-बूझ कर किया गया है और इसी में ऋषि का बुद्धि-चातुर्य्य पाया जाता है । इस शब्द (ब्रह्म) को लिखने का यह अभिप्राय है कि 'आत्मा' का दर्शन करने पर साधक सर्व-व्यापक सत्ता 'ब्रह्म' को भी अनुभव कर लेता है ।

यहाँ इस बात को स्मरण रखना लाभप्रद होगा कि श्री शंकराचार्य्य ने भी अपने भाष्य में कहा है कि 'ज्ञान' का अर्थ 'आत्मा' का 'परमात्मा' से एकीकरण होना है ।

संक्षेप में मन की सत्ता समाप्त कर देने पर मनुष्य परमात्मा बन जाता है । दूसरे शब्दों में परमात्मा के मन का अस्तित्व बनाये रहने पर मनुष्य हो जाता है । अशान्ति के रहने पर ही मन की सत्ता बनी रहती है । शान्ति होने पर परमात्मा की अनुभूति होती है । जब अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न रहने पर हम अज्ञानवश संकल्प-विकल्प, विचार आदि के प्रकम्पन से विचलित होते हैं तब हमें अशान्ति का अनुभव होता है किन्तु इस विचलित स्थिति पर विजय प्राप्त करते ही यह अशान्ति लुप्त हो जाती है । इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जब मनुष्य अपने मन का अस्तित्व खो देता है तब उसे आत्मानुभूति होती है ।

प्रस्तुत मंत्र में 'आत्मा' के लिए, जिस क्रम हम इसे अनुभव कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेते हैं, दो शब्दों का प्रयोग किया गया है जो 'तत्' तथा 'तदा' सर्वनाम है । 'तत्' का अर्थ है 'वह' और 'तदा' का 'तब' । 'तत्' उस सर्व-व्यापक चेतना की ओर संकेत करता है जिसका उपनिषदों में वर्णन किया गया है और जिसे केवल शास्त्र के पठन में ही लगा रहने वाला साधक पहले-पहल अपने से पृथक् एवं दूरस्थ सत्ता मानता है । इसे ही तत् अर्थात् 'वह' कह कर समझाया जाता है । इससे यह पता चलता है कि आचार्य्य द्वारा यह बताया गया यह 'सत्य', जिसे अपने से पृथक् 'वह' शब्द द्वारा समझा गया था, अन्त म हमारे भीतर ही अनुभव में आता है क्योंकि नियम-पूर्वक अभ्यास करते रहने पर मन अपन आप इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।४७।।

सर्वोत्तम का मूलाधार आत्मा की अनुभूति है । यह शान्ति, जो शाश्वत एवं अवर्णनीय है, मोक्ष के अनुरूप है । इसे सर्वज्ञ 'ब्रह्म' भी कहा जाता है और अविनाशी आत्मा इस सर्व-शक्तिमान् ब्रह्म का ही रूप है ।

इस मंत्र में अनुभव करने की स्थिति तथा अनभव करने योग्य शक्ति की व्याख्या की गयी है और साथही साधक को 'साधन' द्वारा इस अवस्था को अपने भीतर अनुभव करने का परामर्श दिया गया है । तभी वह परमात्मा की सनातन अनुभूति कर सकेगा । इस अनुभव पर ही परम-सुख निर्भर है । यह शाश्वत एवं अनुपम शान्ति मोक्ष का पर्यायवाची शब्द है । इसे सर्वज्ञ ब्रह्म भी कहा गया है क्योंकि यह ज्ञान द्वारा प्राप्य एकमात्र केन्द्र 'अजात' आत्म-तत्व के अनुरूप है । इस अध्याय में हमने अब तक जो कुछ कहा है उसे ध्यान में रखते हुए अब और किसी व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि सब बातों पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला जा चुका है ।

जिस परम-शान्ति का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिसे मन को निश्चल तथा संकल्प-हीन कर के अनुभव किया जा सकता है वही सर्वोत्तम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुख है । इस अनादि मुक्ति को सीमित शब्दों द्वारा वर्णन करना असंभव है

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥४८॥

मिथ्याभिमान को अनुभव करने वाले जीवात्मा का कभी जन्म नहीं हुआ । कोई ऐसा कारण नहीं जिससे इस (जीव) की उत्पत्ति हुई हो । यह परमोत्तम सत्य है जो सर्वदा अजन्मा है ।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद के 'अजात-सिद्धान्त' का सार मिलता है । 'अजातवाद' के मंत्र से श्री गौड़पाद तथा मुनि वसिष्ठ ने (योग-वासिष्ठ में) इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । इन दोनों महर्षियों ने वेदान्त की 'प्राचीन' शाखा पर प्रकाश डाला है जब कि भगवान् शंकराचार्य्य ने वेदान्त की 'नवीन' विचार धारा की सुव्यवस्था की है । 'शंकर' ने पदार्थमय संसार में 'सापेक्ष वास्तविकता' को माना है । श्री गौड़पाद और महर्षि वसिष्ठ ने वास्तविकता के सर्वोच्च स्तर का कभी परित्याग नहीं किया । हमारे निम्न स्तर तक नीचे आने की बजाय उन्होंने हमें वहाँ पहुँचने का संकेत किया है क्योंकि उनकी अलौकिक दृष्टि में हम सब उनका ही स्वरूप हैं ।

जिस बुद्धिमान् पुरुष ने खम्भे की वास्तविकता को जान लिया है वह उस (खम्भे) में 'भूत' की मिथ्या धारणा करने वाले व्यक्ति को सजग करने में प्रयत्नशील रहता है । श्री गौड़पाद इस दिशा में ही प्रयत्नशील रहे हैं । विशुद्ध चेतन-स्वरूप होते हुए 'चेतना' से परिवेष्ठित यह महानाचार्य्य सबके हृदय पर आधिपत्य रखते हैं और किसी को अपने से पृथक् अथवा भिन्न नहीं मानते । इस अन्तिम मन्त्र में श्री गौड़पाद के समुच्चय सिद्धान्त का 'सारांश' दिया गया है । उनकी आलोचना का 'सार' यह है कि किसी का जन्म नहीं होता । यह सिद्धान्त बुद्धमत के शून्यवादियों के इस विचार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण प्रतिपादित नहीं किया गया है कि व शून्य को यथार्थता मानते हैं बल्कि इस लिए कि 'आत्मा' ही वास्तविक सत्ता को धारण किये हुए है।

'आदि' की धारणा केवल मन की भ्रान्ति है। परम-सत्य एकमात्र सत्ता है जिसे अनादि माना जाता है। संसार की अनेकता को देख कर इसके 'आदि' को जानने का प्रयत्न आकाश म उड़ने वाले पक्षियों के पद-चिह्न खोजने के समान है। जब किसी वस्तु का जन्म नहीं होता तो हम उसके 'मूल-कारण' की किस प्रकार कल्पना कर सकते हैं? श्री गौड़पाद कहते हैं कि इस (कार्य) का कोई कारण नहीं। 'अनेकता' किसी कारण से आविर्भूत होती है; किन्तु 'परम-सत्य' के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं; अतः किसी वस्तु का जन्म नहीं हुआ।

———

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चौथा अध्याय

'अलात शान्ति'

इस समूचे ग्रन्थ में यह अध्याय विशेष महत्त्व रखता है। कुछ आलोचकों न इस अध्याय के महत्त्व को कम करने का प्रयास किया है; हम उनके विचार से सहमत नहीं हो सकते। वे कहते हैं कि यह अध्याय एक स्वतंत्र ग्रन्थ है क्योंकि इसमें सबसे पहले 'स्तुति' दी गयी है। उनके विचार में चौथा अध्याय एक अलग पुस्तक है जिसे इस ग्रन्थ में शामिल कर लिया गया है। इस बात को मानना किसी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'गौड़पाद कारिका' किसी एक विद्वान् की कृति नहीं है बल्कि वेदान्त पर लिखे चार ग्रन्थों को मिला कर उन्हें इस पुस्तक का रूप दे दिया गया है। माता 'श्रुति' की वेदी पर इन चार अध्यायों के मनोहर सुमनों को पिरो कर श्री शंकराचार्य्य ने जो अनुपम माला चढ़ायी है उससे यह धारणा बहुत हद तक निराधार सिद्ध होगयी है।

प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य्य की यह युक्ति हमें मान्य नहीं है कि 'स्तुति' से प्रारम्भ होने के कारण यह अध्याय एक स्वतंत्र धर्मग्रन्थ है क्योंकि संस्कृत साहित्य की कई कृतियों में प्रायः अध्याय 'स्तुति' से आरम्भ होता है।

इस सम्बन्ध में एक युक्ति यह दी जाती है कि इस अध्याय में पहले तीन अध्यायों के बहुत से मंत्रों की पुनरावृत्ति की गयी है। एक उपदेश ग्रन्थ म ऐसा होना कोई दोष नहीं माना जाता। ऋषि का उद्देश्य कई बहुत आवश्यक बातों पर बल देना है। उनका विषय इतना सूक्ष्म है कि छात्र बातों को पूरी तरह समझ नहीं पाते। संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थों में पुनरावृत्ति एक आवश्यक अंग माना जाता है। यह 'कारिका' एक 'उपदेश-ग्रन्थ' है। कई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुत प्राचीन हस्तलेखों की पुष्पिकाओं (Colophons) में इस बात का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है ।

इस अध्याय में श्री गौड़पाद ने जान-बूझ कर पहले तीन अध्यायों की बहुत सी युक्तियों को दोहराया है । इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं :—

(क) तर्कपूर्ण विवाद (Dialecties) के द्वारा कारण की निर्बोध्यता (Unintelligibility) दिखाना ।

(ख) 'अलात' को हिलाने से जो मिथ्या आकृतियाँ बनती हैं उनको संसार के विविध माया-पूर्ण पदार्थों से तुलना करना ।

(ग) इस बात को सिद्ध करने के लिए कि परमात्म-तत्त्व अद्वैत, अनादि तथा सनातन है, बौद्ध-धर्म की युक्तियों का उदारता से प्रयोग करना ।

इस अध्याय में श्री गौड़पाद न बहुत सी बौद्ध परिभाषाओं का उपयोग किया है । यह अंधाधुंध रीति से नहीं किया गया है बल्कि उन विचारों और रहस्यों को प्रकट करने के लिए किया गया है जिन्हें बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों से सुगमता से उद्धृत किया जा सकता है ।

इस अध्याय पर विशेषतः उन व्यक्तियों द्वारा टीका-टिप्पणी की जाती है जो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि श्री गौड़पाद हमें बुद्ध-धर्म्म के आदर्शों को पालन करने का परामर्श देते हैं । उनके विचार में इस अध्याय में उपनिषदों के उद्धरण नहीं दिये गये हैं । प्रोफ़ेसर वी० भट्टाचार्य्य कहते हैं कि हमारे ग्रन्थ-लेखक ने अपनी अन्तिम पुस्तक 'अलात-शान्ति' में किसी उपनिषद् का उल्लेख नहीं किया और न ही कोई ऐसा हवाला दिया है । यह आलोचना असंगत है क्योंकि ऐसी बात कहना एक दार्शनिक असत्य है । यहाँ कई ऐसी पंक्तियाँ हैं जो उपनिषदों से परिचित विद्यार्थी को वेदों के सनातन-सत्य का स्मरण दिलाती हैं । डा० बेल्वाल्कर ने चौथे अध्याय के मंत्र ७८, ८०, ८५ और ९२ में उपनिषदों के उद्धरण की ओर संकेत किया है ।

श्री गौड़पाद के तीव्र आलोचक इस अध्याय के शीर्षक से ही यह परिणाम निकालते हैं कि ऋषि ने बुद्ध-धर्म्म के आदर्शों की स्थापना करन के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रयास में बुद्ध-धर्म्म में वेदान्त की झाँकी देखी है। यह धारणा इस कारण भ्रान्ति-पूर्ण है कि ऋषि ने बौद्ध धर्म्म के ग्रन्थों से 'अलात' उपमा को उद्धृत किया है। वास्तव में आचार्य्य का उद्देश्य इस उपमा को वर्णन करने पर पूरा हो जाता है। किसी प्राकृतिक दृश्य का धर्म-विशेष के ग्रन्थ में समावेश करना और उसे उसी का अंग मानना किसी मत का जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है। यदि किसी पुस्तक में चन्द्रमा से किसी की उपमा दी गयी है तो यह मान बैठना कि उसका और कोई उल्लेख नहीं कर सकता अनधिकार चेष्ठा होगी।

श्री गौड़पाद द्वारा इस उपमा का उद्धरण करना न्याय-संगत है क्योंकि संभव है श्री गौड़पाद तथा बौद्ध ग्रन्थकारों ने यह उपमा किसी अन्य सूत्र से प्राप्त की हो क्योंकि मैत्रेयी उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के चौबीसवें मंत्र में अलात-वृत्त की उपमा दी गयी है। वहाँ ये शब्द लिखे हुए हैं—"वह सूर्य्य के वर्ण वाले ब्राह्मण को देखता है जो वृत्त में घूमने वाली ज्योति के समान देदीप्यमान है।"

आलोचक तो यह भी कहते हैं कि इस अध्याय में जिस 'ऐन्द्रिक हाथी' की उपमा दी गयी है उसमें ऋषि की कोई मौलिकता नहीं है अर्थात् उसे भी उद्धृत किया गया है। यह आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि संभवतः यह 'भास' के नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' के मुख्य पात्र राजा उदयन की जीवनी से ली गयी हो।

जिस तरह प्राचीन धर्म-ग्रन्थों की व्याख्या करते हुए हम आजकल साधारण उपलब्ध भाषा (विज्ञान एवं ईसाई-मत के शब्दों) का उपयोग करते हैं उसी तरह श्री गौड़पाद ने, जिन्हें अपनी पुस्तक को प्रकाशित करने तथा विक्रय की कोई इच्छा नहीं थी बल्कि जो अपने समय के शिक्षित-समुदाय तक इस विशिष्ट ज्ञान को पहुँचाना चाहते थे, बड़ी उदारता से उस युग के प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया। किसी युग के सन्त-महात्मा अपनी पीढ़ी के लोगों को उन्हीं की भाषा में महत्त्वपूर्ण विचार बताया करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निस्संदेह श्री गौड़पाद वेदान्त-दर्शन की सर्व-प्रथम सुसंस्कृत व्याख्या करने वाले हैं। उनसे पहले लिखे गये 'ब्रह्म-सूत्र' हैं जो इस पदवी को नहीं पा सकते क्योंकि वह सुव्यवस्थित दर्शन-शास्त्र होने की अपेक्षा एक आध्यात्मिक (theological) सार ही है। इस प्रसंग में यह कहना न्याय-संगत होगा कि श्री गौड़पाद दर्शन-शास्त्र की व्याख्या में श्री शंकराचार्य्य के परम्परागत अग्रज थे।

नाराणयपद्मभवं वासिष्ठं शक्ति च तत्पुत्र पराशरं च।
व्यासं शुकं गौड़पदं महातं गोविन्द्रयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्री शंकराचार्य्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककामन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि॥

इस सुप्रसिद्ध मंत्र में श्री शंकराचार्य्य तथा उनके शिष्यों से सम्बन्धित आचार्य्यों की तालिका दी गयी है। इससे हमें पता चलता है कि यह सूची भगवान विष्णु से प्रारम्भ होकर त्रोटकाचार्य्य तक आती है। यह विशिष्ट ज्ञान भगवान विष्णु से वसिष्ठ, शक्ति, उसके आत्मज पराशर, व्यास, शुक्र, गौड़पाद, गोविन्दपाद, श्री शंकराचार्य्य, पद्मपद, हस्तामलक तक होता हुआ त्रोटकाचार्य्य तक अवतीर्ण हुआ।

इस तालिका से हमें यह पता चलता है कि श्री शंकराचार्य्य के गुरु गोविन्द पाद श्री गौड़पाद के प्रमुख शिष्य थ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ज्ञानेनाऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञायाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥१॥

मैं उन श्रेष्ठ पुरुषों को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने ज्ञान के द्वारा, जो आकाश के समान है और ज्ञेय से भिन्न नहीं है, विविध व्यक्तियों की प्रकृति का अनुभव किया जो स्वयं आकाश के समान है।

श्री गौड़पाद की 'कारिका' के अन्तिम अध्याय को इस प्रार्थना-मन्त्र से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रारम्भ किया गया है । यहाँ ऋषि अपने गुरु के चरणों में श्रद्धांजलि भेंट कर रहे हैं जो मनुष्यों के शिरोमणि हैं और जिन्होंने आत्मा तथा परमात्मा में शाश्वत एकता का अनुभव किया । 'द्विपदां वरम्' के विषय में बहुत मतभेद पाया जाता है । कुछ व्यक्ति इसे बुद्ध महान् की स्तुति मानते हैं क्योंकि उन्होंने आत्मानुभव किया था किन्तु प्राचीन धारा वाले इसे वह वन्दना मानते हैं जिसके द्वारा श्री गौड़पाद ने अपने इष्ट-देवता, 'बद्रीनाथ' के भगवान् नारायण का स्तवन किया । कतिपय किंवदन्तियों के अनुसार श्री गौड़पाद ने बहुत वर्षों तक बद्रीनाथ की घाटी में रह कर वेदान्त के तत्त्वों पर मनन किया था और वहाँ ही उन्हें भगवान नारायण द्वारा इन रहस्यों का उद्घाटन हुआ था ।

इस कारिका में वे मन्त्र दिये गये हैं जिनमें ऋषि ने अपने अनुभव से प्राप्त किये गये दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । इस तरह श्री शंकराचार्य्य की श्रेणी के प्राचीन वेदान्तिक टीकाकारों ने इसे भगवान् बद्रीनाथ की स्तुति माना है । संस्कृत साहित्य में यह प्रथा बहुधा चली आती है कि एक नये ग्रन्थ का श्री गणेश करते समय भगवान की स्तुति की जाय जिससे इसके पूर्ण होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो और वह ग्रन्थ सफलता पूर्वक समाप्त हो जाय । कई आलोचक इस प्रार्थना-मंत्र के कारण इस अध्याय को एक असम्बद्ध कृति मानते हैं । इस प्रस्तुत अध्याय की भूमिका में हम इस विचार को स्वीकार न करने के पक्ष में पहले ही युक्तियाँ दे चुके हैं ।

इस मन्त्र में यह तथ्य पर्य्याप्त रूप से सिद्ध किया गया है कि आत्म-तत्त्व तथा सर्व-व्यापक परमात्म-तत्त्व में कोई भेद नहीं है । इन दोनों की आकाश से तुलना की गयी है । यह बात गत अध्यायों में सविस्तार समझायी जा चुकी है ।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मैं उस योग को नमस्कार करता हूँ जिसे 'अस्पर्श-योग' कहा जाता है, जिसे शास्त्रों के द्वारा पढ़ाया जाता है, जो सबके सुख को बढ़ाने वाला तथा सबका हितैषी है और साथ ही जो सब विवाद और विरोध से रहित है।

ज्ञान के अधिष्ठातृ-देव की वन्दना करने के बाद आचार्य्य अब उस योग को नमस्कार करते हैं जिसके द्वारा उन्होंने निज आत्मा की परमावस्था को प्राप्त किया।

शास्त्रों ने इस उक्ति की घोषणा की है और धुरंधर विद्वानों ने इसका समर्थन किया है कि एक व्यक्ति आत्मानूभूति करने पर आत्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इसके अनुसार एक सिद्ध पुरुष की वन्दना करने से हम परमात्मा (लक्ष्य) को नमस्कार करते हैं। हिन्दू दर्शन-शास्त्रों में साध्य (साधन) को भी उतना महत्व दिया जाता है जितना लक्ष्य (ध्येय) को। आर्य्य तो उस सनातन संस्कृति के अनुयायी हैं जिसमें साधन तथा साध्य समान पवित्रता रखते हैं। इसलिए ज्ञान-मार्ग की विशेष रूप से पृथक् वन्दना करना श्री गौड़पाद का उपयुक्त एवं मान्य कार्य्य है।

'अस्पर्श योग' की विस्तार से व्याख्या पहले की जा चुकी है।

आत्म-परिपूर्णता के मार्ग पर चलते हुए सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधक को किन विशेषताओं का समावेश करना चाहिए उन्हें बड़े अर्थ-पूर्ण ढंग से बताया जा चुका है।

संसार में जो कार्य्य किया जाता है, वह प्रसन्नता (सुख) अथवा हित के लिए होता है। यह जरूरी नहीं कि सुख के लिए किये गये कार्य्य 'हित' की दृष्टि से भी अनुकूल हों। ऐसे कार्य्य, जो सुख एवं हित के देने वाले हों, विरले ही मिलेंगे। श्री गौड़पाद यहाँ प्रमाणित करते हैं कि 'अस्पर्श-योग' वह मार्ग है जो सबको सुख देने के साथ उनका हित चाहता है। आत्मा को अनुभव करने के कई अन्य मार्ग हैं जिन पर चलने से मनुष्य को तो सुख मिलताहै किन्तु दूसरों का हित नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसका मुख्य कारण यह है कि दूसरे सब मार्गों म बहुत बाह्याडम्बर पाया जाता है। भक्तिमार्ग में आराधना, मंत्रोच्चारण और भगवद्-कीर्तन का प्रयोग किया जाता है जिससे नास्तिक पड़ोसी अशान्त हो सकते हैं। 'हठ-योग' में मनुष्य को आचरण के बहुत से बाह्य-नियमों का पालन करना होता है और यह प्रयास प्रायः 'तपश्चर्या' के समान कठिन हो जाता है। जो तपस्या के मार्ग को समझ नहीं पाते उनके लिए एक तपस्वी का जीवन अति दुःखप्रद होता है। 'कर्म-योग' में 'राग' और 'द्वेष' का किसी न किसी मात्रा में होना अनिवार्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी मार्गों में कुछ न कुछ शोक अथवा दुःख अवश्य पाया जाता है। 'अस्पर्श-योग' में, जिसके द्वारा हृदय की गुह्य गुफा में आत्मा से साक्षात्कार किया जाता है, मनुष्य के भीतर विकास लाया जाता है जिससे यह मार्ग 'साधक' के लिए हितकारी होने के साथ दूसरों के लिए क्लेशकारी नहीं होता।

आत्मानुभव के इस मार्ग पर चलन स पूर्व हृदय को अभ्यास एवं नियम से विकसित करने का क्रम बताया जाता है और साथ ही साधक को नकारात्मकता के दुर्गम वन को साफ करने तथा हृदय में सद्गुणों का संचार करने का परामर्श दिया जाता है। आत्म-विकास की इस सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित विधि में कोई संघर्ष नहीं पाया जाता और न ही इसका कोई विरोध होता है।

दूसरे मार्गों में विवाद की बहुत अधिक संभावना होती है और हर गुरु अपनी अलग विधि बताता है जिससे भक्त समुदाय एक मार्ग पर चलते हुए दूसरे मार्गों से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किसी 'योग' के अनुयायी प्रायः एक ही मार्ग का अनुसरण नहीं करते। इसके विपरीत 'वेदान्त-साधना' में एक ही राज-मार्ग है जो सबसे छोटा होने के साथ साथ अभीष्ट स्थान तक शीघ्र पहुँचाने वाला है। इस मार्ग पर बढ़ना सहृदयता, आत्म-साधन और विवेक-बुद्धि पर निर्भर है। जिस अंश में ये गुण बढ़ेंगे उसी अनुपात से साधक उन्नति करेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥३॥

परस्पर वाद-विवाद करने वाले कई वादी यह कहते हैं कि पहले से बना रहने वाला तत्व विकसित होकर प्रकट होता है। किन्तु कई अन्य विद्वान यह दावा करने हैं कि अभूत-तत्त्व का ही विकास होता है ।

इस और आगे आने वाले मंत्र में हमें सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जाता है और साथ ही इनको मिथ्या सिद्ध किया जाता है। ये दोनों अद्वैतवाद से सम्बन्ध रखते हैं और यहाँ श्री गौड़पाद इनके पारस्परिक मतभेद की निरर्थकता पर बल दे रहे हैं। ऋषि ने अपने शिष्यों के सामने जो मार्ग रखा है वह निर्विवाद तथा निर्विरोध है ।

इन दो विचार-धाराओं के परस्पर-विरोधी भावों को समझन के लिए पाठकों को चाहिए कि वे इनके विचारों को जान लें। सांख्य-दर्शन को मानने वाले 'सत्कार्य' सिद्धान्त अथवा 'परिणाम' सिद्धान्त में आस्था रखते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार कहा जाता है कि निर्माण से पहले कारण में कार्य विद्यमान रहता है, जैसे मिट्टी में पात्र की सत्ता बनी रहती है। इस विचार-धारा के अनुसार किसी वस्तु का नये सिरे से निर्माण नहीं होता क्योंकि यदि कारण में कार्य की सत्ता न बनी रहे तो फिर वह किस प्रकार उस (कारण) में से प्रकट हो सकता है। इसलिए इस सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों की दृष्टि में 'कारण' उस 'कार्य' को व्यक्त करता है जो उस (कारण) में पहले से सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है। अतः कारणत्व का अर्थ कारण का कार्य (परिणाम) में बदलना है। मिट्टी में पात्र की आकृति तिरोहित थी जिससे यह सिद्ध हुआ कि 'कारण' के गुणों ने 'कार्य' के गुणों को छिपा रखा है। 'कारक व्यवहार' द्वारा अव्यक्त पात्र को व्यक्त किया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सांख्यिकी कहते हैं कि यदि इस तथ्य को न माना जाय तो किसी निश्चित् कारण से होने वाले कार्य का परिसीमन नहीं किया जा सकता। उदाहरण रूप से तभी हम झाड़ियों से अंगीर, रेत को कूट कर आमलेट अथवा जल को उबाल कर नवनीत (मक्खन) प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही यह भी कहा जाता है कि एक प्रकार के कारण से उसी प्रकार के कार्य की उत्पत्ति हो सकती है जिससे 'कारण' में 'कार्य' का पहले से ही बना रहना सिद्ध होता है और यह सूक्ष्म रूप से वहाँ विद्यमान रहता है। इस तरह 'कारण' और 'कार्य' दोनों मूलतः एक ही हैं।

इस विचार-धारा के विपरीत 'न्याय-वैशेषिक' विचार-धारा है जिसका अपना अलग सिद्धान्त है। इसके अनुसार 'असत्-कार्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है जिसे 'आरम्भवाद' भी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पदार्थों का नये सिरे से निर्माण होता है। इस सिद्धान्त के अनुयायी कारण में कार्य की सत्ता को नहीं मानते। वे कहते हैं कि यदि कार्य पहले से विद्यमान रहता हो तो उसे व्यक्त करने की क्या आवश्यकता है? सांख्य विचार रखने वालों से उनका यह प्रश्न है कि उनके इस विचार में क्या तथ्य है कि 'कारक-व्यवहार' द्वारा पात्र को मिट्टी में से व्यक्त किया जाता है।

वे सांख्यों के इस तर्क का खण्डन करते हैं कि कार्य का, जो कारण में पहले से बना रहता है, निर्माण होता है। उनके विचार में इसका यह अभिप्राय होगा कि मिट्टी और पात्र एक ही वस्तु हैं और एक दूसरे से भिन्न भी। एक आलोचक ने तो यहाँ तक कहा है कि सांख्य-सिद्धान्त वालों के विभिन्नता में समता पाने वाले इस विचार को मानना एक परस्पर-विरोधी बात को स्वीकार करना होगा।

इस तरह न्याय-वैशेषिक विचार वाले कार्य को कारण से एकदम भिन्न मानते हैं क्योंकि (उनके विचार में) 'कार्य' उसी समय रहता है जब उसे क्रियान्वित किया जाय।

यहाँ हमें भी इस बात को जान लेना चाहिए कि इस विचार-धारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाले कार्य को कारण से सर्वथा भिन्न नहीं मानते क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो इससे पूर्व बतायी गयी असम्भावनाएँ सम्भावना बन कर रह जातीं । इस अवस्था में हम तेल को बिलोने पर मधु को प्राप्त कर लेते । इन सब विरोध भावों का समंजन करने के विचार से वे 'कारण' तथा 'कार्य' में 'समवाय' सम्बन्ध मानते हैं जिससे 'कार्य' सर्वदा एक नया रूप होता है यद्यपि उसका कारण से समवाय सम्बन्ध रहता है ।

इन तर्कों पर अधिक विचार करना आवश्यक नहीं जान पड़ता । हमारे काम के लिए तो इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि इन दो मन्त्रों में श्री गौड़पाद ने इन परस्पर-विरोधी विषयों की ओर संकेत करके यह दिखाना चाहा है कि ये दोनों विचार-धाराएँ एक दूसरे का खण्डन करके वेदान्त की महत्ता एवं सर्वोपयोगिता को सिद्ध करती हैं ।

इस मन्त्र की पहली पंक्ति में इस साँख्य-विचार को प्रकट किया गया है कि कारण से पहले से विद्यमान् वस्तु की उत्पत्ति होती है । दूसरी पंक्ति में न्याय-वैशेषिकों के इस विचार पर प्रकाश डाला गया है कि कार्य की उत्पत्ति असत् कारण से होती है ।

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते ।
विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ये ॥४॥

जो मौजूद है उसका पुनः जन्म नहीं होता और जिसका अस्तित्व ही नहीं वह कभी प्रकट नहीं होता । इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वे अनजाने अद्वैतवाद का समर्थन और अजातवाद सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ।

यहाँ टीकाकार प्रत्यक्षतः युक्तिपूर्ण प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों की हँसी उड़ा रहे हैं क्योंकि तर्क-वितर्क करते रहने पर इन विचार-धाराओं में पारस्परिक विरोध पाया जाता है ।

श्री गौड़पाद कहते हैं कि जो पहले से ही विद्यमान है उसका किस प्रकार जन्म हो सकता है ? मैं यह नहीं कह सकता कि कल मेरे पिता जी का जन्म हुआ था ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिसका अस्तित्व नहीं वह किस तरह विद्यमान रहता है ? यह कहना कि "मैंने इंद्र-धनुष खरीदा" एक ऐसी बात होगी जो सत्य से कोसों दूर है। "वह मुझे आकाश-पुष्प देगा"—इस वाक्य में विश्वास रखना निराशा का सहारा लेना होगा क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं उसे किस तरह प्राप्त किया जा सकता है ? इस तरह साँख्य और वैशेषिक दोनों की दृष्टि से संसार की अनेकता से सम्बन्ध रखने वाली व्याख्या अनुपयुक्त हुई। इसलिए श्री गौड़पाद कहते हैं कि कारण के सिद्धान्त की व्याख्या करने में असफल रहती हुई ये दोनों विचार-धाराएँ वेदान्त के इस दृष्टि-कोण को सिद्ध करती हैं कि किसी वस्तु की सृष्टि नहीं हुई है और सब भ्रान्ति-पूर्ण बातों में कारण-सिद्धान्त का निकृष्ट स्थान है।

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥५॥

इन द्वैतवादियों द्वारा बताये गये अजातवाद का हम अनुमोदन करते हैं। हमारा उनसे कोई झगड़ा नहीं है। अब हमसे सुनिए कि वह कौन सा सनातन-तत्व है जो निर्विरोध एवं निर्विवाद है।

यहाँ श्री गौड़पाद सूक्ष्म भाव से द्वैतवादियों (जो सामान्यतः तर्क-वितर्क में प्रवीण होते हैं) और उनके अन्ध-विश्वास की हँसी उड़ाते हैं। ऋषि कहते हैं कि वे अपने दार्शनिक विचारों द्वारा 'अजातवाद' को सिद्ध करते हैं। हमारा उनसे कोई मतभेद नहीं है और हम उनके शुभ भावों एवं विचारों को स्वीकार करते हैं। हम अब अपने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि कारण-सिद्धान्त एक भ्रान्ति-पूर्ण विचार है जो द्वैतवादियों के दार्शनिक विचारों की दृष्टि में भी मान्य नहीं।

वेदान्त और इसके सिद्धान्त की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हुए श्री गौड़पाद कहते हैं कि अनेकतामय संसार केवल मानसिक भ्रान्ति है। अब आचार्य्य पूर्णतः कटिबद्ध होकर साधक के मार्ग में आने वाले उन सब काँटों को दूर करने पर उद्यत होते हैं ताकि वह अनन्त-शक्ति के शान्तिपूर्ण क्षेत्र में प्रवेश पा सके।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अजातस्येव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥६॥

द्वैतवादी कहते हैं कि अजात एवं अविकारी सनातन-तत्त्व में विकार आ जाता है । जो तत्त्व स्वयं अविकारी तथा अविनाशी है, भला वह किस प्रकार मर्त्य हो सकता है ?

इस मन्त्र की व्याख्या की जा चुकी है । देखिए तीसरे अध्याय में 'कारिका' का बीसवाँ मन्त्र ।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥७॥

अमर्त्य का मर्त्य होना और मर्त्य का अमर्त्य होना असंभव है क्योंकि किसी वस्तु का अपने स्वभाव को बदलना कभी संभव नहीं हो सकता ।

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥८॥

जो व्यक्ति यह मानता है कि स्वभाव से मृत्यु-रहित होने वाला तत्त्व मृत्यु (नाश) को प्राप्त करता है भला वह किस प्रकार इस बात को सिद्ध करेगा कि 'अमर्त्य' जन्म लेने के बाद अपने अपरिवर्त्तनीय स्वभाव को बनाये रखेगा ।

पिछले अध्याय में कारिका के बीसवें और इक्कीसवें मंत्रों में इन मंत्रों का अर्थ समझाया जा चुका है । यहाँ तो इस विचार की पुष्टि करने के उद्देश्य से इनकी पुनरावृत्ति की गयी है ।

इन मंत्रों में जो विचार दिये गये हैं उन्हें पिछले अध्याय में पूरी तरह समझाया नहीं गया क्योंकि इस बात को स्पष्ट नहीं किया गया कि कोई वस्तु अपने स्वभाव को किस प्रकार और क्योंकर नहीं बदलती । इस बात को नीचे समझाया जाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साँसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।
प्रकृति सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥६॥

प्रकृति या सहज स्वभाव वाली वस्तुओं का यह अभिप्राय है कि प्राप्त होने पर वस्तुओं का वह गुण पूर्ण रूप से अंग बन जाता है जिसकी विशेषता उनमें पायी जाती है; इनमें यह सहज गुण पाया जाता है और यह कृत्रिम नहीं। कोई वस्तु अपने स्वभाव का त्याग नहीं करती।

किसी साहित्य में इससे पहले विज्ञानमय विचार-धारा इतनी परकाष्ठा तक नहीं पहुँची जितनी वैदिक युग में। यह बात धर्म-ग्रन्थों में विशेष रूप से पायी जाती है। प्राचीन आर्य विद्वानों ने सहज-स्वभाव की दृष्टि से एक वस्तु का चार स्पष्ट भागों में वर्गीकरण किया है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसकी विशेषता इन चारों में से किसी एक वर्ग में न आती हो।

(१) साँसिद्धिकी—भली भाँति प्राप्त होने वाली। कई विशेषताएँ इस प्रकार की हैं जिन्हें अच्छी प्रकार प्राप्त करने पर मनुष्य छोड़ नहीं सकता, जैसे यौगिक शक्तियाँ, शिक्षा, वर्णमाला इत्यादि। इसे मनुष्य द्वारा भली भाँति प्राप्त किया स्वभाव कहते हैं। सोना शुद्ध होने पर अपने वास्तविक मूल्य को बनाये रखता है।

(२) दूसरे वर्ग में आने वाली विशेषता को 'स्वाभाविकी' कहा जाता है जो किसी वस्तु का सहज स्वभाव है, जैसे अग्नि में प्रकाश तथा गर्मी। इसका यह अभिप्राय है कि अपना सहज-गुण (गर्मी) धारण करने पर ही अग्नि की सत्ता बनी रह सकती है।

(३) अकृता—अकृत्रिमता, जैसे द्रव-पदार्थ का ढलान की ओर बहना। यह क्रिया किसी यंत्र अथवा दबाव के कारण नहीं होती। यह नक़ली बात नहीं बल्कि द्रव-पदार्थ का सहज स्वभाव है।

(४) सहजा—प्राणी में स्वतः रहने और प्रकट होने वाली, जैसे बत्तख का पानी में तैरना, पक्षियों का उड़ना आदि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस मन्त्र म टीकाकार न इन चार विशेषताओं की ओर संकेत किया है; किन्तु शास्त्र की दृष्टि में चार के स्थान में पाँच गुण बताये गये हैं। श्री गौड़पाद ने पाँचवीं विशेषता को बताने के लिए कदाचित् 'च' का प्रयोग किया है। इसे 'स्वरूप-प्रकृति' कहते हैं; जैसे वस्त्र में वस्त्रत्व, पात्र में पात्रपन आदि। वस्त्रत्व को अलग कर देने से वस्त्र का अस्तित्व नहीं रहता। धागे के एक बण्डल अथवा रूई के ढेर को वस्त्र नहीं कहा जाता। वस्त्र वह है जिस मे कपड़ापन पाया जाय।

जब तक इन वस्तुओं का अस्तित्व रहता है तब तक इन (वस्तुओं) से इनकी प्रकृति को कभी अलग नहीं किया जा सकता है। कोई वस्तु अपने सहज-स्वभाव के बिना नहीं रह सकती। 'शीत-अग्नि' और 'अन्धकारपूर्ण-सूर्य्य' का होना असम्भव है।

इस बात को समझाने का यह उद्देश्य है कि कोई पदार्थ अपनी प्रकृति से पृथक् नहीं रह सकता। इस उक्ति द्वारा छठे और सातवें मंत्र का समर्थन किया गया है जहाँ हमें यह बताया जा चुका है कि अमर्त्य का मर्त्य और मर्त्य का अमर्त्य होना असंभव है क्योंकि कोई अपने स्वभाव का त्याग नहीं कर सकता। मर्त्य अपने स्वभाव में स्थिर रहते हुए अमर्त्य नहीं हो सकता। यदि परम-तत्त्व विकार आने पर विविधता का स्वरूप ग्रहण कर ले तो उसमें 'सनातन' रहने की विशेषता नहीं रह सकती। ऐसी बात कहना अर्थ का अनर्थ करना होगा।

अन्य धर्मों के विपरीत वेदान्त ही संसार का एक ऐसा धर्म है जो किसी भी बात को अन्धा-धुन्ध मानने को तैयार नहीं। वेदान्त में अन्ध-विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥१०॥

सभी धर्म (जीव) स्वभाव से जरा एवं मरण से रहित होते हैं। उन्हें केवल यह धारणा होती है कि वे बुढ़ापे और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे इस विचार के कारण ही अपने स्वभाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का त्याग करते प्रतीत होते हैं।

सभी पृथक् रहने वाले जीवात्मा स्वभाव से 'आत्मा' का स्वरूप हैं और कुछ नहीं; फिर भी हम अपने आप को नश्वर मानते रहते हैं।

हम सदा यह अनुभव करते रहते हैं कि हमारा अस्तित्व सत्य-सनातन 'आत्मा' के विपरीत है यद्यपि हम वास्तव में परमात्म-तत्त्व से भिन्न नहीं हैं। इस मर्त्य-भाव को 'जरा-मरण' द्वारा समझाया गया है।

शरीर में जन्म-मृत्यु पर्यन्त पाँच प्रकार के विकार होते हैं---जन्म, वृद्धि, व्याधि, जरा और मृत्यु। यहाँ पर केवल 'जरा-मरण' का प्रयोग किया गया है किन्तु इनके साथ शेष तीन विकारों की भी गणना की जानी चाहिए। अज्ञान, मिथ्याभिमान और झूठे सम्बन्ध रखने के कारण हम विविध पदार्थों के प्रकट होने और बढ़ते रहने के स्वप्न देखते रहते हैं। इनके साथ, व्याधि जरा और मरण से पीड़ित हो कर हम जीवन की यातनाओं को सहन करते रहते हैं।

यह सब हमारे मन की प्रवृत्तियों तथा इन विचारों से लगाव होने के कारण घटित होता है। यदि हम अपनी बुद्धि से तनिक भी काम लें तो हमें पूरी तौर पर पता चल जायेगा कि ये सब विकार हमारे शरीर, मन और बुद्धि से सम्बन्ध रखते हैं न कि शुद्ध-चेतन आत्मा से।

शरीर का जन्म होता है; मन एवं बुद्धि का विकास होता है; दुःख एवं यातनाओं का सम्बन्ध मन से है; 'जरा' (बुढ़ापे) द्वारा हमारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और इसका हमारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है; मृत्यु द्वारा हमारा स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर से अलग हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि इन विकारों में से किसी एक का आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तो इन से अछूता रहता है।

अपने वास्तविक स्वभाव को भुला देने से हम 'आत्मा' को ढकने वाले आवरणों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं कि इन पाँच अवस्थाओं को हम 'आत्मा' में देखने लगते हैं। वास्तव म 'आत्मा' परिपूर्ण, अविकारी तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुख-स्वरूप है । फिर भी इस (आत्मा) के वास्तविक गुण को भूल जाने और इसके विविध गुणों का आरोप करने से हम अज्ञान-वश नश्वरता के क्लेश सहन करते रहते हैं । नाशमान् एवं परिवर्त्तन-शील संसार वाला जीवन हमारा स्वरूप नहीं है ।

इस विविधता-पूर्ण संसार में हमारे जीवन के अनेक संघर्ष एवं क्लेश वस्तुत: वे संघर्ष हैं जिनके द्वारा हम अपने यथार्थ-स्वरूप की फिर से खोज करते हैं । अपने स्वरूप से पृथक् होकर हम निर्वासित व्यक्ति की भाँति अपना जीवन बिता रहे हैं । प्रकृति का यह नियम अटल है कि कोई वस्तु अपने स्वभाव से अलग नहीं रह सकती; इसलिए 'आत्मा' को चाहिए कि वह 'अहँकार' को अपने स्वरूप को जानने के लिए मजबूर करे ।

इस दुविधा में फँस कर हमारा जीवात्मा जीवन के इन विस्फोटकों द्वारा कुचल दिया जाता है । जीवन की सभी यातनाएँ हमारे मिथ्याभिमान के व्यक्तित्व में अकारण कल्पनाओं के द्वारा ही होती रहती हैं ।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥११॥

वाद-विवाद करने वाले जो व्यक्ति कारण को ही कार्य मानते हैं वे कहते हैं कि 'कार्य' की भाँति 'कारण' की भी उत्पत्ति होती है । कारण के लिए 'अजात' रहना किस प्रकार संभव हो सकता है ? साथ ही कारण किस तरह 'सनातन' कहा जा सकता है यदि उसमें बार-बार परिवर्त्तन आता रहे ?

श्री गौड़पाद अब 'साँख्य' विचार-धारा की आलोचना कर रहे हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार 'कार्य' की सत्ता 'कारण' में पहले से बनी रहती है । यदि 'कार्य' का अस्तित्व 'कारण' में मान लिया जाए तो हम यह कहगे कि 'कारण' में परिवर्त्तन होने के परिणाम-स्वरूप 'कार्य' की उत्पत्ति होती है । परिवर्त्तन का अर्थ नश्वरता है । इस कारण श्री गौड़पाद यह प्रश्न करते हैं कि 'साँख्यिकी' अपनी इस धारणा को किस प्रकार सिद्ध करते हैं कि 'कारण'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्ण एवं नित्य है और साथ ही यह भी मानते हैं कि 'कार्य' का जन्म 'कारण' से होता है। ये दोनों बातें परस्पर-विरोध रखती हैं।

वास्तव में श्री गौड़पाद इस मंत्र में यह बता रहे हैं कि निष्पक्ष एवं विकसित बुद्धि द्वारा यह न्याय-सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। हम यह नहीं मान सकते कि कारण कार्य के समान है और न ही हमें यह बात स्वीकार है कि 'कार्य' 'कारण' से समानता रखता है। इन दोनों अवस्थाओं में जिस क्षण हम कारण-कार्य्य को सम्बद्ध मानेंगे उसी समय हमें कारण को ससीम तथा नाशमान् स्वीकार करना पड़ेगा।

हम भले ही यह कहें कि संसार ही नारायण है या नारायण ही संसार है, इस से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि नारायण से संसार की उत्पत्ति हुई है। इस बात को मानना तो भगवान् को सीमित एवं नश्वर समझना है।

कारणाद्यदनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥१२॥

जैसा आप कहते हैं, यदि कार्य और कारण एक ही हैं, तो कार्य को अवश्यमेव सनातन तथा जन्म-रहित होना चाहिए। कार्य किस प्रकार नित्य और सनातन हो सकता है जब इसका कारण, जो इसके अनुरूप है, स्वयं अनित्य है?

हम किसी प्रकार इस युक्ति को मान नहीं सकते कि इस सीमित एवं नाशमान् संसार की उत्पत्ति अनादि तथा अनन्त परम-तत्त्व से हुई है। क्या बबूल के पेड़ से आम प्राप्त हो सकते हैं? क्या कभी किसी जननी ने पत्थर की मूर्त्ति को जन्म दिया है? ऐसे ही भगवान् से संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् 'चेतन' से 'जड़' की प्राप्ति नहीं हो सकती। अविनाशी से विनाशमान का उद्भव नहीं हो सकता। यदि हम इस बात को मान लें तो जड़ संसार के उद्गम (नित्य-कारण परमात्मा) को हमें जरा-मरण युक्त मानना पड़ेगा।

अब द्वैतवादियों के द्वारा केवल एक ही प्रमाण दिया जा सकता है जो तर्क के आधार पर हास्यास्पद होगा। वह यह है कि सर्व-शक्तिमान् परमात्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस नश्वर संसार को उत्पन्न करने पर भी स्वयं अविनाशी रहता है । इस मंत्र में इस युक्ति की हँसी उड़ायी जा रही है और अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य्य संसार का साधारण उदाहरण लेकर इसकी अवास्तविकता को सिद्ध करते हैं । वह कहते हैं कि यह बात तो इस प्रकार हुई कि हम एक मुर्गी के दो भाग कर के एक को भोजन के लिए रख देते हैं और दूसरे को अण्डे प्राप्त करने के लिए । यह एक असंभव बात है ।

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तरतस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥१३॥

हमारे जीवन में कोई एक ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिस से इस विचार की पुष्टि की जा सके कि अजात कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है । यदि यह बात मान ली जाए कि स्वतः-जात कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है तो हमें 'अनावस्था दोष' का समाधान करना होगा ।

द्वैतवादी तर्क देते हुए यह कह सकते हैं कि अजात कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है । यह युक्ति सब प्रकार असंगत एवं अमान्य है । मेरे अजात पुत्र की ज्येष्ठ पुत्री क्या कभी दंत-पीड़ा से पीड़ित हो सकती है ? जब कारण स्वतः अजात है तो उससे कार्य का होना किस प्रकार संभव होगा ? ऊपर दिये गये उदाहरण से पुत्री किस प्रकार होगी ? जब मैं स्वयं आठ वर्ष का बालक हूँ तब मेरी पुत्री किस प्रकार रोगातुर हो सकती है ?

कारण-कार्य सम्बन्ध के क्रम में एक और बात कही जा सकती है । वह यह है कि कारण और कार्य दोनों ही जात हैं; जैसे मेरे पितामह से मेरे पिता तथा मेरे पिता से मेरा जन्म हुआ । इस उदाहरण के द्वारा हम मूल-कारण तक नहीं पहुँच पाते ।

यदि हम यह मान लें कि सर्व-शक्तिमान् एवं सनातन-तत्त्व हो, जो अजात है, वास्तविक स्वरूप हो सकता है तो हम इस तथ्य को एक क्षण के लिए भी स्वीकार नहीं करेंगे कि परमात्मा से विविधता-पूर्ण संसार की उत्पत्ति हो सकती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हेतोरादिः फलं तेषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ।।१४।।

जो व्यक्ति कारण के कारण को कार्य और कार्य के कार्य को कारण मानते हैं वे कारण एवं कार्य को अनादि किस प्रकार मान सकते हैं ?

यहाँ मीमाँसकों पर, जो वर्त्तमान संसार को पूर्व-कृत कर्मों का परिणाम तथा आने वाले संसार को इस समय किये जा रहे कर्मों के अनुरूप मानते हैं, आघात के लिए कुठार उठाया गया है।

यदि हम इस सिद्धान्त को वैयक्तिक दृष्टि से देखें तो हमारा वर्त्तमान जीवन हमारे किये गये कर्मों के अनुसार हुआ और प्रतिक्षण हम जो कुछ कर रहे हैं उससे हमारा आगामी जीवन निर्धारित हो रहा है । इस तरह मीसाँसक, जो यज्ञादि की शक्ति में दृढ़ विश्वास रखते हैं, वर्त्तमान संसार को पूर्व कृत्यों का परिणाम तथा आगामी जीवन को इस समय किये जा रहे कृत्यों का फल मानते हैं । इस दृष्टि से कारण के कारण से कार्य तथा कार्य्य के कार्य्य से कारण की उत्पत्ति होती है । प्रस्तुत मंत्र में मीमाँसकों के इस दृष्टिकोण की निराधारता को बताया गया है। आने वाले मंत्र में इसकी आलोचना की जायेगी ।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ।।१५।।

जो व्यक्ति कारण के कारण से कार्य और कार्य के कार्य से कारण के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं वे वस्तुतः विकास की व्याख्या करते हुए मानों पुत्र के द्वारा पिता के जन्म को सिद्ध करने का (विफल) प्रयत्न करते हैं ।

इस मंत्र में बड़े वेग से उस कुठार द्वारा भारी चोट की गयी है जिसे पिछले मंत्र में मीमाँसकों पर प्रहार करने के लिए उठाया गया था । यहाँ मीमाँसकों की पूरे बल से हँसी उड़ायी जा रही है । ऋषि कहते हैं कि यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण के कारण का परिणाम कार्य मान लिया जाए तो पुत्र से पिता का जन्म होना संभव होगा जो एक अनहोनी बात है। जहाँ इस बात का होना संभव हो वहाँ ही इस सिद्धान्त का सत्य सिद्ध हो सकता है अर्थात् इसे किसी अवस्था में नहीं माना जा सकसा।

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया।
युगपत्संभवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत् ॥१६॥

यदि 'कारण' तथा 'कार्य' को (अब भी) सत्य मान लिया जाए तो हमें इन दोनों के क्रम का निर्धारण करना होगा। यदि यह कहा जाए कि ये दोनों एक साथ घटित होते हैं तो ये (किसी) पशु के दो सींगों की तरह एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकते।

यहाँ उन मीमाँसकों पर प्रहार किया गया है जो पूर्व-कृत कर्मों के फल स्वरूप इस संसार की उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि आने वाले संसार पर हमारे वर्त्तमान कर्मों की गहरी छाप होगी।

साँख्य तथा न्याय-वैशेषिक सिद्धातों का जो तुलनात्मक विवेचन हम पहले कर चुके हैं उससे यह पता चलता है किसी 'कारण' से 'कार्य' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'कारण' 'कार्य' के अनुरूप नहीं हो सकता और न ही 'कार्य' को कारण के अनुरूप माना जा सकता है। ऐसे ही मीमाँसकों का यह सिद्धान्त अयुक्त एवं तर्क-हीन है कि कार्य से कारण की उत्पत्ति होती है। इसलिए यहाँ श्री गौड़पाद द्वैतवादियों से, जो कारण-कार्य सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, आग्रह-पूर्वक यह पूछते हैं कि कारण तथा कार्य्य किस क्रम से घटित होते हैं जिसे मान कर औसत बुद्धि वाले विद्यार्थी की शंका का समाधान हो सकता है।

इन दोनों (कारण तथा कार्य) को जो पृथक् मानते हैं उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होगा कि कार्य से पहले कारण की सत्ता बनी रहती है और उसके बाद यह क्रम चलता रहता है। यदि वे इस बात को मानते हैं कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण और कार्य क्रमागत नहीं, वरन् एक साथ घटित होते हैं, तब उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि एक ही समय बढ़ते रहने वाले गाय के दो सींगों में किसी तरह का कारण-सम्बन्ध स्थापित करना एक असंभव बात है। किसी पशु के सींगों की भाँति ऐसे दो तथ्यों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता। इन सींगों का एक साथ प्रादुर्भाव होता है और ये समान रूप से बढ़ते रहते हैं।

इस 'कारिका' में 'काल' की दृष्टि से कारण के विचार का खण्डन किया गया है।

फलादुत्पद्यमानासन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥१७॥

यदि कार्य से कारण की उत्पत्ति होती है तो कारण को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि कारण स्वतः सिद्ध नहीं होता तो वह कार्य को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ?

उस 'कारण' की कोई निश्चित सत्ता नहीं हो सकती जिसकी उत्पत्ति ऐसे कार्य से होती है जो अव्यक्त होते हुए मृग-तृष्णा के जल की भाँति विद्यमान नहीं होता। इस 'कारिका' में यह कहा गया है कि कारण-सम्बन्ध स्वतः तर्कहीन एवं अयुक्त है।

कारण-सम्बन्ध में विश्वास रखने वाले कहते हैं कि एक दूसरे की उत्पत्ति के लिए कारण और कार्य अन्योन्याश्रित रहते हैं। वैसे कारणत्व का सामान्य सिद्धान्त यह है कि कारण की सत्ता कार्य से पहले रहती है और इस के बाद कारण-कार्य क्रम चलता रहता है।

द्वैतवादियों की कोई भी युक्ति विशुद्ध ज्ञान की कसौटी पर पूरी नहीं उतरती।

यदि हेतोर्फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥१८॥

यदि कार्य से कारण और फिर कारण से कार्य की उत्पत्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होती है तो इन दोनों में से किस का जन्म पहले हुआ और किस पर दूसरे की उत्पत्ति निर्भर रहती है ?

यद्यपि कारण और कार्य में कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो भी विरोधी यह कह सकते हैं कि कारण तथा कार्य में कोई कारण-सम्बन्ध न होने पर भी ये दोनों अन्योन्याश्रित रहते हैं। इस विचार के विषय में श्री गौड़पाद यह प्रश्न करते हैं कि इन दोनों (कारण और कार्य) में कौन पहले रहता है। जब तक इस बात को स्पष्ट नहीं किया जाता तब तक इनकी पारस्परिक निर्भरता को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धः अजाति परिदीपिता ॥१९॥

कारण और कार्य के विषय में उत्तर देने में 'असमर्थता' 'क्रमानुगमन स्थापित करने में असमर्थता'--इन सब के कारण विद्वान् अजातवाद के अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हैं।

इन तर्कों में असंगति पाने के कारण वेदान्त-शास्त्र के प्रखर-बुद्धि विद्यार्थी और आत्मानुभूति वाल विद्वान् 'कारण' तथा 'कार्य' में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मानते। इस लिए श्री शंकराचार्य्य का यह कथन मान्य है कि "इन वाद-विवादों की असंगति को अनुभव करते हुए बुद्धिमान विद्वान् अजातवाद को स्वीकार कर लेते हैं।" माण्डूक्य-कारिका के टीकाकार (श्री गौड़पाद) इसी तथ्य को समझाने का यत्न कर रहे हैं।

बीजाङ्कुराख्योः दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धो साध्यस्य युज्यते ॥२०॥

अभी तो बीज तथा अंकुर (इन दोनों में पहले कौन था) के उदाहरण को सिद्ध करना शेष है। जिस उदाहरण को अभी चरितार्थ नहीं किया जा सका भला उसका किसी अन्य समस्या को हल करने के लिए कैसे उपयोग हो सकता है ?

ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्संग में आये हुए श्रोताओं में से कुछ महाशय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उठ कर श्री गौड़पाद के इस विचार का विरोध करने लगते हैं। वे कहते हैं कि कार्य और कारण में वही सम्बन्ध है जो बीज तथा अंकुर में है।

इस मन्त्र में टीकाकार इस तर्क पर अपने विचार प्रकट करते हैं। ऋषि कहते हैं कि अभी तो बीज और अंकुर के बीच कारण-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका। बीज को अनुकूल अवस्था में बोने से पहले अंकुर की सत्ता बनी रहती है जिससे बीज को 'कार्य', तथा अंकुर को 'कारण' कहा जा सकता है। जब बीज में से अंकुर निकलता है तब बीज कारण बन जाता है और अंकुर कार्य।

इस तरह कभी बीज कारण बनता है और कभी यह किसी और कारण का कार्य कहा जाता है। वही कारण एक समय कार्य बन जाता है और वही कार्य फिर कारण-रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह क्रिया समय तथा स्थान के बदलते रहने से घटित होती रहती है। इस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि 'बीज' 'अंकुर' का अथवा 'अंकुर' 'बीज' का कारण है। किसी समय जो 'कारण' होता है वह दूसरे समय 'कार्य' बन जाता है।

इसलिए 'कारिका' में श्री गौड़पाद ने आग्रह-पूर्ण शब्दों में कहा है कि बीज तथा अंकुर के पारस्परिक सम्बन्ध को न बता सकने के कारण कारण-कार्य का प्रश्न हमें मान्य नहीं हो सकता।

पूर्वापरापरिज्ञानं अजातेः परिदीपकम।
जायमानाद्धि वै धर्मात् कथं पूर्वं न गृह्यते ॥२१॥

'कारण' तथा 'कार्य' की पूर्वता तथा अपरता न दिखा सकने के कारण विकास अथवा सृष्टि का अभाव सिद्ध होता है। यदि कार्य (आत्माभिमानी तत्त्व) की उत्पत्ति वस्तुतः कारण से होती है तो फिर हम कारण की पूर्वता को निश्चित् रूप से सिद्ध क्यों नहीं कर सकते?

हम तर्क-बुद्धि रखते हुए अजातवाद के सिद्धान्त को स्वीकार क्यों नहीं करते? द्वैतवादियों द्वारा कारण और कार्य में पूर्वता तथा अपरता न सिद्ध की जा सकने के कारण हमें स्पष्टतः पता चल जाता है कि किसी 'कारण' के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वारा कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब हम कार्य की किसी कारण से उत्पत्ति मानने के लिए तैयार नहीं तब विवश हो कर द्वैतवादी अजातवाद का समर्थन करने लगते हैं क्योंकि यदि इस पदार्थमय संसार को 'कार्य' मान लिया जाय तो (श्री गौड़पाद कहते हैं) द्वैतवादी उस निश्चित् कारण को क्यों नहीं बताते जिससे इन तथाकथित कार्यों का प्रादुर्भाव हुआ है।

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥२२॥

कोई वस्तु अपने आप किसी और (वस्तु) से या अपने आप तथा दूसरी वस्तु से उत्पन्न नहीं होती है। किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती चाहे वह 'सत्' हो अथवा 'असत्' या 'सत्' तथा 'असत्'।

सांख्य तथा न्याय-वैशेषिक विचार-धाराओं के तर्कों पर दृष्टिपात करते हुए श्री गौड़पाद अब वेदान्त के इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं कि किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। इस सम्बन्ध में ऋषि उन छः संभावनाओं का उल्लेख करते हैं जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति हो सकती थी। अन्त में इनमें कोई तथ्य न पाने के कारण वह कहते हैं कि वास्तव में इस (सृष्टि की कोई उत्पत्ति नहीं हुई।

कोई वस्तु 'स्वतः' उत्पन्न नहीं होती। एक पात्र से दूसरे पात्र की उत्पत्ति नहीं होती। मेरा जन्म मुझ से नहीं हुआ। एक वस्तु की उत्पत्ति किसी भिन्न वस्तु (परतः) से नहीं हो सकती, जैसे 'जल' से एक 'कुर्सी' प्राप्त नहीं की जा सकती और न ही हम किसी पात्र से वस्त्र पा सकते हैं। ऐसे ही कोई वस्तु 'अपने आप और दूसरे' से उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यह परस्पर-विरोधी बात है। एक पात्र और वस्त्र मिल कर एक अन्य पात्र तथा वस्त्र की उत्पत्ति नहीं कर सकते।

इस व्याख्या को समक्ष रखते हुए सम्भवतः कुछ विरोधी कदाचित्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह युक्ति देने लगें कि संसार में पिता से पुत्र का जन्म और मिट्टी से पात्र की उत्पत्ति होते तो हम देखते ही हैं। इसे जन्म तथा उत्पत्ति कहना अनुचित् है और 'श्रुति' भी इस विचार की पुष्टि करती है—"वाचरम्बनम् विकारो नामादयम्, मृत्यकेत्येव सत्यम्" अर्थात् सब प्रभाव (कार्य) केवल नाम और शब्दालंकार हैं। यदि कोई वस्तु 'सत्' ही है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्या मैं अपने आपको जन्म दे सकता हूँ? मैं जब पहले से इस स्थान पर बैठा हूँ तो मेरा जन्म कैसे होगा?

यदि यह कहा जाय कि 'असत्' की उत्पत्ति होती है तो इस उक्ति में विरोध पाया जाता है। क्या मैं आकाश-पुष्प तोड़ कर आप को दे सकता हूँ? मेरे शिर पर सींग नहीं उग सकते और न ही किसी पुरुष के पूंछ हो सकती है। जिसकी सत्ता ही नहीं है उसे किसी समय किसी ज्ञात विधि से उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

इस तर्क-वितर्क में यह कहा जा सकता है कि 'सत्' और 'असत्' वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है। ऐसा होना भी असंभव है क्योंकि एक ही वस्तु में दो परस्पर-विरोधी बातों का समावेश नहीं किया जा सकता। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सत्ता रखते हुए असत् हो। बौद्धों में 'क्षणिक-विज्ञान-वाद' विचार रखने वाले यह युक्ति देते हुए कहते हैं कि बाह्य-पदार्थ हमारे मानसिक विचारों का प्रतिबिम्ब-मात्र हैं और प्रतिक्षण हमारे विचार बदलते रहते हैं। एक विचार हमारे मन में आता और समाप्त हो जाता है जिससे यह समझना चाहिए कि यह 'सत्' और 'असत्' स्थिति में रहता है। यह युक्ति स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह कहना कि एक वस्तु 'यह है' शब्दों द्वारा दिखाये जाने के तुरन्त बाद नहीं रहती एक अमान्य बात है। यदि ऐसी सम्भावना होती तो हम किसी वस्तु, घटना आदि को स्मरण न रख सकते।

'कारिका' में उन छः वैकल्पिक संभावनाओं की निरर्थकता प्रकट की गयी है जिनमें किसी वस्तु की उत्पत्ति समझायी जा सकती है। इस तरह अजात-वाद के सिद्धान्त की अन्ततोगत्वा पुष्टि होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हेतुर्नजायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्नविद्यते यस्य तस्यह्यादिर्नविद्यते ॥२३॥

अनादि फल (कार्य) से कारण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और न ही 'कार्य' स्वतः उत्पन्न होता है। जिसका आदि नहीं वह निश्चय-पूर्वक जन्म-रहित होगा।

यहाँ दो अन्य सम्भावनाओं पर विचार किया जा रहा है जिनकी ओर विरोधी हमारा ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। वे इस प्रकार कही गयी हैं-- अनादि कारण से फल (कार्य) की प्राप्ति होना और 'कार्य' का स्वतः उत्पन्न होना। यहाँ इन दोनों बातों का निषेध किया जा रहा है।

यदि 'कारण' अनादि है तो इसका जन्म-रहित होना अनिवार्य है। जिसका आदि नहीं वह अन्तहीन अवश्यमेव होगा अर्थात् वह (पदार्थ) सनातन होगा। 'सनातन' शब्द का अर्थ विकार-रहित होता है। कार्य की उत्पत्ति का अभिप्राय परिवर्तन (विकार) होना है। इस तरह यह युक्ति देना कि अनादि कारण से फल की प्राप्ति होती है इस उक्ति के समान है कि बर्फ़ से अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस मन्त्र में कारण-कार्य सिद्धान्त पर वाद-विवाद समाप्त किया जाता है।

सभी शास्त्रों में कहा गया है कि मन और बुद्धि को लाँघना एकमात्र उपाय है जिससे हमें निर्दिष्ट अनुभूति हो सकती है। मन को जीतने के अनेक उपाय हैं। काल-अन्तर-कारण त्रिपद के गतिमान होने से ही मन का अस्तित्व रह सकता है। वास्तव में ये तीनों कोई पृथकता नहीं रखते बल्कि साधक द्वारा व्यावहारिक रूप में लाने के लिए इन्हें एक ही तत्व माना गया है। 'अन्तर' का अस्तित्व काल और कारण के बिना असम्भव है। ऐसे ही इनमें कोई एक दूसरे दो के बिना नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार महान वेदान्त-ग्रन्थ में ऋषि विद्यार्थियों के सामने 'कारण' के मिथ्यात्व का स्पष्टीकरण कर रहे हैं जिसे हम अपनी बेसमझी में पूर्ण और सनातन मान बैठे हैं। यहाँ श्री गौड़पाद 'कारण' के सम्बन्ध में हमारी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भ्रान्ति को दूर करने के साथ काल तथा अन्तर की निष्फलता को सिद्ध कर रहे हैं।

यदि एक बार मन की इन सीमाओं में किसी एक को लाँघ लिया जाय तो इस (मन) में पदार्थमय संसार का भ्रान्तिपूर्ण विचार नहीं रह सकता और इसके बाद हमें आत्मानुभव हो जाता है।

प्रज्ञप्तेः सन्निमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रतास्तिता यथा ॥२४॥

आत्म-ज्ञान का प्रत्यक्ष (विषय-पदार्थ) कारण होना चाहिए अन्यथा दोनों का अस्तित्व नहीं रह सकता। इस युक्ति और क्लेश की अनुभूति के कारण द्वैतवादियों द्वारा मान्य बाह्य पदार्थों की सत्ता को हमें स्वीकर करना पड़ेगा।

गत मन्त्र में जिस बात को समझाया गया है उसकी पुष्टि करने के लिए यहाँ एक आपत्ति उठायी जा रही है। 'प्रज्ञप्ति' का अर्थ है वस्तु-ज्ञान, जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। यह विषय-प्रधान ज्ञान बाह्य साधन अथवा पदार्थ के अनुरूप होता है। यह विषय-ज्ञान किसी बाह्य साधन अथवा सम्बन्धित वस्तु के द्वारा होता है। प्रतिकूल विचार रखने वालों के विचार के अनुसार हम वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं क्योंकि उनसे सम्बन्धित वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। यदि हम उन वस्तुओं को नहीं देख (अनुभव कर) सकते तो इससे यह समझ जाना चाहिए कि या तो वे वस्तुएँ नहीं हैं अथवा हममें उन्हें देखने (अनुभव करने) की सामर्थ्य नहीं है।

विषय-पदार्थों की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए न केवल 'वस्तु-ज्ञान की युक्ति दी जाती है बल्कि यह भी कहा जाता है कि यदि पदार्थ-संसार की यथार्थतः उत्पत्ति न होती तो हमें किसी प्रकार का दुःख न होता क्योंकि दुःखमय परिस्थितियों वाले संसार के बने रहने पर ही हम दुःख का अनुभव कर सकते हैं। श्री गौड़पाद के विचारों का विरोध करने वाले, जिन्हें 'बाह्य-अर्थवादी' कहते हैं, बाह्य संसार के पदार्थों की वास्तविकता में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनकी यह धारणा है कि वस्तुओं का ज्ञान होने तथा दुःख

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुभव करने के कारण बाह्य-संसार के पदार्थों की वास्तविकता सिद्ध हो जाती है।

बाह्य-अर्थ वादियों की इस युक्ति का श्री गौड़पाद द्वारा वेदान्त के किसी तथ्य द्वारा समाधान नहीं किया जाता बल्कि इस विचार के विरोधी 'विज्ञान-वादी' बौद्धों की युक्तियों से ही ऐसा किया जाता है। इस विचार-धारा वालों की युक्तियों का अगले मंत्र में उल्लेख करना ही बाह्य-अर्थ वादियों के लिए पर्याप्त उत्तर समझा गया है।

तर्क-दृष्टि से आध्यात्मिक वासना की सत्ता को तो माना जा सकता है; किन्तु परम-सत्ता या वस्तुओं की यथार्थता के विचार से तथाकथित कारण किसी दशा में बना नहीं रह सकता।

उपरोक्त 'विज्ञान-वादी' आन्तरिक आदर्शवादी हैं जिनके विचारानुसार सब पदार्थ हमारे भीतर वासनाओं के रूप में विद्यमान रहते हैं। इस विचार को मंत्र २५, २६ और २७ में समझाया जा रहा है।

यथार्थवादी पहले ही विरोध में कह चुके हैं कि यदि हम स्थूल संसार की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते तो हमारे लिए विविध वस्तुओं को पहचानना और दुःख का अनुभव करना सम्भव न होगा। इसका उत्तर स्वयं विज्ञान-वादी देते हैं। सांख्यिकी और वैशेषिकीय भी यथार्थवादी समझे जाते हैं।

प्रज्ञप्तेः सन्निमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात्।
निमित्तस्यानिमित्तत्वम् इष्यतेभूत दर्शनात् ॥२५॥

जहाँ तक युक्ति-दर्शन का सम्बन्ध है हमें विविधता के तथ्य को मानना ही पड़ेगा; किन्तु बुद्धि-दर्शन के दृष्टि-कोण से विविध पदार्थों वाले इस संसार की सत्ता भ्रान्तिपूर्ण है।

यथार्थवादियों के विचार को काटने के उद्देश्य से यहाँ विषयि-प्रधान विचार-धारा वालों (Subjectivists) की युक्तियों का ही उपयोग किया जा रहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वेदान्तवादी केवल विषय-प्रधान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। कुछ आलोचकों ने इन दो विचारों को एक ही समझने की भूल की है। 'गौड़पाद का अगम शास्त्र' नामक पुस्तक में प्रोफेसर भट्टाचार्य्य ने तीव्र आलोचना करते हुए कहा है कि—"चतुर्थ पुस्तक (अध्याय ?) में गौड़पाद ने वेदान्त के विषय में कोई स्पष्ट विचार प्रकट नहीं किया है क्योंकि इसमें वेदान्त से सम्बन्धित कोई बात नहीं मिलती।"

इससे आपको घबराना नहीं चाहिए क्योंकि आलोचक भी भूल कर सकते हैं। अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन के इतिहास' के पहले भाग के ४२३ पृष्ठ पर श्री दास गुप्त लिखते हैं कि—"**श्री गौड़पाद** ने बौद्धों की 'शून्य-वाद' एवं 'विज्ञान-वाद' की विचार-धाराओं को अपना लिया और फिर यह धारणा कर ली कि उपनिषदों द्वारा जिस सत्य-सनातन की व्याख्या की जाती है उसे इन (विचार-धाराओं) से सिद्ध करना संभव है।" इस लेखक के विचार में **श्री गौड़पाद** एक बौद्ध हैं जिन्होंने आत्मा के मन्दिर में शास्त्रों की भाषा का प्रयोग करके बौद्ध मत का प्रचार किया। इन विचारों पर प्रत्यक्ष टीका-टिप्पणी करने का मेरा विचार नहीं है क्योंकि इस चौथी पुस्तक (अध्याय ४) के समाप्त होने तक आप स्वयं जान लेंगे कि प्रोफेसर दास गुप्त या प्रोफेसर भट्टाचार्य्य ने जो परिणाम निकाला है वह कहाँ तक सत्य है।

चित्तं न संस्पृश्यत्यर्थं नार्था भासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्था भासस्ततः पृथक् ॥२६॥

मन बाह्य-संसार के पदार्थों के संपर्क में नहीं आता और न ही वासनाओं का, जो स्थूल पदार्थों के रूप में प्रकट होती हैं, मन पर कोई प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह बात हम इस कारण कह रहे हैं कि पदार्थों की सत्ता नहीं है और बाह्य-संसार में पदार्थों के रूप में प्रकट होने वाली वासनाएँ किसी रूप में मन मे पृथक् नहीं हैं।

बौद्धों में विज्ञान-वादी यह युक्ति देते हैं। यहाँ श्री गौड़पाद यथार्थ-वादियों की युक्तियों को अयुक्त ठहराने के लिए विज्ञान-वादियों के विचार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को रख रहे हैं। यथार्थवादी, जैसा बताया जा चुका है, संसार को वास्तविक मानते हैं क्योंकि (उनके विचार में) हम वस्तुओं का अनुभव करते हैं और साथ ही हमें दुःख की अनुभूति होती रहती है। विज्ञान-वादी इसके विपरीत यह मानते हैं कि बाह्य-संसार के पदार्थों में कोई वास्तविकता नहीं जिससे इनका मन में आरोप नहीं हो सकता और (साथ ही) हमारे मन की वासनाएँ मन से भिन्न नहीं बल्कि 'मन' का ही स्वरूप हैं।

स्थूल संसार की व्याख्या करने के दो तरीक़े हैं—(क) बाह्य-पदार्थों की हम पर छाप पड़ती है जिससे हमारे मन में वासनाएँ बन जाती हैं जो मिल कर 'मन' की रचना करती हैं और (ख) अपनी वासनाओं की सहायता से मन बाहर निकल कर अनेकता-पूर्ण संसार का आभास कराता है।

(क) इस सिद्धान्त के अनुसार मन की रचना पदार्थों के द्वारा होती है; किन्तु यहाँ एक दार्शनिक स्थूल पदार्थों को वास्तविक मानता है। विज्ञान-वादी इस विचार को काट देते हैं क्योंकि उनके मतानुसार बाह्य-संसार के पदार्थों की सत्ता ही नहीं है जिससे इनके द्वारा मन की रचना होना एक असंभव बात है। हम मृग-तृष्णा वाले जल को, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, नाव द्वारा लाँघ नहीं सकते। यदि स्थूल पदार्थों की सत्ता ही नहीं तो वे मन की किस तरह रचना कर सकते हैं?

(ख) इस विचार का भी विज्ञानवादियों द्वारा खण्डन किया जाता है। वे कहते हैं कि मन और इसकी वासनाएँ अभिन्न हैं और वासनाओं के बिना मन का अस्तित्व ही नहीं रहता। जब हमारी वासनाएँ उच्छृंखल रूप से प्रकट होती हैं तब हमारा मन उच्छृंखल हो जाता है। शान्त एवं कोमल विचार होने पर हमारा मन शान्त एवं कोमल हो जाता है। इस तरह हमारे विचार हमारे मन से अलग नहीं होते। यदि पदार्थमय संसार की सत्ता को हम मान भी लें तो यह कहना पड़ेगा कि इस (संसार) की स्थिति हमारे मन में ही रहती है। इस प्रकार ये (विज्ञानवादी) इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मन' ही दृष्ट-संसार है।

यथार्थवादियों के विचारों का विरोध करते हुये विज्ञानवादी कहते हैं कि—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृश्यत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥२७॥

तीन काल में मन का कोई कारण-सम्बन्ध नहीं रहता; फिर मन में भ्रांति किस प्रकार हो सकती है जब इस (मन) के विक्षिप्त होने का कोई कारण ही नहीं होता ?

श्री शंकराचार्य्य के विचार में एक व्यक्ति यह शंका करता है--"असत् पदार्थों को धारण करने वाला पात्र मन ही दिखायी देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारा ज्ञान 'मिथ्या' है। यदि इस बात को माना जाय तो 'यथार्थ' ज्ञान की सत्ता कहीं न कहीं अवश्य होनी चाहिये क्योंकि 'मिथ्या' ज्ञान के साथ 'यथार्थ' ज्ञान का होना स्वाभाविक है।" तार्किक इस सम्बन्ध में ऊपर वाली युक्ति देते हैं।

'नैयायिक' कहते हैं कि हमारे मन में सर्प का मिथ्याभास तभी होगा जब हमने इससे पूर्व सर्प की अनुभूति की हो अर्थात् साँप को देखा हो। इस धारणा के अनुसार भ्रांति का होना तभी संभव होगा जब इससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों का मिथ्या ज्ञान हम में पहले से ही बना हो। इस तरह वे कहते हैं कि यदि मन बाह्य-संसार की रचना करता है तो इस (संसार) के पदार्थों की वास्तविक सत्ता तो पहले से ही कहीं न कहीं बनी होगी क्योंकि इन्हीं संस्कारों के परिणाम-स्वरूप हम स्थूल पदार्थों वाले संसार की सृष्टि करते हैं। संक्षेप में, हम यह जानते हैं, नैयायिक किसी ऐसे संसार की वास्तविकता में विश्वास रखते हैं जो मन में मिथ्या भावनाएँ जाग्रत करके हमें अवास्तविक बाह्य-संसार की प्रतीति कराता रहता है। इसलिए सत्संग में एक नैयायिक खड़ा होकर यह शंका करने लगता है। प्रस्तुत मन्त्र में श्री **गौड़पाद** इस शंका का समाधान करते हैं। ऋषि कहते हैं कि मन तीन-काल में किसी वस्तु से कारण-सम्बन्ध नहीं रखता जिससे न तो किसी 'वास्तविक' संसार की सत्ता रहती है और न ही, यदि हम संसार का अस्तित्व मान भी लें, मन में वासनाएँ संचित होती रहती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तस्मान्न जायते चित्तं चित्त दृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं रवे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥२८॥

मन अथवा इसके द्वारा देखे जाने वाले पदार्थों की कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई। जो व्यक्ति इन (दोनों) की सत्ता में विश्वास रखते हैं वे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के पद-चिह्न अवश्य देखते होंगे।

श्री गौड़पाद पूर्ववत् तीव्र आलोचना करते हैं। ऋषि ने दृढ़ता से इन विचारों को प्रकट किया है ताकि उनके सम्मुख बैठे विद्यार्थी उक्त मिथ्या धारणा को अपने मन से पूरी तरह निकाल दें। भगवान् गौड़पाद द्वैतवादियों के सिद्धान्तों की निराधारता को सिद्ध करने के लिए इतने उत्सुक नहीं जितने इन विद्यार्थियों की शंकाओं का निवारण करने के लिए ताकि उन (विद्यार्थियों) में अनेकता से सम्बन्धित रत्ती भर सन्देह न रहने पाए और वे परिपूर्णता प्राप्त कर सकें।

यह मंत्र उन महत्त्व-पूर्ण मंत्रों में से एक है जिसमें यह बताया जा रहा है कि दृष्ट-संसार तथा विचार-जगत् दोनों अवास्तविक हैं। इन दोनों धारणाओं को निराधार सिद्ध करने के बाद ऋषि कहते हैं कि यदि (उनके) विद्यार्थी फिर भी इस भ्रान्ति के शिकार बने रहते हैं तो वे एक अनहोनी बात कर रहे हैं, जैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के पद-चिह्न ढूँढने के लिए प्रयत्नशील रहना।

अजातं जायते यस्मात् अजातिः प्रकृतिस्ततः ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

वाद-विवाद करने वालों के विचार में अजात 'तत्त्व' का जन्म होता है जब कि (वास्तव में) इसकी प्रकृति इसके विपरीत (अर्थात् जन्म-रहित) है। किसी वस्तु का अपनी प्रकृति के विरुद्ध होना असंभव है।

इससे पहले जो जो युक्तियाँ दी जा चुकी हैं उनके द्वारा यह सिद्ध हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चुका है कि 'ब्रह्म' एकमात्र और अजात है। इस मंत्र में श्री गौड़पाद के इस सिद्धान्त को संक्षेप में बताया गया है कि कारण-नियम एक निरर्थक सिद्धान्त है जो हमारे ज्ञान-रहित मन के कारण प्रतीत होता है। अजात मन, जो वस्तुतः ब्रह्म है, इन व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होने वाला समझा जाता है। इस लिए ये कहते हैं कि अजात (मन) ने जन्म लिया है।

इससे पहले हम बता चुके हैं कि कोई वस्तु अपनी प्रकृति का त्याग कर के निज सत्ता को बनाये नहीं रख सकती। गर्म बर्फ़ ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी और न ही ठंडी अग्नि उपलब्ध होने की संभावना हो सकती है। ऐसे ही कोई प्रखर-बुद्धि एक क्षण के लिए भी यह मानने के लिए तैयार न होगा कि 'अजात' वस्तु से किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है। यह बात पूर्णरूप से हास्यास्पद है।

अनादेरन्तवत्वं च संसारस्य न सेत्स्यति।
अनन्तता चाऽऽदिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥३०॥

(जैसा विरोधी आग्रह करते हैं) यदि संसार को अनादि मान लिया जाय तो यह अन्त वाला नहीं हो सकता अर्थात् आदि-रहित संसार अन्त-रहित भी होगा। मोक्ष 'आदिवान्' होने के साथ सनातन नहीं रह सकता।

आत्मा को मुक्त एवं बद्ध मानने वाले व्यक्तियों की युक्ति के दोषों को ऋषि यहाँ स्पष्टतः प्रकट कर रहे हैं। यदि यह संसार, जिसे आत्मा की बन्धन-स्थिति कहा जाता है, अनादि मान लिया जाए तो तर्क-दृष्टि से इसके अन्त को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि एक अनादि वस्तु का अनन्त होना अनिवार्य है। यदि आत्म-ज्ञान अथवा मुक्ति को आदिवान् मान लिया जाए तो हमें इसको नश्वर भी मानना पड़ेगा। इस ररह एक बार मुक्त होने वाला व्यक्ति निश्चय रूप से जन्म-मरण की भँवर में फँस जायेगा जिस-से दर्शन-शास्त्र द्वारा इंगित ध्येय ही यथार्थ रह पायेगा। संसार को अनादि मान लेने पर हमें इसे शाश्वत मानना होगा। यदि हम सब को जन्म-मरण के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन्धन में फँसे रहना है अर्थात् हम नाशमान हैं तो हमारे लिए कोई ऐसा आध्यात्मिक मार्ग नहीं हो सकता जिस पर चल कर हम पूर्ण सफलता (अर्थात् स्थायी परिपूर्णता) प्राप्त कर सकें ।

इसी प्रकार 'मोक्ष' आदिवान् नहीं हो सकता क्योंकि जो अनादि नहीं उसे अन्तवान् भी अवश्य होना चाहिए; सभी उत्पन्न होने या बनाए जाने वाले पदार्थ नाशमान् होते हैं।

संक्षेप में विवेक-बुद्धि की सहायता से हमें यह बात माननी पड़ेगी कि पदार्थमय संसार केवलमात्र हमारे भ्रान्ति-पूर्ण मन की उपज है और मन की सीमा को लाँघ लेने पर हर व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार कर लेता है । आत्मानुभूति कोई नवीन खोज नहीं वरन् हमारे वास्तविक स्वभाव के पुनरन्वेषण का परिणाम है ।

स्वप्न में निर्धनता का अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए यथार्थतः दरिद्र होना आवश्यक नहीं है क्योंकि स्वप्न देखते हुए उसे यह अनुभव वास्तविक प्रतीत होता है । स्वप्न देखने का कारण आत्म-विस्मृति तथा मानसिक भावनाओं के संपर्क में आना है । निद्रा का त्याग करते ही भ्रान्त स्वप्न-द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है । तब वह स्वप्न की निर्धनता को स्मरण करके मन ही मन हँसने लगता है ।

ऐसे ही संसार का अनेकत्व, भ्रान्ति-पूर्ण अनुभव, मृत्यु आदि अपने वास्तविक स्वरूप वाली आत्मा के स्वप्न-मात्र हैं क्योंकि मनोमय तथा अन्य स्थूल कोशों से सम्पर्क स्थापित करने पर ही आत्मा को इनकी भ्रान्त होने लगती है । इस भ्रम की निवृत्ति होते ही आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है जिससे यह अपने दुःखों पर उसी प्रकार हँसने लगता है जैसे निद्रा में निर्धनता का अनुभव करने वाला जाग्रत व्यक्ति । निरन्तर अभ्यास करते रहने पर अपने शरीर, मन और बुद्धि से अलग होकर 'आत्मा' वास्तविक जाग्रति अर्थात् मुक्ति की अनुभूति करती है और इसे अपनी बन्धनावस्था के सांसारिक अनुभवों की असारता का ज्ञान हो जाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥३१॥

आदि तथा अन्त से रहित वस्तु का मध्य-स्थिति (वर्तमान) में कोई अस्तित्व नहीं रह सकता । सभी दृष्ट-पदार्थ मिथ्या हैं तो भी इन्हें वास्तविक जाना जाता है ।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्नेविप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खुल ते स्मृताः ॥३२॥

जाग्रतावस्था में देखे जाने वाले पदार्थ कोई न कोई प्रयोजन रखते हैं—यह बात हमारी स्वप्नावस्था में चरितार्थ नहीं होती । इसलिए आदि तथा अन्त वाले इन पदार्थों को विवेक-पूर्ण ज्ञानी निश्चित रूप से मिथ्या मानते हैं ।

'माया' की व्याख्या करने वाले दूसरे अध्याय के छठे और सातवें श्लोकों में उपरोक्त दो श्लोकों की व्याख्या की जा चुकी है । इनकी इस प्रसंग में पुनरावृत्ति की गयी है जिससे हम समझ सकें कि अनेकता-पूर्ण दृष्ट संसार वास्तविक नहीं, अपितु मिथ्या है । हर विचार-हीन व्यक्ति दृष्ट-वस्तु को यथार्थ मानने लगता है । इसके विपरीत एक विचारवान् पुरुष किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर भी उसकी वास्तविकता के विषय में सोचने लगता है । उसके मन में भावुकता अथवा मनोद्वेग के लिए कोई स्थान नहीं रहता । वह तो सक्रिय रूप से 'सत्य' की खोज में प्रयत्नशील रहता है और इस प्रयास में जब उसे कोई पदार्थ दिखायी देता है तो वह तुरन्त रुक नहीं जाता वरन् उस की वास्तविकता को जानने की उत्कण्ठा रखता है ।

कई बार हम ऐसी वस्तुओं का अनुभव करते हैं जो वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं रखतीं । इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जैसे मृग-तृष्णा जल, रज्जु में सर्प, खम्भे में भूत आदि । इन वस्तुओं की अनुभूति होती है; इसी कारण यह मान लेना बुद्धिमानी नहीं कि इनका अस्तित्व बना हुआ है । स्वप्न में राज्य-तिलक लेने के बाद यदि मैं जागने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने आप को राजा मान बैठूं तो मेरा जीवन दूभर हो जायेगा। निद्रा आने से पहले मैं राजा नहीं था और न ही जागने पर मुझे इस स्थिति का अनुभव हुआ। इसलिए वह वस्तु, जिसका आदि और अन्त नहीं है, मध्यावस्था में मिथ्यात्व के अतिरिक्त और कुछ प्रकट नहीं कर सकती—आत्मानुभूति और विवेक-बुद्धि वाले विद्वानों का यह मत है।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात्।
संवृतेऽस्मिनप्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥३३॥

स्वप्न में दिखायी देने वाले सभी पदार्थ अवास्तविक होते हैं क्योंकि वे शरीर के भीतर देखे जाते हैं। उन वस्तुओं का जो इस प्रकार देखी जाती हैं, वहां (शरीर में) रहना किस प्रकार संभव हो सकता है ?

इससे पहले किसी अध्याय में इस मंत्र की व्याख्या की जा चुकी है किन्तु यहाँ इसका अधिक महत्व दिखाने के लिए इसका फिर उल्लेख किया गया है। साधारणतः स्वप्न हमारे भीतर ही देखा जाता है किन्तु स्वप्न में देखी जाने वाली वस्तुएँ हमारे शरीर के किसी भाग में नहीं रह सकतीं। इस प्रकार हमारे भीतर इन वस्तुओं के लिए कोई स्थान न रहने पर भी हम इन (दृष्ट-पदार्थों) को वहाँ नहीं पाते जिससे इनका आभास मिथ्यात्व पर निर्भर रह सकता है।

श्री गौड़पाद आने वाले मन्त्रों में हमें अधिक युक्तियों द्वारा यह बतायेंगे कि हमें स्वप्न में दिखायी देने वाले पदार्थों को वास्तविक क्यों नहीं मानना चाहिए। भारत के कुछ एक दार्शनिक अब भी स्वप्न-जगत् को वास्तविक मानते हैं। इन मंत्रों में इस दिशा में उपयुक्त उत्तर दिया गया है। स्वप्न की यथार्थता में निश्चय रखने वाले व्यक्ति कहते हैं कि जब तक स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न देखता है उसका स्वप्न वास्तविक रहता है। नीचे लिखे मंत्र में इस धारणा की निराधारता को दिखाया जायेगा।

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ।
प्रतिबुद्धश्चवै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥३४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्न की वस्तुओं को अनुभव करना स्वप्न-द्रष्टा के लिए संभव नहीं है क्योंकि उन्हें इस (अनुभव) के लिए बहुत सीमित समय मिलता है। साथ ही निद्रा से जग जाने पर वह (स्वप्न-द्रष्टा) अपने आपको स्वप्न वाले स्थान पर नहीं पाता (अर्थात् वह अपनी शय्या पर ही लेटा होता है)।

स्वप्न को अवास्तविक सिद्ध करने के लिए यहाँ दो और युक्तियाँ दी गयी हैं। वेदान्त के विचार का विरोध करने वाले कहते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा स्थूल शरीर त्याग करके अनुभव करने वाले स्थान पर जा कर वस्तुओं का उपभोग करता है। इस तरह भारत में अपने घर में लेटा हुआ एक व्यक्ति न्यूयार्क (अमेरिका) में रहने वाले अपने किसी मित्र को स्पप्न में देख सकता है। स्वप्न को यथार्थ मानने वालों की दृष्टि में वह मनुष्य भारत से अमेरिका पहुँच कर उस व्यक्ति (मित्र) के संपर्क में आया होगा। सामान्य बुद्धि रखन वाला मनुष्य भी इस बात को भली भाँति जानता है कि इतने थोड़े समय में उसका भारत से अमेरिका (न्यूयार्क) जाना किस प्रकार संभव हो सकता है। उसकी आवाज़ सुन कर जिस क्षण उसकी प्रेयसी (पत्नी) उसे जगाती है तब वह आँखें खोल देता है और उसे अमेरिका में (स्वप्न) में जाने की घटना सुनाने लगता है।

क्या कोई व्यक्ति इस बात को मान सकता है कि इतन समय में (जबकि एक तेज़ से तेज़ वायुयान को भी भारत से अमेरिका पहुँचने में कई घंटे लगते हैं) वह भारत से अमरीका जाकर (अपनी पत्नी द्वारा जगाये जाने पर) अपने कमरे में कैसे लौट कर आ सकता है? इसलिए स्वप्न-द्रष्टा कहीं और नहीं जा सकता। वास्तव में वह मनुष्य अपने अमेरिका में रहने वाले मित्र के विषय में उस विचार की पुनरानुभूति करता है जो कुछ काल से वासना बनकर अव्यक्त रहा है।

यदि इस बात को हम मान भी लें कि स्वप्न-द्रष्टा स्थान स्थान पर घूमता रहता है तो यह सिद्ध करना कैसे संभव होगा कि वह जगने पर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने आप को उस जगह पायेगा जहाँ वह स्वप्न देख रहा था अर्थात् वह उस स्थान पर नहीं होगा जहाँ वह गत रात्रि सोया था ? स्वप्न-द्रष्टा वस्तुतः अपने वास्तविक कमरे में ही लेटा हुआ जगता है न कि उस व्यक्ति के घर में जिसे वह स्वप्न में देख रहा था। इससे हम यह परिणाम निकालते हैं कि स्वप्न देखने वाला और कहीं नहीं जाता।

मित्रादैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित् प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३५॥

स्वप्न में अपने मित्रादि से जो बातचीत होती है उसे स्वप्न-द्रष्टा निद्रा से जागने पर मिथ्या समझता है। साथ ही निद्रा खुलने पर उसके पास वह वस्तु नहीं होती जो उसे स्वप्न में मिली थी।

इस मंत्र द्वारा श्री **गौड़पाद** इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा न तो कहीं और जाता है और न ही दिखायी देने वाले व्यक्ति अथवा पदार्थों के संपर्क में आता है। बात यह है कि उसके मन की सोई हुई वासनाएँ जग कर उसे नाना प्रकार के अनुभव कराती रहती हैं। ऋषि कहते हैं कि स्वप्न में मित्र आदि से भेंट करने वाला मनुष्य जगने पर उन सभी अनुभूतियों को अवास्तविक मानने लगता है। स्वप्न में मैंने जिस बन्धक पर अपने हस्ताक्षर किये थे वह (बन्धक) जाग्रत-संसार द्वारा मान्य नहीं हो सकता। स्वप्न में अपनी प्रेयसी को विवाह का मैं जो वचन देता हूँ उस (वचन) का जागने पर पालन करना मेरे लिए बाध्य नहीं है क्योंकि स्वप्न में व्यावहारिक क्रिया नहीं होती; केवल मेरे मन द्वारा रचित संसार की अनुभूति होती है।

यदि स्वप्न में मुझे कोई उपहार प्राप्त हुआ है तो उससे मुझे जाग्रत-जीवन में कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। सोये होने पर यदि कोई राजा मुझे अपना मंत्री बना लेता है तो निद्रा का त्याग करने पर मुझे यह घटना स्पष्ट रूप से स्मरण तो रहेगी किन्तु यदि मैं व्यावहारिक रूप में मंत्री के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्त्तव्य निबाहना प्रारम्भ कर दूँ तो मेरे लिये बन्दी-गृह अथवा पागलखाना ही उपयुक्त स्थान समझा जायेगा।

यहाँ भगवान् **गौड़पाद** उन व्यक्तियों की धारणा की निष्फलता सिद्ध करना चाहते हैं जो स्वप्न को वास्तविक मानते हैं। इससे पहले हमें यह बताया जा चुका है कि जाग्रतावस्था उतनी ही वास्तविक है जितनी स्वप्न-सृष्टि।

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात्।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥३६॥

स्वप्न देखने में व्यस्त शरीर भी अवास्तविक होना चाहिए क्योंकि स्वप्न-द्रष्टा का एक शरीर तो शय्या को सुशोभित करता है जबकि उसका स्वप्न-शरीर पृथक् रूप से गतिमान होता है। यदि स्वप्न-शरीर वास्तविक नहीं तो स्वप्न के सभी पदार्थ अवास्तविक होने चाहिएँ।

स्वप्न में मुझे नदी में गिरने तथा उसमें डूबने का अनुभव हो सकता है किन्तु जाग जाने पर मेरे शरीर का कोई भाग (उस नदी के जल से) गीला नहीं दिखायी देता। स्वप्न में वध किये जाने पर भी मुझे जाग्रतावस्था में अपने शरीर पर एक भी खरौंच दिखायी नहीं देती। इस तरह स्वप्न-द्रष्टा का शरीर उसके स्वप्न-शरीर से सर्वथा भिन्न दिखायी देता है। निद्रा खुलने पर ही वह अपने स्वप्न-शरीर के मिथ्यात्व को अनुभव करता है। ऐसे ही स्वप्न में दिखायी देने वाली सभी वस्तुएँ अवास्तविक एवं भ्रान्तिपूर्ण होती हैं। दूसरे और तीसरे अध्याय में हमने जो कुछ पढ़ा है उस प्रसंग में श्री **गौड़पाद** ने हमें पूर्ण रूप से समझाने के लिए यह व्याख्या दी है। इसका सार यह है कि जाग्रत-शरीर और इसकी अनुभूति में उतनी ही यथार्थता है जितनी स्वप्न-शरीर तथा उसके अनुभव में; क्योंकि ये दोनों भ्रान्ति-पूर्ण हैं।

ग्रहणाञ्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सञ्जागरितमिष्यते ॥३७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्न में दिखायी देने वाले पदार्थों की अनुभूति जाग्रतावस्था की वस्तुओं के अनुभव से समानता रखती है; इसलिए कहा जाता है कि स्वप्न की अनुभूति का कारण हमारे जाग्रत-अनुभव हैं जिस से ये (जाग्रतावस्था के अनुभव) स्वप्न-द्रष्टा को ही वास्तविक प्रतीत होते हैं।

जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे वस्तुओं के सम्पर्क में आने से ही प्रतीति में आते हैं। इसलिए इस अनुभूति में तीन बातों का होना आवश्यक है—कर्त्ता, कर्म और इन दोनों का योजक। यह नियम उन अनुभवों पर लागू होता है जो हमें जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में प्राप्त होते रहते हैं। इस कारण हमारी स्थूल बुद्धि सहसा इस निष्कर्ष पर जा पहुँचती है कि स्वप्न का मूल-कारण हमारी जाग्रत अनुभूति है। मेरी प्रेयसी के कण्ठ को सुशोभित करने वाले स्वर्ण-हार की प्रत्येक कड़ी में सोना विद्यमान् रहता है; इससे मैं यह समझने लगता हूँ कि उक्त हार का मूल-कारण स्वर्ण ही है। ऐसे ही स्वप्नावस्था में कर्त्ता-कर्म तथा इनके बीच सम्बन्ध बने रहने से मैं यह परिणाम निकाल लेता हूँ कि जाग्रतावस्था के अनुभव से ही स्वप्न की उत्पत्ति होती है।

किन्तु यह तर्क अप्रासंगिक है क्योंकि निद्रा से जागने वाला यह घोषणा करने लगता है मानो उसे अलौकिक विवेक की अनुभूति हुई हो। श्री गौड़पाद कहते हैं कि यदि इस युक्ति को मान भी लिया जाये तो यह केवल स्वप्न-द्रष्टा द्वारा मुखरित हुई कही जा सकती है। स्वप्न-द्रष्टा वह व्यक्ति है जो स्वप्न देखते हुए इस भाव को प्रकट कर रहा है और अपनी इस प्रक्रिया में स्वप्न-जगत का मूल-कारण जाग्रत-संसार को माने हुए है; किन्तु निद्रा-त्याग के बाद यदि वह इसी तर्क को दोहराता है तो हम उसे जाग्रत नहीं बल्कि स्वप्न-जगत में भटकने वाला मानते हैं।

केवल स्वप्न देखने वाला मनुष्य जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था से अधिक वास्तविक मानता है। वैसे जाग्रतावस्था स्वतः मिथ्या है; इसलिए इससे वास्तविकता की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। क्या मृग-तृष्णा का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'मिथ्या' जल मरुस्थल की सिक्ता (रेत) को गीला कर सकता है? हम यह नहीं कह सकते कि एक वन्ध्या-पुत्र इन्द्र-धनुष की सहायता से किसी राज्य को जीत सकता है क्योंकि उसके लिए तो एक भी बाण चलाना सम्भव नहीं है।

ऐसे ही जाग्रतावस्था, जो स्वयं मिथ्या है, एक भ्रान्तिपूर्ण अवस्था की ही उत्पत्ति कर सकती है। इस प्रकार यह युक्ति कि जाग्रतावस्था की प्रतिक्रिया हमारी स्वप्नावस्था है केवल उन दार्शनिकों द्वारा मानी जा सकती है जो सदा स्वप्न-जगत् में विचरते रहते हैं।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम्।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्तिकथंचन ॥३८॥

ये सब अजात माने जाते हैं क्योंकि सृष्टि अथवा विकास की पुष्टि नहीं की जा सकती। वास्तविक पदार्थ से अवास्तविक पदार्थ का जन्म होना कभी सम्भव नहीं।

जिन व्यक्तियों ने श्री गौड़पाद की इस घोषणा पर यह सन्देह प्रकट किया कि जाग्रतावस्था उसी प्रकार अवास्तविक है, जैसे क्षणस्थायी स्वप्न, उनकी इस भ्रान्ति का इस मंत्र में ऋषि द्वारा निराकरण किया जाता है। ये महाशय जाग्रतावस्था के अधिक वास्तविक होने का दावा करते हैं और इसे स्वप्न की अवस्था से कहीं अधिक यथार्थ एवं स्थायी मानते हैं। इनकी धारणा है कि ज्योंही हम स्वप्न-जगत् से बाहर निकलते हैं त्योंही हमें जाग्रत-संसार की अनुभूति होने लगती है।

इस सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य्य का यह मत है कि "यह धारणा केवल विवेक-हीन व्यक्ति कर सकते हैं।" यह युक्ति तो उन विभिन्न स्वप्नों के लिए चरितार्थ हो सकती है जिनका एक जाग्रत प्राणी समय समय पर अनुभव करता रहता है; किन्तु एक स्वप्न देख चुकने के बाद कोई व्यक्ति जागने पर उसी स्वप्न को अनुभव कर सकता है। ऐसे ही हमारी जाग्रतावस्था के स्वप्न, जिन्हें देखते हुए हमारा जीवात्मा निष्क्रिय रहता है, हमें स्वप्निल जाग्रतावस्था की अनुभूति कराते रहते हैं। जाग्रत एवं स्वप्न-अवस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की तुलना विवेक द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा इस प्रकार की भ्रान्ति सहज में हो सकती है ।

गत मन्त्र में जो युक्तियाँ दी गयी हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि एक विवेक-हीन व्यक्ति के मन में कारण-कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध की भावना नहीं रह सकती । विवेक-दृष्टि से इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता; इस कारण विद्वानों ने अजात (अर्थात् अविकास) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

इस तरह यदि हम यह कहें कि अवास्तविक संसार की उत्पत्ति यथार्थ परम-तत्व से हुई तो यह एक परस्पर-विरोधी बात होगी क्योंकि इसे तर्क की कसौटी पर परखना एक असंभव बात होगी । भला हम इस बात को किस प्रकार मान सकते हैं कि यथार्थ-तत्व से यथार्थ की उत्पत्ति होती है क्योंकि तत्त्व तो पहले से ही विद्यमान् रहता है । हम यह नहीं कह सकते कि हमारा जन्म हमारे द्वारा हुआ । साथ ही किसी वस्तु से भिन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती । जैसे कोई स्त्री घोड़े को जन्म नहीं दे सकती ।

असञ्जागरिते दृष्टवा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३९॥

जाग्रतावस्था में दिखायी देने वाली अवास्तविक वस्तुओं से बहुत प्रभावित होने के कारण मनुष्य इन्हीं वस्तुओं को स्वप्न में देखने लगता है । स्वप्न में देखे गये अवास्तविक पदार्थ जाग्रतावस्था में फिर नहीं देखे जाते ।

वेदान्त के विचार से विरोध रखने वाले कहते हैं कि "यदि स्वप्न को जाग्रतावस्था के अनुभव की प्रतिक्रिया मान लिया जाय तो वेदान्तवादी कारण-सिद्धान्त को अवास्तविक क्यों कहते हैं ।" इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति के मूल-कारण का वास्तविक होना आवश्यक नहीं । एक अवास्तविक एवं मिथ्या वस्तु से भी मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है । एक भूत को देख लेने पर (जिसका अनुभव केवल हमारे मन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की भ्रान्ति के कारण होता है) कोई मनुष्य उस पर विचार करता हुआ उसे स्वप्न में पुनः देख सकता है। मरुस्थल का कोई यात्री दूर से रेत को देख कर उसमें मृग-तृष्णा के (अवास्तविक) जल, लहर, झाग आदि की धारणा कर सकता है।

ऐसे ही स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न में जाग्रतावस्था की अनुभूतियों को, जो रत्ती भर वास्तविकता नहीं रखतीं, देखने लगता है।

नास्त्यसद्धेतुकमसत् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥४०॥

अवास्तविक पदार्थ की उत्पत्ति वास्तविक पदार्थ से नहीं हो सकती और न ही अवास्तविक वस्तु से वास्तविक पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है। (ऐसे ही) वास्तविक पदार्थ किसी और वास्तविक पदार्थ को जन्म नहीं दे सकता। तो फिर हम कैसे मान सकते हैं कि अवास्तविक पदार्थ का उद्गम एक वास्तविक वस्तु है।

यथार्थ-तत्त्व की दृष्टि से पदार्थों में कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यहाँ श्री गौड़पाद ने महान् बौद्ध नागार्जुन के चतुर्मुखी तर्क को अपनाया है।

वास्तव में यह मन्त्र ३८वें मंत्र में दिये गये भाव को समझा रहा है। वहाँ विविध पदार्थों वाले संसार के अस्तित्व को संकेतमात्र से बताया गया था। इस मन्त्र में उसको तर्क द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ चार संभावनाओं का उल्लेख करने के बाद अन्त में यह सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है कि तार्किक अनुपयुक्तता होने के कारण ऊपर बताये गये विविध विचारों में कोई भी मान्य नहीं हो सकता।

इस तरह यहाँ कहा गया है कि—(क) जो प्रस्तु स्वतः अवास्तविक है वह किसी अवास्तविक वस्तु की उत्पत्ति नहीं कर सकती है, जैसे किसी खरगोश के सींगों से हवाई क़िले का निर्माण होना; (ख) अवास्तविक वस्तु से वास्त-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विक पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे किसी वन्ध्या के पुत्र के विवाह में सम्मिलित होना; (ग) वास्तविक वस्तु से वास्तविक वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती, जैसे एक मेज़ दूसरी मेज़ को जन्म नहीं दे सकती (घ) तो क्या किसी वास्तविक पदार्थ से अवास्तविक पदार्थ की आशा करना मूर्खता नहीं है ?

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासात् धर्मास्तत्रैव पश्यति ॥४१॥

जिस तरह जाग्रतावस्था में कोई व्यक्ति मिथ्या ज्ञान द्वारा उन वस्तुओं को सच्चा मानने लगता है जिनकी वास्तविकता को सिद्ध नहीं किया जा सकता वैसे स्वप्न देखने वाला व्यक्ति यथार्थ ज्ञान न होने के कारण दृष्ट-पदार्थों की सत्ता को (उस स्थिति में) स्वीकार करने लगता है ।

इस मन्त्र में जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में कारण-कार्य सम्बन्ध के भाव को पूर्ण रूप से मिटाने की चेष्ठा की गयी है। ये दोनों अवस्थाएँ अवास्तविक हैं । जिस प्रकार जाग्रतावस्था में विवेक न होने से एक विमूढ़ एवं विभ्रमित व्यक्ति पदार्थमय संसार को अनुभव करता और इसे वास्तविक समझने लगता है उसी प्रकार तन्द्रा-ग्रस्त 'बुद्धि' तथा बुद्धि के नियन्त्रण में न रहन वाला 'मन' दोनों मिल कर उन कुत्तों की भाँति कूदने लगते हैं जिन्हें सारा दिन बाँधे रखने के बाद साँझ को खुला छोड़ दिया गया हो । स्वप्नावस्था वह स्थिति है जिसे जाग्रतावस्था के दृष्टि-कोण से निरर्थक माना जाता है; फिर भी स्वप्न देखते हुए हम उन्हीं पदार्थों को देखते हैं जो हमें जाग्रतावस्था में दृष्टि-गोचर होते रहते हैं। इसी कारण हम इन दोनों अवस्थाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध मानने लगते हैं ।

श्री गौड़पाद यहाँ इनके पारस्परिक सम्बन्ध को निर्मूल सिद्ध कर रहे हैं। यदि जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में कोई समानता दिखायी देती है तो यह है कि इन दोनों स्थितियों में हमें पर्याप्त मात्रा में विवेक उपलब्ध नहीं होता । मनुष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने दैनिक व्यापार में जिस विवेक का साधारणतः उपयोग करता है उससे कहीं अधिक मात्रा में वह विवेक को उपयोग में लाने की क्षमता रखता है। अपने व्यावसायिक एवं राजनैतिक जीवन-क्षेत्र में भी मनुष्य विवेक-शक्ति का अधिकतम मात्रा में उपयोग नहीं कर पाता।

वर्त्तमान शिक्षा से हमें उस बुद्धि-कौशल एवं पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती जो आर्य्य मनीषियों के विचार में प्राप्त की जी सकती है। इन महर्षियों का विश्वास था कि समाज में विवेक तथा यथार्थ ज्ञान का अधिक मात्रा में संचार किया जा सकता है। मन और बुद्धि को बहुत महान् एवं गौरव-पूर्ण कार्यों के लिए विकसित किया जा सकता है। आध्यात्मिकता एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा हम अलौकिक कार्य्य करने तथा प्रकृति की वस्तु-योजना के उद्देश्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

उपलम्भात्समाचारात् अस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता दुद्धैः अजातेस्त्रसतां सदा ॥४२॥

यदि बुद्धिमान् व्यक्ति कारणवाद का कभी समर्थन करते हैं तो केवल उन व्यक्तियों के लिए जो परिपूर्ण एवं अजात-तत्त्व को मानने में संकोच करते तथा यज्ञादि में श्रद्धा रखने के कारण अनुभूत पदार्थों को वास्तविक मानते हैं।

यदि कारण-वाद में कोई यथार्थता नहीं तो उपनिषदों में 'ब्रह्म' को सृष्टि का मूल-कारण क्यों बताया गया है ? 'कारिका' में यहाँ इसे न्याय-संगत ठहराया गया है।

आत्म-परिपूर्णता को प्राप्त करने की निधि की व्याख्या करते हुए अद्वैतवाद के व्याख्याताओं ने कारणवाद का समर्थन किया है ताकि वे साधक, जिन की विवेक-बुद्धि पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं हो पायी, प्रोत्साहित हो सकें। इससे यह न समझा जाए कि उक्त व्याख्याता स्वयं इसकी यथार्थता में आस्था रखते थे। यदि इन मध्यम-वर्ग के छात्रों को प्रारम्भ में ही 'अजातवाद' की व्याख्या दी जाती तो कदाचित् वे स्तम्भित हो जाते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेदान्त-शास्त्र को समझने का प्रयास करने वाले ये नवागन्तुक मन तथा बुद्धि का पूरा उपयोग करने पर भी परिपूर्ण एवं अजात-तत्त्व के रहस्य को पहले-पहल समझ नहीं सकते। जब उन्हें यह बताया जाता है कि यह दृष्ट-संसार तथा इसके विविध पदार्थ वास्तविक नहीं हैं तो वे स्तम्भित से हो जाते हैं। इस वर्ग के साधकों के व्यक्तित्व को सुदृढ़ करने तथा उनके मन एवं बुद्धि को शनैः शनैः वेदान्त के विद्यार्थी की बुद्धि के स्तर तक ऊँचा उठाने के उद्देश्य से वेदान्ताचार्य्यों ने कारणवाद का सर्वोत्तम उपयोग करने की क्रिया-विधि को यहाँ अपनाया है। विद्यार्थी की अध्यात्म-शिक्षा में यह एक मध्यवर्ती स्थिति है। जब मध्यम श्रेणी का यह विद्यार्थी विकसित होने पर साधक के स्तर पर जा पहुँचता है और इसके मन में स्थिरता तथा बुद्धि में प्रखरता आ जाती है तब इसे 'अजातवाद' का रहस्य समझाया जाता है। यदि हम शिशु-सम्बन्धी शिक्षा को आधार मान कर एक एम. ए. के छात्र की शिक्षा पर टीका-टिप्पणी करने लगें तो इसमें हमारी मूर्खता का ही प्रदर्शन होगा। एक बालक की शिक्षा की प्रारम्भिक स्थिति में ही उसे वास्तविक ज्ञान नहीं दिया जा सकता। पहले-पहल हमें इस बालक की बुद्धि को इतना विकसित करना होगा कि यह उच्च शिक्षा को प्राप्त करने के योग्य हो जाए।

इसी तरह वेदान्त-शास्त्र को अपनाने वाले छात्रों को धीरे-धीरे विज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश कराया जाता है। इस क्रिया का एक अंग कारणवाद है जिसे महान् आचार्य्य मानते प्रतीत होते हैं। वास्तव में साधक यज्ञ तथा उपासना करते रहने के बाद उनके चरणों में उपस्थित होता है; इसलिए प्रारम्भ में ही उसे अजातवाद द्वारा स्तम्भित करना श्रेयस्कर एवं उपयुक्त नहीं दिखायी देता।

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥४३॥

जो व्यक्ति इस 'सत्य' को इस कारण सर्वशक्तिमान् एवं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अव्यक्त मानने से भयभीत रहते हैं कि उन्हें स्थूल संसार के विविध पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे 'अजाति' को स्वीकार नहीं करते; इसलिए 'कारणवाद' में विश्वास रखने से उन पर किसी अनिष्ट फल का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता और यदि होता है तो बहुत कम ।

इस मंत्र में श्री गौड़पाद उन नवागन्तुक (वेदान्त) साधकों का पक्ष ले रहे हैं जिन्हें अपनी साधना के प्रारम्भ में कारणवाद में आस्था रखनी होती है । यह तथ्य सर्वथा मान्य है कि परमात्म-तत्त्व कारण-रहित है और इससे किसी की उत्पत्ति नहीं हुई । विविधता-पूर्ण यह संसार मिथ्या है । हमारे मन और बुद्धि भी आत्मा में आरोप हैं । जब तक द्रष्टा की सत्ता बनी रहती है तब तक दृष्ट-पदार्थ भी रहता है । जिस समय शरीर-मन-बुद्धि के उपकरण का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् जब हम इनको पूर्ण रूप से समर्पण कर देते हैं तब आत्मा अपने आप में रमण करने लगती है और इसको अपने प्राकृतिक गुण (सम-रूप सत्य) का ही अनुभव होने लगता है ।

इस पर भी यदि गुरु, शिष्य, धर्म-ग्रन्थ या ॐ आदि की अनेकता अनुभव होती रहे तो इसमें किसी की भूल नहीं समझनी चाहिए । अतीत तत्त्व तक उड़ान भरन से पहल इन उपकरणों में समन्वय लाना अनिवार्य है । वेदान्त द्वारा अपनाये गये आत्म-परिपूर्णता की अन्तिम उड़ान के लिए तैयार रहने वाले साधक को कारणवाद में अस्थायी विश्वास रखने का परामर्श दिया जाता है ।

श्री गौड़पाद इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि प्रारम्भ में 'सद्गुरु' में आस्था रखनी आवश्यक है और इससे साधक को कोई हानि नहीं होती; यदि हम परिपूर्ण आत्मा के स्तर से देखें तो 'गुरु' भी स्वप्नवत् प्रतीत होता है । जिस तरह स्वप्न में दिखायी देने वाला सिंह स्वप्न-द्रष्टा को भयभीत कर के उसकी निद्रा भंग कर देता है वैसे ही स्वप्न-रूपी वेदान्त-केसरी अपने शिष्य के अनेकतामय स्वप्न को भंग कर के उसे वास्तविक-तत्त्व की सम-रूप अनुभूति करा देता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोत्यते ॥४४॥

जिस प्रकार एक मायारूपी हाथी की कल्पना होती है, क्योंकि यह दिखाई देता और हाथी की चेष्टाएँ करता है, वैसे ही विविध पदार्थ इस कारण विद्यमान प्रतीत होते हैं कि हम उन्हें देखते हैं और वे हमारे व्यवहार में आते हैं ।

वस्तुतः दृष्ट-पदार्थ माया रूपी हाथी की तरह काल्पनिक हैं ।

यह जादू का एक सुविख्यात खेल है जो प्राचीन भारत में दिखाया जाता था । इस खेल का उदाहरण वेदान्ताचार्यों द्वारा अनेक बार दिया गया है । भारतीय जादूगर तंत्र, जड़ी-बूटियों आदि के द्वारा दर्शकों के मन में एक ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं जिससे वे अपने सामने एक बृहदाकार हाथी को खड़ा देखने लगते हैं । वह हाथी न केवल वास्तविक हाथी से मिलता-जुलता है बल्कि उस पर जीवित हाथी की भाँति सवारी आदि भी की जा सकती है । इस तरह दो कारणों से हम उस मायारूपी हाथी को सच्चा चानते हैं— (१) वह दिखायी देता है और (२) हम उसे विविध कामों के लिए उपयोग में ला सकते हैं ।

ऊपर के दो कारणों से यह पदार्थमय संसार द्वैतवादियों को वास्तविक दिखायी देता है । यहाँ श्री गौड़पाद इस विश्वास की निरर्थकता को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं । ऋषि कहते हैं कि ऊपर बतायी गये दो कारणों से माया-हस्ती 'मिथ्या' होने पर भी वास्तविक दिखायी देता है । ऐसे ही जाग्रतावस्था में स्थूल पदार्थों को देखते एवं व्यवहार में लाते रहने से हम यह नहीं कह सकते कि वे वास्तविक हैं । द्वैतवादियों द्वारा बहुधा कथित उपर्युक्त दो कारणों से हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि बाह्य-पदार्थ विद्यमान रहते हैं । पदार्थमय संसार की अनुभूति करते रहने पर भी हमें अद्वितीय परमात्म-तत्त्व की सत्ता को मानना पड़ेगा क्योंकि संसार तो इस (तत्त्व) पर आरोपमात्र है और इस की स्वतः कोई सत्ता नहीं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥४५॥

विशुद्ध चेतन-शक्ति जन्म लेती, अस्थिर रहती या रूप ग्रहण करती हुई प्रतीत होने पर भी अजात, स्थिर और रूप-रहित रहती है । यह प्रशान्त एवं अद्वैत है ।

जब हम परस्पर-तत्त्व को उपाधि-रहित, सर्व-व्यापक, इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य तथा मन एवं बुद्धि से परे मानते हैं तो नाम-रूप-गुण-सम्पन्न विविध पदार्थों को, जो प्रत्यक्ष रूप से क्रियमाण रहते हैं, हमें क्या समझना चाहिए ? वेदान्त के सिद्धान्त को समझने की उत्कण्ठा रखने वाले नवागन्तुक के मन में इस प्रकार का सन्देह पहले-पहल अवश्य उठता है । यहाँ भगवान् **गौड़पाद** दृष्ट-संसार की वास्तविकता को समझाते हैं । वे कहते हैं कि विशुद्ध-चेतना अजात होने पर भी विविध नाम-रूप की उपाधि ग्रहण कर के जीवन-क्षेत्र के कालान्तर में जन्म लेती तथा चेष्टाएँ करती प्रतीत होती है ।

सर्व-व्यापक क्रियावान् नहीं कहा जा सकता । किसी विशेष पदार्थ के गतिमान् होने का अर्थ यह है कि वह एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान तक जाता है अर्थात् उसका कालान्तरण होता है । कोई वस्तु एक ही समय दो विविध स्थानों पर ठहर नहीं सकती । एक व्यक्ति एक कुर्सी से दूर पड़ी दूसरी कुर्सी तक पहुँच सकता है किन्तु इन दोनों कुर्सियों पर एक समय में नहीं बैठ सकता । वास्तविक-तत्त्व सभी स्थानों में सर्वदा व्याप्त एवं विद्यमान रहते हुए कहीं जा नहीं सकता किन्तु फिर भी हम अनेक नाम-रूप धारी व्यक्तियों एवं पदार्थों को इधर-उधर घूमता हुआ देखते हैं । अपने मन और इस के द्वारा विषय-पदार्थ संसार से अनुरूपता प्राप्त करने के कारण हमें विविध पदार्थ आदि गतिमान होते दिखायी देते हैं ।

यह बात इन उदाहरणों के द्वारा अच्छी तरह समझ में आ जायेगी । नाव में बैठे हुए हमें नदी के तटवर्ती वृक्ष चलते हुए दिखाई देते हैं । वास्तव में हमारी नाव चलती है न कि वे वृक्ष । चलती रेलगाड़ी में बैठे बच्चे तार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खम्भों को पीछे भागते हुए देखते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि एक घूमती हुई वस्तु से देखने पर अन्य स्थिर वस्तुएँ भी घूमती हुई प्रतीत होती हैं।

ऐसे ही स्वयं प्रवहमान रहने वाले मन एवं बुद्धि के आधार पर संसार को देखते हुए हमें अचल एवं सनातन परमात्म-तत्त्व गतिमान् तथा क्रियमाण होता मालूम देता है। यह केवल-मात्र भ्रान्ति है। स्थूल आवरणों के कारण हमें अनेकता की भ्रान्ति होती रहती है; इसलिए श्री गौड़पाद कहते हैं कि हमें पदार्थों का जात्याभास, चलाभास आदि होता रहता है। वास्तव में इनका जन्म लेना गतिमान् तथा परिवर्त्तनशील होना संभव नहीं। सनातन-तत्त्व अचल एवं गुण-रहित है और यह सर्वदा शान्त तथा अद्वैत रहता है। पिछले मंत्रों में इन शब्दों पर विस्तार से विचार किया जा चुका है।

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥४६॥

इस तरह मन जन्म एवं विकार से रहित रहता है। सभी प्राणी वास्तव में अजात हैं। जिन व्यक्तियों ने इस रहस्य को जान लिया है वे फिर कभी वास्तविक-तत्त्व के विषय में किसी भ्रान्ति का शिकार नहीं होते।

आत्म-साक्षात्कार का अर्थ जन्म-मृत्यु के चक्र से पूर्णतः मुक्त होना है। आत्मानुभव करने वाले अमर प्राणी में नश्वरता तथा ससीमता की धारणा लेशमात्र नहीं रहती। मन तथा बुद्धि द्वारा अनुभूत संसार नश्वर है और इसे केवल मन ग्रहण कर सकता है। जिस प्राणी ने शरीर-मन-बुद्धि की सीमा को लाँघ लिया है उसे विशुद्ध, सर्व-व्यापक तथा चेतन परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की अनुभूति नहीं होती और वह अपने आप को अमर मानने लगता है।

जीवात्मा ही जन्म-मरण के पाश में बँधा रह सकता है। अतृप्त वासनाओं से भरा हुआ मन इनके उपभोग के लिए हमें अनेक जन्म के चक्र में फँसा कर विविध अनुभवों की प्राप्ति कराता रहता है। यदि एक बार मन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को लाँघ लिया जाए तो जीवात्मा की सत्ता समाप्त हो जायेगी जिससे अनुभव प्राप्त करने की कोई इच्छा नहीं रहेगी; सभी अनुभव अनुभव-कर्त्ता में विलीन हो कर अद्वैत सत्य की अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेते हैं और 'अनुभूत' का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

ऐसा नर-श्रेष्ठ फिर अपने आप को शरीर अथवा मन या बुद्धि मानने की भूल नहीं करेगा और न ही मृत्यु-भय, कामना, बौद्धिक प्रकम्पन, बल्कि आध्यात्मिक अशान्ति, उसे कभी चलायमान कर सकेंगे।

यहाँ जीवात्मा को व्यक्त करने के लिए बहुवचन का उपयोग किया गया है ताकि 'अहंकार' के संसार तथा अद्वैत-वास्तविकता (धर्म्म) के भेद को स्पष्टतया जाना जा सके।

ऋतु वक्रादिका भासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥४७॥

जिस प्रकार प्रज्वलित लकड़ी का टुकड़ा घुमाये जाने पर सीधा, वक्र आदि दिखायी देता है वैसे ही स्पन्दित चेतना 'द्रष्टा' तथा 'दृष्ट' आदि के विविध भागों में विभक्त होती प्रतीत होती है।

जिस वास्तविक-तत्त्व की ऊपर व्याख्या की गयी है उसको वर्णन करने के उद्देश्य से यहाँ 'अलात्' (जल रही लकड़ी) का सुप्रसिद्ध उदाहरण दिया गया है। इस उदाहरण के कारण कई समालोचक यह कहने लगे हैं कि श्री गौड़पाद ने इसको बौद्ध ग्रन्थों से उद्धृत किया है। इस अध्याय के प्राक्कथन में हम पहले यह कह चुके हैं कि यह धारणा असंगत एवं अनुचित है। 'मैत्रेयिणी उपनिषद्' के चतुर्थ अध्याय के २४ वें मंत्र में ऋषि ने 'ब्रह्म' की व्याख्या करते हुए इस दृष्टान्त का उपयोग किया है। ऐसा कहना मान्य होगा कि श्री गौड़पाद तथा बौद्ध दार्शनिकों ने इस भाव को उक्त उपनिषद् से उद्धृत किया।

यदि यह भी मान लिया जाय कि श्री गौड़पाद ने जान-बूझ कर इस दृष्टान्त का बौद्ध ग्रन्थों से उल्लेख किया तो इसे दोष-पूर्ण नहीं ठहराया जा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकता क्योंकि इसका हवाला देकर ऋषि अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट कर पाये। सभी महानाचार्य्य इस विधि को अपनाते रहे हैं क्योंकि पहले दिये गये दृष्टान्तों का उल्लेख करने से वे अपने युग के विद्यार्थियों के मन पर अपने मौलिक विचारों की गहरी छाप छोड़ सकते थे। उन्हें निज ख्याति की लालसा नहीं होती थी। युगकालीन छात्र एवं साधकों के मन में पहले से विद्यमान रहने वाले विचार तथा दृष्टान्तों का वे समुचित उपयोग किया करते थे। अतः यदि भगवान गौड़पाद ने 'अलात' के उदाहरण का यहाँ उद्धरण कर भी दिया तो उनसे कोई ऐसा भयंकर दोष नहीं हुआ जिसके लिए उनका तिरस्कार किया जाय।

यहाँ लकड़ी के एक ऐसे टुकड़े का दृष्टान्त दिया गया है जिसके एक जलते हुए सिरे को इधर-उधर घुमाने से भिन्न प्रकार के आकार बनते दिखायी देते हैं—सीधे, चौकोर, अण्डाकार आदि। ये भिन्न भिन्न लम्बे-चौड़े आकार परस्पर मिलकर एक विचित्र तथा मनोरंजक दृश्य का चित्रण करते हैं। अबोध बालक ही यह पूछेंगे कि इन विविध आकारों की उत्पत्ति कब, कहाँ से और कैसे हुई जब कि समझदार मनुष्य कोई सन्देह नहीं करेंगे क्योंकि 'अलात' के गतिमान् रहने के कारण ये दृष्टिगोचर हुए यद्यपि इनकी वास्तव में कोई उत्पत्ति नहीं हुई। यदि वह जलने वाली लकड़ी न होती तो इन आकारों का कभी पता ही न चलता। उस (लकड़ी) के कारण ही इनके 'अस्तित्व' का ज्ञान हो सका।

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥४८॥

बिना घुमाये जाने पर यह लकड़ी का टुकड़ा किसी प्रकार के आकार नहीं बनाता और न ही इसमें कोई परिवर्तन होता है। ऐसे ही जिस समय चेतना में कोई प्रकम्पन नहीं होता और इसमें कोई विचार-तरंग नहीं उठती तब यह अरूप तथा अविकारी रहती है।

इस मंत्र में यह बताया गया है कि विशुद्ध-चेतना अविकारी होने पर भी गतिमान् होती तथा बदलती प्रतीत होती है। संसार की बाह्य क्रियाओं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में गतिमान् होने पर यह (चेतना) बहुत चंचल और क्षणिक दिखायी देती है। संसार के विविध पदार्थों में इसके चलते-फिरते रहने से ऐसा मालूम देता है कि 'सत्य-सनातन' साधारणतः परिवर्तन की स्थिति में रहता है। इस अविकारी तत्व में प्रतीत होने वाले परिवर्तन को समझाने के उद्देश्य से 'अलात' वाला उदाहरण यहाँ दिया गया है। जलती लकड़ी के टुकड़े में गति न होने के कारण उसमें किसी प्रकार का आकार दिखायी नहीं देता अर्थात् उस समय एक अबोध व्यक्ति द्वारा देखे गये विविध आकार इस (लकड़ी) के जलने वाले सिरे में लीन हो जाते हैं। इस दृष्टान्त द्वारा श्री गौड़पाद हमें यह समझाना चाहते हैं कि हमारे विक्षिप्त मन में चेतना प्रकम्पित होती प्रतीत होती है और ऐसा लगता है कि इससे स्थूल संसार के अनेक नाम-रूप वाले पदार्थ प्रकट होते हैं। जब हमारा मन स्थिर हो जाता है, अर्थात् हम इसको लाँघ लेते हैं, तब आत्मा की केवल-मात्र सत्ता रह जाती है और दृष्ट संसार के सभी पदार्थ लुप्त हो जाते हैं। 'अलात' के स्थिर रहने पर उसके द्वारा बनाये गये सभी आकार मानो उसी जलते सिरे में समा जाते हैं। इस भाव को नीचे दिये गये मंत्र में अधिक सुन्दरता से स्पष्ट किया गया है।

अलाते स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥४६॥

जब जलती लकड़ी का टुकड़ा हिलता है तो उसके द्वारा बनाये गये आकार कहीं बाहर से आकर उसमें प्रवेश नहीं करते। इसके स्थिर रहने पर वे आकार इसे छोड़ कर अन्यत्र नहीं चले जाते। हम यह भी नहीं कह सकते कि 'अलात' द्वारा रचित विविध आकार इसके जलने वाले सिरे में तब प्रविष्ट हुए जब यह हिलाया नहीं जा रहा था।

यहाँ इस भाव को दिखाया जारहा है कि जलने वाली लकड़ी के घुमाये जाने पर इसमें दिखायी देने वाले अनेक आकार मिथ्या हैं। इसके घूमते रहने से उनकी हमें भ्रान्ति होती है। वे न तो कहीं बाहर से आए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और न ही कहीं बाहर चले गये । हम यह भी नहीं कह सकते कि वे (आकार) इस लकड़ी के जलते हुए सिरे में प्रविष्ट होगये क्योंकि जब वे वहाँ से आये ही नहीं तो उनका वहाँ से लौट जाना किस प्रकार सम्भव होगा ?

आत्मा पर लागू होने वाला दृष्टान्त ५१ वें श्लोक में समझाया जायेगा ।

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥५०॥

जलने वाली लकड़ी से विविध आकार प्रकट नहीं होते क्योंकि वे ठोस पदार्थ नहीं हैं । यही बात चेतना में घटित होती है क्योंकि इन दोनों स्थितियों में समान रूप प्रत्यक्ष होते हैं ।

श्री शंकराचार्य्य ने अपने भाष्य में इन शब्दों द्वारा इस बात को स्पष्टतः समझाया है—

"साथ ही वे आकार 'अलात' में से इस तरह प्रकट नहीं होते जैसे किसी घर में से कोई बाहर निकलता दिखायी देता है ।" जब किसी वस्तु में से कोई और वस्तु निकलती है तब निकलने वाली वस्तु को उस पदार्थ से सर्वथा भिन्न होना चाहिए जिसमें से वह स्वयं प्रकट हुई है । एक जननी अपने आपको जन्म नहीं दे सकती; वह एक शिशु को उत्पन्न कर सकती है जो उसके अपने आकार से पृथक् होता है । उस जलती हुई लकड़ी के सिरे में से वे आकार प्रकट नहीं हो सकते क्योंकि उन (आकारों) का अस्तित्व ही नहीं है ।

ऐसे ही हम इतना भी नहीं कह सकते कि वे उस लकड़ी के भीतर घुस गये । किसी वस्तु में किसी यथार्थ वस्तु का ही प्रवेश हो सकता है, न कि एक काल्पनिक पदार्थ का । हम किसी बोतल में मृग-तृष्णा जल नहीं भर सकते और न ही किसी बोतल में से यह (जल) बाहर उँडेल सकते हैं । ठीक ऐसे ही ये विविध आकार, जिनमें यथार्थता का लेशमात्र नहीं, न तो उस लकड़ी में से निकलते हैं और न ही इनका उसमें प्रवेश होना सम्भव है ।

जब ये वहाँ से निकले ही नहीं तो फिर इनका उसमें प्रवेश कैसे हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकता है ? आकाश में दिखायी देने वाला इन्द्र-धनुष मिथ्या है जिससे यह न तो आकाश में से निकलता है और न ही उसमें प्रविष्ट होता है।

ऐसे ही विक्षिप्त मन के सम्पर्क में आने पर विशुद्ध-चेतना गतिमान् होती प्रतीत होती है और इस (मन) के प्रकम्पन में विविध नाम-रूप पदार्थों का आभास देने लगती है। ये अनेक आकार संसार की रचना नहीं करते और न ही यह संसार विशुद्ध चेतना में ही लीन होता है। आने वाले मंत्रों में इस दृष्टान्त की अनुकूलता को विस्तार से समझाया जायेगा।

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ये ॥५१॥
न निर्गतास्ते विज्ञानात् द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद्यातोऽचिन्त्यः सदैव ते ॥५२॥

जब चेतना को स्पन्दन के विचार से देखते हैं तब इसमें दिखायी देने वाले रूप कहीं अन्य स्थान से नहीं आते। जब यह क्रिया-रहित दिखायी देती है तब इस निश्चेश्ठ चेतना से वे रूप कहीं दूसरे स्थान पर नहीं चले जाते ॥५१॥

इन रूपों का चेतना में कभी प्रवेश नहीं होता और न ही ये इसमें से बाहर निकलते हैं क्योंकि इनमें कोई यथार्थता नहीं है।

ये (रूप) हमारी कल्पना-शक्ति से परे रहते हैं क्योंकि इनमें कारण-कार्य भाव की कोई प्रतिक्रिया नहीं रहती ॥५२॥

इन दो मंत्रों में 'अलात' के दृष्टान्तों को अंश में स्पष्ट करके हमें बताया गया है कि अध्यात्म-क्षेत्र में 'विशुद्ध-चेतना' इस (आलात) के समान क्रियमाण होती प्रतीत होती है। इन दोनों में जो समानता पायी जाती है वह इन मंत्रों के ऊपर दिये गये अर्थ से ही स्पष्ट हो जायेगी। यदि हमें किसी कठिनाई का सामना करना होगा तो वह यह है कि इन मिथ्या नाम-रूप पदार्थों के प्रकट होने के कारण तथा इनके दिखायी देने की विधि हमारी समझ में नहीं आ सकती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तव में हम यह नहीं कह सकते कि संसार, जो अवास्तविक है, सत्य-सनातन से प्रकट हुआ। वैसे अवास्तविक होते हुए भी यह (संसार) वास्तविक-तत्व से इतनी समानता रखता है कि यह हमें अपने बन्धन में जकड़े रखता तथा सुख-दुःख की समान रूप से अनुभूति देता रहता है। भला यह कैसे होता है ? प्रत्येक दार्शनिक यह तथ्य समझाने में असमर्थ रहता है कि यथार्थ तत्व से अवास्तविक संसार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई क्योंकि वास्तविक पदार्थ से अवास्तविक पदार्थ प्रकट नहीं हो सकता। फिर भी हमारे मुग्धावस्था में रहते रहने के कारण अवास्तविक संसार हमें प्रभावित करता प्रतीत होता है और साथ ही हमें अनुभव प्राप्त करने में सहायक होता है। इस भ्रान्ति से मुक्त होने का एकमात्र निदान इस आत्म-मोहन मंत्र का परित्याग करना है। जब हम इस मुग्धावस्था से पूर्णरूपेण स्वतंत्र हो-जाते हैं तब अध्यात्म विद्या द्वारा दिखाये गये उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

इस मंत्र में यहाँ स्पष्ट घोषणा की गयी है कि अविनाशी तत्व से नश्वरता के प्रकट होने की क्रिया-विधि को समझाना एक असम्भव बात है। श्री गौड़पाद सरीखे प्रकाण्ड विद्वान ने भी इस असमर्थता को स्वीकार कर लिया है। इसका यह कारण नहीं कि "इस महानाचार्य्य में कोई बौद्धिक निष्क्रियता (न्यूनता) का अंश पाया जाता था बल्कि कारण यह है कि इसे सिद्ध करने में तर्क एक असहाय पंगु बन कर रह जाता है।" ऋषि कहते हैं कि कारणवाद मिथ्या होने के कारण इस विषय-विशेष में किसी तरह सहायक नहीं हो सकता। सनातन एवं अविनाशी तत्व के नाशमान दिखायी देने का कारण जाने बिना इसको वैज्ञानिक ढंग से समझाना असंभव है।

विज्ञान का कार्य्य-क्षेत्र कारण-कार्य तक ही सीमित रहता है। जब मन तथा बुद्धि तर्क की चरम-सीमा तक जा पहुँचते हैं। तब कारण-कार्य से सम्बन्धित क्षेत्र इन से बहुत नीचे रह जाते हैं। एक बार मिथ्यात्व को लाँघ लेने पर मन उस वास्तविक जगत् में जा पहुँचता है जहाँ कारण-कार्य दृष्टि-गोचर नहीं होते क्योंकि विशुद्ध चेतना से कभी किसी की उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अद्वितीय सत्य का साम्राज्य है वहाँ किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यहाँ हमें इस बात को ध्यान-पूर्वक जान लेना चाहिए कि इन दोनों मंत्रों में श्री गौड़पाद ने हमें यह संकेत दिया है कि हमारी जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में सक्रिय चेतना हमें उपलब्ध होती रहती है। जब ऋषि निष्क्रिय चेतना का उल्लेख करते हैं तो उनका यह अभिप्राय है कि प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में वह चेतना क्रियमाण नहीं होती जिसके द्वारा हम जाग्रत-संसार तथा स्वप्न-जगत की अनुभूति करते रहते हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि घोर निद्रा की अवस्था में स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था विद्यमान नहीं रहती और न ही यह कहा जा सकता है कि ये दोनों अवस्थाएँ सोने वाले व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाती हैं। इससे न तो वे निकलती हैं और न ही वे (अवस्थाएँ) इसमें लीन हो जाती हैं क्योंकि चेतना की ये तीन अवस्थाएँ वे काल्पनिक कथानक हैं जो बुद्धि रूपि वृद्धा द्वारा मन रूपी शिशु को सुनाये जाते हैं।

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥५३॥

एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है। द्रव्य के अतिरिक्त किसी और वस्तु से द्रव्य से इतर पदार्थ उत्पन्न हो सकता है; किन्तु जीवात्मा न तो द्रव्य हो सकते हैं और न ही द्रव्य से इतर।

तर्क-शक्ति से मुग्ध मन वाले अपने शिष्यों को पराजित कर चुकने पर भी श्री गौड़पाद अभी अपने विचार की पुष्टि करने में लगे हुये हैं। कारणवाद में रत्ती भर आस्था भी शेष न रहने देने के उद्देश्य से ऋषि अपने शिष्यों को एक युक्ति के बाद दूसरी युक्ति दे रहे हैं। इस परिवर्त्तन-शील स्थूल संसार सें हम एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति होते देखते हैं। मानसिक एवं मनुष्यता के पारस्परिक जगत में हम द्रव्य से इतर पदार्थों से सजातीय पदार्थों को प्रकट होते हुए देखते हैं।

इसी में विशेषताओं अथवा गुणों को व्यक्त करने के लिए 'द्रव्य से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इतर' शब्दों का उपयोग किया गया है। यदि मैं सहृदयता तथा अनन्य भाव से किसी के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करूँ तो उस (व्यक्ति) में भी अधिक प्रेम का संचार होगा। शिक्षा द्वारा मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यदि सहानुभूति का समुचित उपयोग किया जाय तो घृणित नृशंस के हृदय को भी द्रवीभूत किया जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रेम, दया आदि के द्वारा दूसरों के हृदय में प्रेम, दया आदि का संचार करना सम्भव है। घृणा से घृणा तथा प्रेम से प्रेम उत्पन्न होते हैं।

वैयक्तिक मिथ्याभिमानी में द्रव्य अथवा अनुभव से सम्बन्धित व्यक्तित्व नहीं पाया जाता और न ही इससे किसी अन्य द्रव्य या अनुभव का प्रकाश हो सकता है।

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम्।
एवं हेतु फलाजातिं प्रतिशन्ति मनीषिणः ॥५४॥

इस तरह बाह्य विषय-पदार्थों की रचना मन के द्वारा नहीं होती और न ही हम यह कह सकते हैं कि इन (पदार्थों) के द्वारा मन की उत्पत्ति होती है। इसलिए सभी बुद्धिमान व्यक्ति परमात्म-तत्व के अजात तथा अविकसित (जिसे 'कारण' की पूर्ण नकारात्मकता भी कहते हैं) होने में विश्वास रखते आये हैं।

पदार्थ-सृष्टि को समझाने के लिए सामान्य सिद्धान्त यही है कि यह मन का प्रक्षेपण है। मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त का दृष्टिकोण यह है कि इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर प्राप्त होने वाली वासनाओं (impulses) में स्थूल संसार स्थित रहता है और इसके पूर्णत्व में मनकी भावना जाग्रत हो उठती है। अब तर हम जो कह आये हैं उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि दृष्ट-पदार्थों तथा मन में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इसलिए हमय ह परिणाम निकालते हैं कि प्रत्यक्ष संसार का, जिसे मन द्वारा अनुभव किया जाता है, वास्तविकता से उद्भव किसी अवस्था में नहीं हुआ। इस कारण श्री गौड़पाद इस मंत्र को समाप्त करते हुए हमें यह बताते हैं कि बुद्धिमान् व्यक्ति अजातवाद अथवा अविकासवाद को ही क्यों अपनाते हैं। उनके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विचार में विकसित बुद्धि द्वारा यही सिद्धान्त मान्य हो सकता है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से ऋषि हमारे उस अन्ध विकास की ओर संकेत करते हैं जो सामान्यतः कारणवाद में पाया जाता है।

जीवन पर घटाने से इस मंत्र को केवलमात्र एक ऐसा सिद्धान्त नहीं मान लेना चाहिए जो अधिक विकसित होने के कारण केवल अव्यावहारिक एवं हवाई किले बनाने वाले व्यक्तियों के कल्पना-जगत को ही सन्तुष्ट रख सकता है। वास्तव में हम इस सिद्धान्त का अपने जीवन के सभी व्यापारों में सदुपयोग कर सकते हैं। यदि हम उपरोक्त बौद्धिक प्रमाणों से यह परिणाम निकाल सकें कि अवास्ताविक होने के कारण स्थूल पदार्थ हमारे मन की रचना नहीं कर सकते तो हमें स्पष्ट रूप से विदित हो जायेगा कि जीवित व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों के शिकार नहीं हो सकते। हमारी उत्पत्ति संसार से नहीं होती और न ही हम इस स्वप्नमय संसार की रचना करते हैं। परिस्थितियाँ हमारा कुछ भी बना अथवा बिगाड़ नहीं सकतीं। इन परिस्थितियों पर प्रभुता रखने के कारण हम प्रतिदिन अपने भाग्य का निर्माण करते हैं।

इस तरह साधक के लिए वेदान्त न केवल मार्ग तथा लक्ष्य की व्यवस्था करता है बल्कि यह उस (साधक) को इस तत्व से भी अवगत कराता है कि मनुष्य परिस्थितियों से पूर्णतः अछूता रहता है। इससे वह आस्था एवं दृढ़ता से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। मनुष्य प्रकृति का दास नहीं है बल्कि यह (प्रकृति) उस (मनुष्य) के हाथ में एक कठपुतली है और उसकी सुविधा तथा मनोरंजन के लिए तत्पर रहती है। हमारा आत्म-पतन करने वाली भ्रान्ति ने हमें जिस संघर्ष तथा झंझट में डाला हुआ है उसके कारण हम इस तत्व को स्मरण नहीं रख पाते। अतः बुद्धिमान इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं क्योंकि तर्क एवं युक्ति द्वारा इस तत्व को पूर्ण रूप से सिद्ध किया गया है।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतु फलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥

जब तक कोई व्यक्ति कारणवाद में विश्वास रखता है तब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तक उसे यह (कारणवाद) क्रियमाण होता दिखायी देता है किन्तु जब उसके हृदय से यह भावना निकल जाती है तब कार्या-कारण दोनों लुप्त हो जाते हैं।

यदि बुद्धिमानों द्वारा ऊपर बताया गया तर्क-सिद्ध परिणाम निकाला गया है तो प्रश्न उठता है कि कारणवाद से चिमटे रहने वाले व्यक्ति की क्या दशा होती है। इस मंत्र में इसका उत्तर दिया जा रहा है। जब तक कोई व्यक्ति कारणवाद में अटूट विश्वास रखता तथा उसे व्यवहार म लाता है तब तक वह उसके लिए विधि पूर्वक क्रियमाण होता है।

जिस समय तक मनुष्य यह सोचता रहता है कि "मैं अभिकर्त्ता हूँ; गुण-अवगुण वाले ये जीवन-व्यापार मेरे अपने हैं और यथा-समय नया जन्म लेकर मैं इन कृत्यों के फल का उपभोग करूगा" तब तक उसे इन कर्म्मों का फल भोगना पड़ता है और इन (कर्म्मों) के अनुसार उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होती रहती है। हम जैसी भावना रखते हैं वैसे बन जाते हैं।

जब विवेक द्वारा उसके हृदय में यह भ्रान्ति-पूर्ण भावना नहीं रहती तब वह कारणवाद के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

इस प्रसंग में कम से कम भारतवर्ष में बहुत से व्यक्ति शकुन-अपशकुन के अनुकूल-प्रतिकूल फल का उपयोग करते देखे जाते हैं जब कि अन्य देशों वाले समान परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करते रहने पर भी सुख-दुःख का अनुभव करते दिखायी नहीं देते।

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥५६॥

जब तक (मनुष्य की) कारण-कार्य में श्रद्धा रहती है तब तक (उसका) जन्म-मरण का चक्र निरन्तर चलता रहेगा। जिस क्षण विवेक उसकी इस धारणा को नष्ट कर देता है उसी क्षण जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि हम कारणवाद में विश्वास रखें तो हमें इससे क्या हानि होगी ? श्री गौड़पाद कहते हैं कि जब तक इसमें आस्था बनी रहती है तब तक मनुष्य परिवर्त्तन, विक्षेप, ससीमता और मृत्यु के बीच भटकता रहता है। अध्यात्मवादियों के सभी प्रयास इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने तथा उस तीव्र वेदना से मुक्ति पाने से सम्बन्ध रखते हैं जो स्थूल संसार तथा हमारे मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में प्रभुत्व रखती हुई भी हमें चलायमान रखती है। यह अज्ञात आन्तरिक संघर्ष, जो हमें सदा पीड़ित रखता है, आध्यात्मिक अस्थिरता कहलाता है। जब कोई विकसित बुद्धि वाला व्यक्ति पवित्रता एवं बुद्धि की निश्चित स्थिति की प्राप्ति कर लेता है तब उसे इस अस्थिरता का सामना करना पड़ता है।

इस श्रेणी के व्यक्तियों की सहायता के लिए उस परम-श्रेष्ठ दार्शनिक सिद्धान्त तथा अनुशासन का प्रतिपादन किया गया है जो इन प्रयत्नशील साधकों को परिपूर्णता प्राप्त करने में सफलता प्रदान करता है। इस स्थिति में इन्हें सुख तथा शान्ति की अनुभूति होती है। जब तक इन साधकों के हृदय में इस आध्यात्मिक पीड़ा की कसक बनी रहती है और ये कारणवाद के बन्धन में फँसे रहते हैं उस समय तक ये (हृदय) संतप्त रहते हैं। इससे पूर्व हम कह चुके हैं कि काल, अन्तर तथा कारणत्व के सीमित क्षेत्र में ही मन गतिमान हो सकता है। मन का गत्ते का क़िला इन्हीं तीन स्थिर चट्टानों पर खड़ा दिखायी देता है। विज्ञान तथा तर्क के विकसित-बुद्धि व्यक्ति के लिए इस बात को समझना अत्यन्त सुगम होगा कि काल तथा स्थान परस्पर सापेक्ष एवं परिवर्त्तनशील हैं; किन्तु कारणवाद की निराधारता को बहुत आसानी से जानने के लिए बुद्धि का वह उपकरण उपयुक्त नहीं है जिसे प्रत्यक्ष संसार के विविध पदार्थों के वीक्षण, विश्लेषण तथा व्यावहारिक ज्ञान के लिए ही तैयार किया गया हो; इस लिए यहाँ आचार्य्य ने, जाग्रत तथा उत्तेजित बुद्धि वाले व्यक्तियों के सम्मुख यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कारणवाद वस्तुतः आधार-रहित है। जब किसी व्यक्ति को अध्ययन, मनन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और ध्यान द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि कारणवाद पूर्णतः मिथ्या है तब वह अपने मानसिक क्षेत्र का सुचारु ढंग से अतिक्रमण करने में समर्थ हो जाता है।

मन को लाँघ लेना वह जाग्रतावस्था है जब आत्मा अपने आप से साक्षात्कार कर लेता है। मन के जर्जरित होने का अर्थ 'अहंकार' का सत्वहीन होना है। सीमित मिथ्याभिमान का अन्त होने पर व्याप्त आत्मा का प्रकाश होता है। सीमाबद्ध तथा नाशमान् जीवात्मा परिपूर्ण-तत्त्व की केवलमात्र छाया है। जब इस भ्रान्ति का भूल-आधार ही नष्ट हो जाता है तभी मन का अतिक्रमण हो पाता है। वैसे कारण-कार्य के क्रियमाण होने के लिए काल तथा स्थान के क्षेत्र का होना नितान्त आवश्यक है। जहाँ काल और स्थान की स्थिति अनिश्चित हो वहाँ कारण-कार्य का होना भी संदिग्ध होगा। विशेष काल तथा स्थान के न रहते हुए किसी वस्तु के कारण और कार्य में विश्वास रखना मान्य नहीं हो सकता। जितना अधिक हम इस बात को समझ पायेंगे कि काल और स्थान परिवर्त्तनशील, क्षणिक, सापेक्ष तथा अवास्तविक हैं उतना अधिक हमें यह मानना पड़ेगा कि गति से सम्बन्धित नियम को ठीक तरह न समझ सकने से ही हमें कारण-कार्य्य का आभास होता रहता है।

श्री गौड़पाद ने यह परिणाम निकाला है कि—"जिस व्यक्ति ने इस भ्रान्ति का मूलोच्छेद कर दिया है वह भावी जन्म का स्वप्न भी न लेगा और न ही अपने स्थूल शरीर का त्याग करने तक वह इस भ्रम द्वारा पीड़ित होगा।" स्वप्न में एक सिंह द्वारा भयभीत हो कर जागने पर मनुष्य कभी यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि यदि पाँच मिनट और वह निद्रा से न जागता तो उस सिंह के हाथों उस की क्या दुर्दशा होती। न ही उसे इस बात का खेद होगा कि उस का स्वप्न आगे क्यों न बढ़ा और वह सहसा क्यों जाग उठा। ऐसे ही जिस व्यक्ति का कारणवाद में अन्ध-विश्वास नहीं रहता उसे क्षण-भंगुर जीवन के दुःखों की चोट सहन नहीं करनी पड़ती।

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वं नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥५७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्म की भावना केवलमात्र एक मिथ्या अनुभूति है जिसका आधार अज्ञान है; इस कारण ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो स्थायी हो । वास्तविक-तत्त्व के व्याप्त रहने के कारण किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती और न ही किसी का नाश होता है ।

श्री शंकराचार्य्य कहते हैं कि एक सज्जन विरोधी-पक्ष में खड़े हो कर 'कारिका' के उस स्थल पर आक्षेप करते हैं जहाँ जन्म-मृत्यु के चक्र का उल्लेख किया गया था । वह व्यक्ति कहते हैं—"यदि अजात आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं है तब आप कारण तथा कार्य के आदि और अन्त के विषय में किस कारण अपने विचार प्रकट करते हैं और साथ ही आप जन्म-मरण की शृंखला का हवाला क्यों देते हैं ?" प्रस्तुत मंत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ।

यहाँ 'संवृत्ति' शब्द नश्वर संसार के उन मिथ्या अनुभवों का द्योतक है जिनकी उत्पत्ति हमारे अज्ञान के कारण होती है। अज्ञान के क्षेत्र में रहने वाली इन भ्रमोत्पादक प्रतीतियों में कोई वास्तविकता नहीं होती । अद्वैत परमात्म-तत्त्व के विशुद्ध ज्ञान के उत्तुंग शिखर पर पहुँच जाने पर इस पदार्थ-मय संसार की अनुभूति ही नहीं होती और अजात 'आत्मा' के सिवाय और किसी का अस्तित्व शेष नहीं रहता । जब किसी का जन्म ही नहीं होता तो फिर उसकी मृत्यु किस प्रकार संभव होगी अर्थात् कारण और कार्य्य का विचार किस तरह रह सकेगा ? तब जन्म-मृत्यु का चक्र भी न रह पायेगा । वस्तुतः न किसी का जन्म होता है और न ही किसी की मृत्यु होती है; जो कुछ हम देखते तथा अनुभव करते हैं वह विशुद्ध परम-चेतना ही है और वह अनादि तथा अनन्त है ।

यथार्थवादी कहते हैं कि नाम-रूप वाला संसार वास्तविक है और इसके विविध पदार्थ ही यथार्थ-तत्त्व (परमात्मा) के सूचक हैं । इनके विपरीत सनातन-तत्त्व में पदार्थ-मय संसार के अस्तित्व को आदर्शवादी नहीं मानते । इनके विचार में ये पदार्थ मनुष्य के मानसिक भागों की प्रतिच्छाया ही हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेदान्तवादी 'सत्य' की घोषणा करते हुए कहते हैं कि 'चिरन्तन सत्य' में न तो विविध पदार्थों की स्थिति हो सकती है और न ही किसी प्रकार के भाव यहाँ ठहर सकते हैं; किन्तु पदार्थमय बाह्य-संसार और भावमय अन्तर्जगत को प्रकाशमान करने वाला अजात, सर्व-व्यापक और अविकारी परमात्म-तत्त्व ही है। एक अज्ञानी की दृष्टि में जन्म-मरण का चक्र कारण-कार्य सम्बन्धी नियम के अनुसार निरन्तर चलता रहता है; किन्तु अनन्त परमात्म-तत्त्व को अनुभव करने वाले व्यक्ति की दृष्टि में अनेकता की स्थिति ही नहीं है। वह तो आत्मा की अनुभूति को सब कुछ मानता है। संक्षेप में हम यह सकते हैं कि जन्म-मृत्यु से सम्बन्ध रखने वाले विचार अपेक्षाकृत दृष्टि से ही माने जा सकते हैं। एक विद्वान् सब पदार्थों में अद्वैत आत्मा को ही अनुभव करता है जिससे वह किसी वस्तु को नष्ट होने वाली नहीं मानता। उसके विचार में तो हमारी मिथ्या मानसिक प्रवृत्तियाँ—कारण-कार्य, जन्म-मृत्यु आदि—भी अविनाशी हैं।

धर्मा स इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपनं तेषां सा च मया न विद्यते ॥५८॥

हमें पृथक् रखने तथा आत्माभिमान की रचना करने वाले तत्त्व जन्म लेते कहे जाते हैं; किन्तु आत्मा की अनुभूति करने वाले के विचार से ऐसा होना संभव नहीं है। इसलिए जन्म एक मिथ्या पदार्थ के समान अवास्तविक है और साथ ही यह 'माया' स्वतः मिथ्या है।

पिछले मंत्र में पदार्थमय संसार को मिथ्या सिद्ध करने में प्रयत्नशील होते हुए भी श्री गौड़पाद ने बड़ी उदारता से हमें इस दृष्ट-संसार का कारण बताया था। ऋषि के विचार में इस (संसार) का प्रादुर्भाव अज्ञान से हुआ। इस मंत्र में हमें यह बताया गया है कि संसार के पदार्थ वास्तविक न होने पर भी हमें उत्पन्न होते दिखायी देते हैं। इससे पाठकों के मन में यह सन्देह उठ सकता है कि ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान की सत्ता भी बनी रहती है। इस शंका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को निवारण करने के उद्देश्य से श्री गौड़पाद कहते हैं कि माया का स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है । इस तरह हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष संसार भ्रान्ति-जन्य भ्रान्ति है और इस (संसार) में वास्तविकता का होना ऐसे ही संभव है जैसे एक वन्ध्या के पुत्र की ज्येष्ठ पुत्री का जन्म होना । इस कन्या का जन्म होना असंभव है क्योंकि इसके पिता की सत्ता ही नहीं है ।

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।
नासौ नित्यौ न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥५९॥

एक माया-रूपी बीज से माया-रूपी अंकुर निकलता है । यह मिथ्या अंकुर न तो नित्य है और न ही अनित्य । यही बात जीवों के लिए घटित होती है ।

यहाँ विद्यार्थियों के मन में यह शंका उठ सकती है कि जब आदि-मूल पदार्थ मिथ्या है तो उससे मिथ्या पदार्थों की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । यहाँ इस भाव को एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है । हमारे देश में जादूगर यह प्रसिद्ध खेल बहुधा दिखाया करते हैं । जादूगर दर्शकों को एक मिथ्या बीज दिखाता है और उसे पृथ्वी पर रख कर मिट्टी में रखता, जल देता तथा एक टोकरे द्वारा ढक देता है । कुछ क्षण में जब वह टोकरा उठाता है तो चकित दर्शक वहाँ एक अँकुर जमा हुआ देखते हैं । इसके बाद वह (जादूगर) उस अंकुर को फिर भूमि पर रखता, पानी देता तथा टोकरे से ढक देता है और पास खड़े हुए व्यक्तियों के विस्मय की सीमा नहीं रहती जब टोकरा उठाये जाने पर उन्हें उस अंकुर के स्थान में एक फलदार वृक्ष दिखायी देता है ।

जब टोकरा तीसरी बार उस पर रखने के बाद उठाया जाता है तब विस्मित दर्शक को उस अंकुर के समीप पड़ा हुआ पका फल दिखायी देता है । उस समय जादूगर पके फल की फाँकें काट कर उसे आश्चर्य-चकित दर्शकों में बाँट देता है और वह आम बड़ी रुचि से खाया जाता है ।

वेदान्ताचार्य्य इस उदाहरण द्वारा साधकों के मन पर यह अंकित करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चाहते हैं कि माया द्वारा परिवेष्ठित रहने पर सभी कुछ संभव रहता है। स्वप्न में किये गये विवाह के बाद माया-रूपी सन्तान का होना एक असंभव बात नहीं होती। ऐसे ही माया से मिथ्या पदार्थ की रचना हो सकती है। माया अथवा अज्ञान 'भ्रान्ति' का दूसरा नाम है और इसी से पदार्थमय-संसार की सृष्टि होती है। आने वाले ६१ तथा ६२ मंत्र में इस स्वप्न के उदाहरण को विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा।

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥६०॥

अजात अहंकार के लिए नित्यता तथा अनित्यता शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। जिसे शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जाता उसमें वास्तविकता अथवा मिथ्यात्व का विवेक करना असंभव है।

यदि हम एक बार इस बात को स्वीकार कर लें कि मन तथा इन्द्रियों द्वारा अनुभूत पदार्थमय-संसार मिथ्या है तो फिर इसके नित्य या अनित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम स्वप्न में प्राप्त की गयी सन्तान की जन्म-कुण्डलियाँ कभी नहीं बनाने बैठते। जब उनका जन्म ही कल्पना पर आधारित है तो उनके भविष्य के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त करना व्यर्थ होगा। अनेकता-पूर्ण संसार को मिथ्या मान लेने के बाद एक सच्चा वेदान्तानुयायी नित्य अथवा अनित्य तथा वास्तविक या अवास्तविक में विवेक करना आवश्यक नहीं समझता।

संसार के मिथ्या होने के रहस्य को जान लेने के बाद विवेक-बुद्धि कोई काम नहीं देती। जब तक परिभ्रान्त जीवात्मा दृष्ट-संसार की यथार्थता में दृढ़ विश्वास रखता है तब तक उसे वास्तविक तथा अवास्तविक या सत्य और असत्य में विवेक करना पड़ता है; किन्तु आत्मा को अनुभव कर लेने पर इस विवेक-बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि खम्भे का यथार्थ ज्ञान होजाने पर 'भूत की भ्रान्ति' तथा खंभे की वास्तविकता में भेद करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बुद्धिमत्ता नहीं है। खंभे को देखने वाले के लिए उस (खंभे) में किसी भूत का भयावना आकार रह ही नहीं सकता।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥

जिस तरह स्वप्न में माया के कारण मन द्वैत की रचना करता प्रतीत होता है वैसे ही जाग्रतावस्था में मन माया के द्वारा अनेक रूपों की व्याख्या करता रहता है।

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥६२॥

मन अद्वैत होता हुआ स्वप्न में अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। वैसे ही जाग्रतावस्था में यही एकमात्र मन अपने 'दो' होने का आभास देता है।

इन दोनों मंत्रों पर तीसरे अध्याय के २९ और ३०वें मंत्र में प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इस विचार की पुनरावृत्ति की गयी है ताकि छात्र इस रहस्य को दृढ़ता से समझ सकें। इस सम्बन्ध में तीसरे अध्याय को देखिए।

स्वप्नदृक् प्रचरन् सर्वे दिक्षु वै दशसु स्थिताम्।
अण्डजान्स्वेदजान्वाऽपि जीवान् पश्यन्ति यान् सदा ॥६३॥

स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न देखते समय दशों दिशाओं में घूमता रहता है और उसे अण्डज, स्वेदज आदि अनेक प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं; वास्तव में इन सब का (स्वप्न में) अस्तित्व नहीं होता केवल स्वप्न-द्रष्टा का मन ही गतिमान् रहता है।

स्वप्न देखते समय किसी व्यक्ति के पारिवारिक जन, इष्ट-मित्र तथा अपरिचित व्यक्ति ही, जो मन के प्रक्षेपण के कारण दीखते हैं, दृष्टिगोचर नहीं होते बल्कि उस (स्वप्न-द्रष्टा) को सभी दिशाओं में अनेक प्राणी दिखायी देते हैं। ये सब वास्तव में स्वप्न देखने वाले मन के ही अनेक रूप हैं। इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार स्वप्न में इधर-उधर घूमते हुए उसे अण्डज, स्वेदज आदि जिस जिस प्राणी का रूप दिखायी देता है वे सब उसके मन की ही उपज होते हैं। यही बात जाग्रतावस्था में घटित होती है।

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथातद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तामिष्यते ॥६४॥

स्वप्न-द्रष्टा के मन से उत्पन्न होने वाले इन भिन्न दृश्यों की मन के बिना कोई सत्ता नहीं होती। ऐसे ही स्वप्न-द्रष्टा का मन केवल अपने द्वारा ही देखा गया माना जाता है। इसलिए स्वप्न देखने वाले का मन उससे पृथक् नहीं रहता।

हम पहले बता चुके हैं कि पदार्थमय संसार तथा अन्तर्जगत की मोह-ग्रस्त मन द्वारा ही रचना की जाती है। इस सम्बन्ध में समुचित निष्कर्ष निकालने के उद्देश्य से यहाँ जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाओं की पूर्ण तुलना की जा रही है।

स्वप्न के विविध पदार्थ स्वप्न-द्रष्टा के मन के विविध रूप ही होते हैं। स्वप्न देखने वाले का मन उसके स्वप्न-सम्बन्धी विचारों का प्रवाह ही तो है। इस भाव को मैं स्पष्ट रूप से समझाऊँगा। जब मैं स्वप्न देखता हूँ तब स्वप्नावस्था के सभी पदार्थ मेरे मन की ही उपज होते हैं। स्वप्न में मेरे मन के द्वारा जिस सृष्टि की रचना की जाती है उसमें मैं अपने आप को भी इधर उधर घूमते देखता रहता हूँ। मेरा स्वप्न वाला स्वरूप भी मेरा मन ही है। स्वप्न में दिखायी देने वाला मेरा यह व्यक्तित्व भी एक 'मन' रखता है जिसके द्वारा स्वप्न के विविध अनुभव प्राप्त किये जाते हैं। यदि हम इससे भी आगे विचार करें तो हमें यह पता चलेगा कि यह 'मन' भी स्वप्नावस्था की अनुभूति करके भ्रान्ति की उत्पत्ति करता रहता है।

इस तरह मेरे स्वप्न के व्यक्तित्व का मन भी मेरे भ्रम के कारण गतिमान् होकर विविध पदार्थों की रचना करता है जिससे हम यह परिणाम निकालते हैं कि स्वप्न-जगत वस्तुतः हमारे मन का खेल ही है। यदि स्वप्ना-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्था में यह विचार मान्य हो सकता है तो जाग्रतावस्था में भी इससे भिन्न स्थिति की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः स्वप्न-द्रष्टा का मन उससे पृथक् नहीं होता।

चरन् जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशशु स्थितान्।
अण्डजान् स्वेदजान्वान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६५॥
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥६६॥

सब प्रकार के अण्डज, स्वेदज आदि जीव, जिन्हें जाग्रत-मनुष्य अपनी जाग्रतावस्था में सभी दिशाओं में गतिमान् होते देखता है, केवल उस (जाग्रत-मनुष्य) के मन की उपज हैं। ऐसे ही जाग्रत-व्यक्ति का मन दूसरी जाग्रतावस्था में दृष्ट-पदार्थ माना जाता है। इसलिए द्रष्टा का मन उससे पृथक् नहीं रहता।

इससे पहले जिन दो मंत्रों में स्वप्नावस्था की व्याख्या की गयी थी उसी क्रम से उपरोक्त दो मंत्रों में उस भाव को जाग्रतावस्था में यहाँ घटाया गया है क्योंकि इन दो अवस्थाओं के अनुभव भिन्न नहीं होते। कारिका, विशेषतः 'माया' शीर्षक अध्याय, में हमने जो दृष्टान्त दिया है उसकी दृष्टि में वह भाव यहाँ भी चरितार्थ होता है।

उभे ह्यन्योन्यदृश्यते ते किं तदस्तीति नोच्यते।
लक्षण शून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥६७॥

जब मन तथा जीव दोनों एक दूसरे को देखते हैं तब इनमें एक तत्व दूसरे के बिना कैसे रह सकता है। इन दोनों के पहचान के चिन्ह नहीं हैं क्योंकि एक को दूसरे के द्वारा ही जाना जा सकता है।

हम सब अनुभव-क्षेत्र में ही अपनी व्यक्तिगत सत्ता को बनाये रखते हैं। अनुभव की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कर्त्ता और कर्म में एक निश्चित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्बन्ध स्थापित हो । ये तीनों (कर्त्ता, कर्म तथा इनका पारस्परिक सम्बन्ध) जब तक एक ही कालान्तर में क्रियमाण नहीं होते तब तक मनुष्य का मन अपने जीवन-व्यापार नहीं चला सकता । विषय-पदार्थों से मन निरन्तर वासनएँ प्राप्त करता रहता है । ये विषय–पदार्थ हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । हमारा मन ही द्रष्टा है जो पदार्थों को देखता रहता है । हम पदार्थों को देखते रहते हैं, इस कारण हम दृष्ट-पदार्थों को वास्तविक मानने लगते हैं । दृष्ट-पदार्थ के रहने पर ही द्रष्टा का होना संभव है; पदार्थों का होना तभी संभव है जब हम उन्हें देखने के योग्य हों । इस तरह हम देखते हैं कि मन तथा इसके द्वारा देखी जाने वाली वस्तुएँ दोनों एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं । 'मन' की अनुपस्थिति में वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रहता तथा वस्तुओं के न होने पर 'मन' निष्क्रिय रहता है । जब द्रष्टा (मन) तथा दृष्ट-पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् माना जाय तो हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि इनमें से कौन वास्तविक है । विद्वानों का तो यह मत है कि ये दोनों (द्रष्टा और दृष्ट) वास्तविक नहीं हैं ।

दृष्ट के विना द्रष्टा तथा द्रष्टा के विना दृष्ट की यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकती । अलग रहते हुए इनकी कल्पना करना असंभव है । ऐसे कोई विशेष चिह्न नहीं जिनके द्वारा अनुभव-कर्त्ता को अनुभूत पदार्थ से पृथक् जाना जा सके । इस प्रकार पदार्थों के द्वारा मन की रचना होना सिद्ध नहीं किया जा सकता जब कि हम इतना समझते हैं कि द्रष्टा (मन) के बिना दृष्ट-पदार्थों का होना किसी भी अवस्था में मान्य नहीं है ।

इस दिशा में हम जितनी अधिक गहराई से विचार करेंगे उतना ही अधिक हमें यह विश्वास होगा कि ये विषय-पदार्थ वास्तव में 'मन' ही हैं । 'शब्द' 'रूप', आदि विषय-पदार्थ, जिन्हें हम देखते हैं, हमारे कान, नेत्र आदि के सिवाय और कुछ नहीं हैं । हमारी पाँच इन्द्रियों का केन्द्र-विन्दु 'मन' है । इस कारण सभी धर्म-ग्रन्थों में विद्वान यही कहते आये हैं कि इन्द्रियाँ हमारे मन की प्रतिक्रिया ही हैं और बाह्य-संसार में इन्द्रियों का क्रियमाण होना ही इन्द्रियों के नाम से जाना चाहता है । जब मैं दूर से एक पुरुष देखता हूँ तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस (पुरुष) का आकार मरी वीक्षण-शक्ति के सिवाय और कुछ नहीं और यह शक्ति मेरे मन की ही क्रिया है। विविध पदार्थों को मन के द्वारा ही देखा (अनुभव किया) जा सकता है। जहाँ विषय-पदार्थ हम पर अपना प्रभाव डालते हैं वहाँ मन की सत्ता का अनुभव होता है।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियते पि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६८॥
यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६९॥
यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥७०॥

जिस तरह स्वप्न-जीव प्रकट तथा लुप्त होता है उसी तरह सभी जीवात्मा जाग्रतावस्था में दृश्य और अदृश्य होते प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार माया पदार्थ (जादू से) दिखायी देते तथा लुप्त होते हैं उसी प्रकार जाग्रतावस्था के सभी जीवात्मा प्रकट तथा लुप्त होते रहते हैं।

जैसे सभी निर्मित जीव जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं वैसे ही जाग्रतावस्था में देखे जाने वाले सभी जीवात्मा दृष्टि-गोचर होते रहते हैं।

ऊपर दिये गये तीन मन्त्रों में **श्री गौड़पाद** यह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि 'परिवर्त्तन की लय' और 'जन्म-मरण का खेला जा रहा मिथ्या नाटक' किस तरह घटित होता रहता है। स्वप्न, मायाजाल तथा जाग्रत-अवस्थाओं में पदार्थ समान रूप से प्रकट तथा लुप्त होते रहते हैं। इन तीन मन्त्रों को यहाँ इस कारण दिया गया है कि जिन दो स्थितियों में हम मिथ्यात्व को स्वीकार करते हैं उनमें जाग्रतावस्था को भी शामिल करना चाहिए क्योंकि इससे सम्बन्धित जीव, पदार्थ आदि भी वास्तविकता से इतर होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वप्न वह स्थिति है जिसके अनुभूत सुख और दुखों को साधारण मनुष्य भी वास्तविक नहीं मानते। माया जाल के द्वारा दिखाया जाने वाला हाथी भी असल हाथी नहीं माना जाता जिससे इस माया-हस्ती के उपलब्ध होने या चले जाने पर हमें किसी प्रकार का हर्ष या विषाद नहीं होता।

जिन वस्तुओं को हम मंत्र, जड़ी-बूटियों आदि से व्यक्त करते हैं वे होने के बाद कुछ समय तक दिखायी देती हैं और बाद में अदृश्य हो जाती हैं। इन दृष्टान्तों द्वारा पाठकों को यह समझाया जा रहा है कि हमारे जीवन में प्रकट तथा लुप्त होने वाले विविध पदार्थ उसी मात्रा में वास्तविक कहे जा सकते हैं जिसमें जादू द्वारा दिखाये जाने वाले पदार्थ या मन्त्र, एवं जड़ी-बूटियों आदि के बल से प्रत्यक्ष किये जाने वाले विविध दृश्य।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि जाग्रतावस्था के सभी नाम-रूप पदार्थ (जीव), जो हमें जन्म लेते, बढ़ते, रुग्ण होते क्षय तथा मृत्यु आदि को प्राप्त करते दिखायी देते हैं, वस्तुतः हमारे मन की ही उपज हैं। उनमें वास्तविकता का लेशमात्र नहीं होता।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥७१॥

किसी प्रकार का जीव जन्म नहीं लेता और न ही ऐसी किसी सृष्टि का कोई कारण है। सर्व-सिद्ध यथार्थता यह है कि किसी का कभी जन्म नहीं होता।

तीसरे अध्याय के ४८वें मन्त्र की यहाँ पुनरावृत्ति की गयी है। श्री गौड़पाद के सिद्धान्त का यह मूल-मन्त्र है। "निदेशिका" में पुनरावृत्ति को अनिष्ट नहीं माना जाता क्योंकि इसमें अपरिचित तथ्यों को बलपूर्वक समझाया जाता है जिससे विद्यार्थी इसे पूर्ण रूप से जान लें। इस मन्त्र पर तीसरे अध्याय के अन्तिम मन्त्र में पूरा प्रकाश डाला जा चुका है।

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसंगं तेन कीर्तितम् ॥७२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्त्ता-कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण अनुभव में आने वाला यह द्वैतपूर्ण संसार केवल हमारे मन के क्रियमाण होने की प्रतिक्रिया है। मन किसी अवस्था में किसी पदार्थ के सम्पर्क में नहीं आता। इस कारण इस (मन) को सनातन तथा निर्लिप्त कहा गया है।

अब तक हम जो कुछ कह आये हैं उससे यह बात पूर्णतः स्पष्ट होगयी होगी कि कर्त्ता-कर्म के पारस्परिक सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप जो संसार हमें दिखायी देता है वह केवल हमारे मन के गतिमान् होने की प्रतिक्रिया है। वास्तविकता की दृष्टि में मन स्वतः प्रक्षेपण मात्र है जिससे इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह (मन) तो आत्मा में आरोपमात्र है। इस कारण स्वभावतः इसका किसी बाह्य-पदार्थ से सम्पर्क नहीं हो सकता; मन और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ नहीं है। अतः वेदान्तवादी मन को सनातन तथा निर्लिप्त मानते हैं। रज्जु (रस्सी) के दृष्टि-कोण से सर्प विष-रहित है तथा वह बटोही को भयभीत करने की क्षमता रहीं रखता।

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।
परतंत्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥७३॥

माया के आधार पर रहने वाली वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं होता। जिसकी सत्ता अन्य विचार-धारा वालों की धारणाओं पर निर्भर रहती कही जाती है वह सत्यतः असत् है।

अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य्य यहाँ यह विचार प्रकट करते हैं कि प्रस्तुत मंत्र में श्री गौड़पाद एक संभावित शंका का समाधान कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में शंका करने वाले यह कह सकते हैं कि यदि मन पदार्थों से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करता और यदि वेदान्तवादियों के मतानुसार समस्त संसार के अस्तित्व को न भी माना जाय तो धर्म-ग्रन्थ, गुरु तथा शिष्य की भावना को भी सत्य नहीं माना जा सकता। इस मंत्र में इस शंका का विस्तार-पूर्वक समाधान किया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सर्व-शक्तिमान् वास्तविक तत्व के दृष्टिकोण से जब परमात्मा से साक्षात्कार किया जाता है तब शास्त्र, गुरु और शिष्य भी भ्रान्ति-पूर्ण मन की उपज दिखायी देते हैं; इस पर इनके प्रति श्रद्धा तथा सत्कार का प्रदर्शन किया जाता है। शास्त्रों ने तो इनकी महिमा का बहुत अधिक बखान किया है क्योंकि मन की असंख्य कल्पनाओं में इन्हें बड़ा महत्व प्राप्त है। ये आत्मा के लिए औषधि के समान हैं। स्वप्न में भी एक भयानक दृश्य अथवा जीव हमारे स्वप्न को भंग करता है जिससे हम घबरा कर उठ बैठते हैं; वैसे ही मन के सभी व्यापारों में शास्त्राध्ययन विशेष महत्व रखता है। 'ध्यान' का अभ्यास और शास्त्रों का पठन करते रहने से हम परिणामतः संसार के अज्ञान-रूपी तिमिर का त्याग करके विद्वत्ता के प्रकाशमान शिखर पर जा पहुँचते हैं।

चाहे कितने दार्शनिक 'सर्व-शक्तिमान्' परमात्मा के विरुद्ध कुछ ही कहें अवास्तविक का वास्तविक होना असंभव है। व्यक्तियों द्वारा समर्थन प्राप्त करने से ही 'सत्य' की सत्ता बनी नहीं रहती और न ही बहुमत इसके विरुद्ध होने से इसकी यथार्थता में कोई दोष आ सकता है। इस (सत्य) के क्षेत्र में लोकतंत्र के लिए कोई स्थान नहीं है। 'सत्य' का साम्राज्य अटल है चाहे कोई इसके पक्ष में हो या विरोध में।

अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्या संवृत्या जायते तु सः ॥७४॥

नित्य-प्रति के मिथ्या अनुभवों के दृष्टि-कोण से 'आत्मा' अजात कही जाती है। यदि सच माना जाय तो यह (आत्मा) अजात भी नहीं है। दूसरी विचार-धाराएँ रखने वालों की दृष्टि में 'अजात' आत्मा जन्म लेती हुई दिखायी देती है।

वैशेषिकों द्वारा मुख्यतः यह शंका की जाती है। गत मंत्र में अपने संशय को स्पष्ट करने के बाद अब वे वेदान्त-वादियों के उत्तर का प्रत्युत्तर देते हुए एक अन्य समस्या ला खड़ी करते हैं। वे कहते हैं कि यदि शास्त्रों के पठन-पाठन आदि को मिथ्या मान लिया जाय तो शास्त्रों द्वारा जिस आत्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का वर्णन किया गया है वह भी वेदान्ताचार्यों की मिथ्या कल्पना के आधार पर कल्पित होगी। भगवान् शंकराचार्य्य अपने भाष्य में कहते हैं कि यह प्रश्न द्वैतवादियों द्वारा पूछा गया है। यदि आपने गत मंत्र की व्याख्या ध्यानपूर्वक सुनी है तो आपके मन में भी यही प्रश्न उठा होगा। श्री गौड़पाद इस प्रश्न को सारहीन नहीं मानते बल्कि यह कहते हैं कि यह बात सत्य है। शास्त्रों में आत्मा को 'अजात' कहा गया है और इसका यह गुण निश्चय से आत्मा में मिथ्या आरोप है क्योंकि इसका जन्म-रहित होना तभी संभव होगा जब इसका विपरीत गुण 'जन्म' भी पाया जाय।

वास्तविकता की ओर दूर से संकेत करते हुए 'अजात' शब्द का आत्मा के लिए उपयोग किया गया है। माया के घोर आवरण में रहते हुए हम जन्म तथा मृत्यु के पाश में बँधे हुए हैं; इस कारण शास्त्र हमारी ही स्थूल अज्ञान भाषा में हमें यह तथ्य समझा रहे हैं। शास्त्र अपने उच्च स्थान को छोड़ हमारे अपने स्तर पर आकर इस सर्व-शक्तिमान् तत्व की व्याख्या करते हैं। 'आत्मा' को वर्णन करने के लिए जिस दिव्य भाषा की आवश्यकता है उसके स्थान में हमारी सीमित भाषा पूर्णतः असमर्थ रहती है।

'सत्य' की अनेक परिभाषाएं करने में यह बात सब जगह चरितार्थ होती है, जैसे—"यह सब ब्रह्म है"; "यह आत्मा ब्रह्म है"; "सर्व सत्ता, ज्ञान, सुख" आदि। ये सब परिभाषाएँ सांकेतिक हैं न कि तथ्यों का सम्पूर्ण विवरण। सीमित शब्दों द्वारा असीम को पूर्णरूप से शब्द-बद्ध करना सर्वथा असंभव है। यदि इस दिशा में कोई प्रयास किया जाता है तो मिथ्या पदार्थ-मय संसार के सापेक्ष अनुभव को ध्यान में रखकर ही इस ओर पग उठाया जाता है। हमारी मिथ्या भाषा में 'अजातवाद' भी उस वास्तविक तत्व को वर्णन करता है जो न तो शब्दों द्वारा सीमित किया जा सके और न ही हमारी मानसिक एवं बौद्धिक परिधि में आए।

कार्य-कारण में विश्वास रखने के कारण सांख्यिकी 'आत्मा' को जन्म लेने वाला मानते हैं। इस विचार के विरुद्ध वेदान्तानुयायी 'आत्मा' को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अजात कहते हैं। एक अज्ञान-पूर्ण विचार का खण्डन करने के लिए इसी दावे को बनाये रखना केवल अज्ञान का प्रदर्शन करना है। एक अवास्तविक भाव का उन्मूलन करने के लिए उसी पर बल देना उसी भाव की पुनरावृत्ति करना है; किन्तु वेदान्त की महानता इसी बात में है कि इस उक्ति द्वारा सनातन, परिपूर्ण, अजात तथा सर्वशक्तिमान् की ओर संकेत किया जाता है। सापेक्ष स्तर पर ही भाषा अथवा ज्ञान के दूसरे उपकरणों को व्यवहार में लाया जा सकता है। जब हम परमात्म-तत्व की व्याख्या करने के लिए इन्हें उपयोग में लाते हैं, तो 'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना दुष्कर हो जाता है।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥७५॥

मनुष्य अवास्तविक को हठ से वास्तविक ही मानता है, किन्तु द्वैतभाव का कोई अस्तित्व नहीं है। जो द्वैत-भाव की सत्ता को अनुभव नहीं करता उसका फिर जन्म नहीं होता क्योंकि उसके लिए जन्म लेने का कोई कारण ही नहीं रहता।

अब तक जो कुछ कहा जा रहा है कदाचित् उसका उपसंहार करते हुए श्री गौड़पाद यहाँ यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अवास्तविक होने पर भी यह पदार्थमय संसार हमें वास्तविक क्यों दिखायी देता है। ऋषि कहते हैं कि यह बात अभिनिवेश (दृढ़ विश्वास) के कारण है। खेद है इस मंत्र के यथार्थ भाव तथा सौन्दर्य को इतने अच्छे ढंग से लेखनीबद्ध नहीं किया जा सकता। "अभिनिवेश" न केवल सुदृढ़ विश्वास है बल्कि यह मिथ्या ज्ञान में मन को पूर्णरूप से अतिव्यस्त रखने का वह उपाय है जो हमें हास्यास्पद अज्ञान से बाहिर नहीं निकलने देता। मुझे विश्वास है कि इतना कुछ कहने पर भी मैं आपको 'अभिनिवेश' शब्द का अर्थ ठीक ठीक नहीं समझा पाया हूँ। इसमें आस्था रखने वाले मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

एक भ्रान्त व्यक्ति पदार्थमय संसार के विविध पदार्थों में हठ-पूर्ण विश्वास रखता है। जितनी अधिक मात्रा में यह मिथ्या धारणा हममें रहगी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उतना अधिक हम इन पदार्थों को वास्तविक समझते रहेंगे । जो व्यक्ति इससे विपरीत धारणा रखते हैं उनके लिए बाह्य संसार की कोई सत्ता नहीं है । ऐसे व्यक्ति तो यह कहते हैं कि हमारा मन ही बहिर्मुख होकर विविध दिशाओं में विच्छिन्न होता प्रतीत होता है । जिसने उपासना द्वारा अपने मन को एकत्र करके धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में लगाया है (अर्थात् जिसने इन उपदेशों को सहृदयता और सद्भावना से पढ़ा तथा इनके अन्तर्निहित एवं अतीत रहस्य पर ध्यान जमाया है) वह अपने मन का अतिक्रमण करके आत्मानुभूति कर लेता है । ऐसे सिद्ध पुरुष को 'द्वैत' का अनुभव नहीं होता और उपनिषदों के कथनानुसार वह फिर जन्म नहीं लेता क्योंकि उसके लिए पुनः संसार में आने का कोई कारण नहीं रहता ।

जन्म लेने का उद्देश्य ऐसे अवसर की व्यवस्था करना है जब हमारा मन सब अनुभवों को प्राप्त करता है जिनकी उसने बीते समय में अपनी क्रिया, विचार और वासनाओं द्वारा अनजाने माँग की थी । आत्मा से साक्षात्कार कर लेने पर यह लालसा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करती जिससे हमें ऐसी परिस्थितियों से कोई काम नहीं रहता जो हमारे लिए नये नये अनुभव जुटा सकें । जिस मनुष्य ने अपना वास्तविक स्वरूप जान लिया वह आत्मा में ही रमण करने लगता है; अतः उसे इस अज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश करने की रत्ती भर आवश्यकता महसूस नहीं होती ।

मन को जीतने का अर्थ जीवात्मा का संहार होता है । संसार में हमें जिस जन्म-मृत्यु, हर्ष-विषाद, सफलता-विफलता आदि की अनुभूति होती है वह सब हमारे मिथ्याभिमान तक सीमित रहती है । जब जीवात्मा का ह्रास होता है तो प्राणी को जन्म-मरण का बन्धन जकड़ नहीं सकता । हमारे असंख्य जन्म-मरण का उद्देश्य यह है कि हम निरन्तर प्रयत्नशील रह कर अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकें । यदि हम एक बार इस गुह्य-तत्व को जान लें तो हमें जन्म-मृत्यु की इस आँख-मिचौनी से कोई प्रयोजन नहीं रहता । जिस क्षण मुझे आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी क्षण मैं जन्म-मरण के पाश से मुक्त हो जाता हूँ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान्।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥७६॥

जब मन के सामने कोई उत्तम, मध्यम अथवा अधम कारण नहीं रहता तो यह जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जब 'कारण' ही नहीं है तो 'कार्य' की सत्ता किस प्रकार बनी रह सकेगी ?

मीमाँसकों के विचार में जीव का जन्म उसकी अहंकार-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। कोई क्रिया उस समय तक फलीभूत नहीं होती जब तक उसकी कोई प्रतिक्रिया न हो। इस प्रकार किसी कार्य का फल वही कार्य्य होता है जो कभी तर्क-वितर्क के बाद किया गया हो।

काम करते समय हम जिस उद्देश्य को लिये रहते हैं उससे हमारी नयी वासनाएँ बनती रहती हैं और इन (वासनाओं) के अनुसार हमारे मन का ढाँचा बदलता रहता है। बीते समय के अपने दैनिक आदान-प्रदान में मनुष्य जिन वासनाओं को इकट्ठा करता है उन्हीं के अनुसार उसका मनोवैज्ञानिक निर्माण होता रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मनुष्य का अमुक समय का व्यक्तित्व उसके बीते जीवन का ही प्रतिफल है। मनुष्य का मन वह 'खाता' कहा जा सकता है जिसमें उसके 'भूतकाल' की वासनाओं की आय-व्यय का लेखा लिखा रहता है। इस जमा-खर्च में जिसका योग-फल अधिक होता है उसी के अनुसार उसे भविष्य में फल भोगना पड़ता है। प्रतिक्षण आने वाले समय के क्रिया-क्षेत्र को यह तैयार करता रहता है। तीन कारणों से होने वाली क्रियाओं के द्वारा जो वासनाएँ हमारे मन में एकत्र होती रहती हैं उन पर हमारे भावी अनुभव तथा क्रिया-क्षेत्र निर्भर रहते हैं। मनुष्य जो जो क्रियाएँ करने में क्षम्य है उन्हें शास्त्रों ने तीन मुख्य वर्गों में विभक्त किया है—उत्तम, अधम और मध्यम।

प्रेम एवं दया-पूर्ण वे विशिष्ट कर्म, जिन्हें भगवान् के अर्पण करने की पुनीत भावना से किया जाता है और जिन्हें करते रहने पर अभीष्ट सिद्धि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होती है, 'उत्तम' कर्म कहलाते हैं। 'अधम' वर्ग के कर्म हममें पाशविक प्रवृत्तियाँ लाते रहते हैं। इन कुकृत्यों की मनुष्य के मन पर इतनी गहरी छाप पड़ती है कि इनसे सम्बन्धित वासनाओं की तुष्टि के लिए उसे निम्न-श्रेणी के पशु आदि की योनि में आना पड़ता है। इस तरह वह व्यक्ति नये नये अनुभव प्राप्त करता तथा जन्म-मृत्यु के जाल में बँधा रहता है।

'मध्यम' कर्म वे धार्मिक अनुष्ठान हैं जिनका यज्ञ-यागादि (अथवा दिखावे के लिए किये गये धर्माडम्बर) से सम्बन्ध रहता है। ये कृत्य केवल स्वार्थ-सिद्धि की धारणा से किये जाते हैं। इनका फल भोगने के लिए मनुष्य को नर-योनि में आना पड़ता है।

पुनर्जन्म के विचार का हिन्दुओं तथा संसार के अन्य धर्मों द्वारा विरोध किया गया है। दूसरे धर्मावलम्बी इसका संकुचित अर्थ लेते हैं जब कि वे हिन्दु इसका समर्थन नहीं करते जो शास्त्रों में पूर्ण निष्ठा न रख कर निष्क्रिय तथा असमर्थ बैठे रहना पसन्द करते हैं। वास्तव में कर्मवाद एक दार्शनिक तथ्य है जिसे पूरा समझ लेने पर हम में प्रेम का अधिक मात्रा में संचार होता है और हम अटूट बल तथा साहस से जीवन की विविध परिस्थितियों से लोहा लेने में समर्थ हो जाते हैं।

कर्मवाद को भूल से 'भाग्यवाद' कहा जाता है। यदि सब कुछ 'भाग्य-वाद' के अधीन होता रहता तो हमारा धर्म अथवा उच्च आदर्श कभी का समाप्त तथा विस्मृत हो चुका होता। ऐतिहासिक तथा सामाजिक उतार-चढ़ाव होते रहने पर भी यदि हमारा धर्म अब तक जीवित रह सका है तो यह समझना चाहिए कि हिन्दुओं के महान् आदर्श सुदृढ़ तथा शक्ति-सम्पन्न हैं। जब हम कर्मवाद का रहस्य पूर्ण रूप से समझ लेंगे तब हमें पता चलेगा कि यह न केवल भाग्यवाद की व्याख्या करता है बल्कि इसमें विचारों की प्रगलभता भी पायी जाती है। यदि इसका अधूरा ज्ञान प्राप्त किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि मनुष्य अपने भाग्य का एक खिलौना है। इस प्रसंग में हम इस विचार पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ श्री गौड़पाद इस विचार की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य का मन, जिसे हम उसके जीवन-काल में प्राप्त की गयी वासनाओं का भण्डार कहते हैं, उसके उत्तम, अधम तथा मध्यम कर्मों द्वारा नियंत्रित रहता है। जिस ऋषि ने वैराग्य भाव से शरीर, मन तथा बुद्धि को लाँघ कर अपनी आत्मा से साक्षात्कार कर लिया है उसे 'मन' द्वारा रचित इन यथार्थताओं से कोई काम नहीं रहता और वह अपने मन की वासनाओं के प्रभाव-क्षेत्र से अछूता रहता है। मन से पृथक् रहने पर वह ऐसी सभी देन तथा ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जाता है जो उसके मन की वासनाओं के द्वारा प्रकट की जाती हैं।

अपने पूर्व-कृत कर्मों से होने वाली वासनाओं से मनुष्य मधुर, कटु अथवा भाव-रहित गायन लिखता रहता है। ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड की भान्ति एक समय गाया हुआ गीत दूसरे समय बजाया जा सकता है। ये मानसिक रिकार्ड (वासनाएँ) हर्ष-विषाद, शान्ति-युद्ध आदि के गीत सुनाते हैं किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब इनका सम्पर्क (ग्रामोफोन की तरह) सुई से हो। यह सुई हमारा 'अहंकार' है।

जब तक मनुष्य अपने शरीर तथा मन के साथ बँधा रहता है तब तक उसकी जीवात्मा उसके मन में वासनाओं को एकत्र करती रहती है; किन्तु जिस नर-श्रेष्ठ ने अपने मन को लाँघ अथवा अपने मिथ्याभिमान को खो कर आत्मानुभूति कर ली है उसमें उसके पूर्व-कृत कर्मों की कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह मन को पूरी तरह उन्नत कर लेने पर पहले से बने रहने वाली सभी वासनाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं जिससे जीवात्मा जन्म-रहित हो जाता है।

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥७७॥

ज्ञानावस्था या अजात एवं निर्लिप्त रहने वाले मन में किसी विकार के न रहने पर ही सर्व-शक्ति-सम्पन्न तथा शाश्वत स्थिति की अनुभूति होती है। इसलिए इससे इतर सभी पदार्थ जन्म-रहित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होते हैं क्योंकि अनेकता का प्रदर्शन केवल हमारे मन के बहिर्मुखी होने के कारण रहता है ।

पिछले मंत्र में हम बता चुके हैं कि जिस व्यक्ति ने विवेक-पूर्ण वैराग्य से मन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है उसके मन की वासनाओं की कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती । जब तक हम अपने मन के वर्तक प्रिज्म (refracting prism) के द्वारा संसार को देखते रहते हैं तभी तक यह हमारी दृष्टि में महत्त्व रखता है; किन्तु जिस नर-शिरोमणि ने मन की सीमा को लाँघ लिया है उसे संसार के प्रति न तो कोई आकर्षण होगा और न ही किसी प्रकार का भय । श्री गौड़पाद ने इस सम्बन्ध में जो समुचित युक्तियाँ दी हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए यह पदार्थमय संसार हमारे मन की भ्रान्ति की ही उपज है ।

अतः आत्मानुभव करने वाले मनुष्य का मन सिमिट कर अपने आधार (सनातन-तत्त्व) का निरावरण कर देता है । जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का समूल नाश हो जाता है वैसे ही आत्म-साक्षात्कार होने पर हमारे मन द्वारा रचित नाम-रूप संसार का लोप हो जाता है । संक्षेप में इस 'कारिका' के महान् रचयिता कहते हैं कि ज्ञान की अलौकिक उषा के निखरने पर, जिसके दर्शन के लिए साधक इतना घोर परिश्रम करता रहता है, उस (साधक) को परम-शान्ति एवं सुख के अक्षुण्ण भण्डार 'आत्मा' के दर्शन हो जाते हैं क्योंकि तब वह अपने आप को इस दिव्य ज्योति से दूर रखने वाले दुर्ग-रूपी मन की उत्तुंग प्राचीरों से घिरा हुआ नहीं पाता ।

बुद्ध्वाऽनिमित्तत्तां सत्यां हेतुं प्रथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथा काममभयं पदमश्नुते ॥७८॥

जिसने 'आत्मा' को, जो एक असीम सत्य है, कारण-रहित जान लिया है और जिसे फिर जन्म लेने का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, वह व्यक्ति उस मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है जहाँ शोक, कामना और भय के लिए कोई स्थान नहीं रहता ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चतुर्थ अध्याय में अब तक जो युक्तियाँ दी जा चुकी हैं उनमें हमें कारणवाद की निराधारता मानने तथा इसमें अन्ध-विश्वास न रखने की प्रेरणा की गयी है। यदि किसी साधक को एक बार यह ज्ञान हो जाए कि कारण-कार्य की भावना केवल हमारे नटखट मन के कारण होती है तब उसे आध्यात्मिक उद्देश्य-सिद्धि हो जाती है। यह बात हमें विदित है कि काल और स्थान की रचना केवल हमारे मन द्वारा ही की जाती है। मन का दूसरा क्रिया-क्षेत्र कारण-कार्य से सम्बन्धित रहता है और काल तथा अन्तर के बिना कारण-कार्य का अस्तित्व नहीं रह सकता।

हेतु-फल को निराधार जान लेने पर मन स्वतः प्रभावहीन हो जाता है। अपने कार्य्य-क्षेत्र में गतिमान् न रह सकने पर मन निष्क्रिय हो जाता है और इस पर प्रभुत्व स्थापित होने का अर्थ विशुद्ध आत्मा के उच्च साम्राज्य में प्रवेश करना है।

इस ज्ञान-पूर्ण चेतनावस्था को ही आत्मीयता अथवा मुक्तावस्था कहते हैं जो जन्म से मृत्यु तक की निरर्थक, सीमित तथा दुःखपूर्ण जीवन-यात्रा की मिथ्या घटनाओं से हमें सुरक्षित रखने का दूसरा नाम है।

कोई व्यक्ति विस्मय-पूर्ण भाव से यह प्रश्न कर सकता है कि जीवन के इस समुज्ज्वल ध्येय की प्राप्ति के लिए इतना संघर्ष करना क्यों आवश्यक है? निज वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके आत्म-स्वरूप की अनुभूति करना क्या एक महान् मुक्ति है? प्रस्तुत मंत्र की दूसरी पंक्ति में श्री गौड़पाद ने इन नास्तिकों को सम्बोधित किया है।

ऋषि कहते हैं कि अभ्यास द्वारा मन एवं बुद्धि को लाँघ लेने पर साधक आध्यात्मिक मोक्ष के शिखर पर जा पहुँचता है जहाँ उसे विषाद, कामना या भय की अनुभूति फिर कभी नहीं होती। अपने सीमित एवं नाशमान् जीवन में सदा आहें भरते रहने से हमें ये त्रिशूल-रूपी यातनाएँ सहन करनी होती हैं। यदि हम मनुष्य-जीवन की विविध क्रियाओं पर दृष्टि-पात करें तो हमें पता चलेगा कि हमारे अनुभव में आने वाले सब दुःखों का मूल-स्रोत ये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लीन (विषाद, कामना अथवा भय) ही होते हैं। हमारे मन की साधारण से साधारण चेष्टा भी, चाहे वह उपयोगी हो अथवा अनुपयोगी, सदा दुःख से दूर रहने, कामना की पूर्त्ति करने अथवा भय से सुरक्षित रहने की दिशा में होती है।

मुक्तावस्था में विषाद, कामना और भय के उपस्थित न रहने का विचार इस उद्देश्य से रखा गया है कि श्री गौड़पाद निज बुद्धि-चातुर्य्य से हमें उस स्थिति से परिचित कराना चाहते हैं जो हमारे शरीर, मन तथा बुद्धि के मिथ्या बन्धनों से एक दम अलग है। जब तक हम अपने शरीर से अपना सम्बन्ध बनाए रखेंगे तब तक हमें भय से मुक्ति न होगी। मानसिक क्षेत्र में विचरते रहने पर हमारी कामनाओं का अन्त नहीं होता। ऐसे ही बुद्धि से संपर्क स्थापित रखे रहने पर हमारी वेदनाएँ समाप्त नहीं हो पातीं। ज्ञान का उदय होने पर हम इस विविध मिथ्यात्व के क्षेत्र से परे हो जाते हैं और हमें इनसे किसी प्रकार की आशंका नहीं रहती।

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसंगं विनिवर्तते ॥७६॥

अवास्तविक पदार्थों से लिप्त रहने के कारण मन उन विषयों के पीछे भागने लगता है; किन्तु जब इसे उन पदार्थों की सार-हीनता का ज्ञान हो जाता है तब यह (मन) उन (पदार्थों) के प्रति विरक्त भावना लिए हुए पुनः अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मानुभूति) को प्राप्त कर लेता है।

निदेशिका होने के कारण इस 'कारिका' के हर अध्याय में स्पष्ट हिदायतें दी गयी हैं जिनका पालन करते रहने से साधक अमरत्व के मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। ध्यानावस्था में रहने वाले साधकों को यहाँ एक और लाभप्रद संकेत (Tip) दिया गया है। यहाँ उस गुह्य अध्ययन की व्यवस्था की गयी है जिससे कार्य्य-कुशलता की प्राप्ति होने के साथ बाह्य-संसार की विविध शक्तियों से मन को सफलता-पूर्वक सुरक्षित रखा जा सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सभी प्रकार के मानसिक परिभ्रमण तथा मिथ्या भय का एक ही कारण है और वह है व्यक्ति का भ्रम से अवास्तविक को वास्तविक मान बैठना। संसार के विषयों से संपर्क रखने के कारण मन अपने स्वरूप को भूल बैठता है और इस आत्म-रचित संसार के मोह जाल में स्वयं जा फँसता है। जब कोई महात्मा परिस्थितियों द्वारा रचित संसार अथवा अपने कल्पना-जगत् के वास्तविक मूल्य को ठण्डे दिल से आँकता है तब वह मन ही मन यह सोच कर लज्जित होता है कि उसने बाह्य-संसार तथा अन्तर्जगत को व्यर्थ में इतना महत्त्व दिया।

ध्यानावस्थित साधक अपने मन को असंख्य मिथ्या-कल्पनाओं के क्षेत्र से हटा कर आत्मानुभूति के नियमित प्रयास में लगाने का अभ्यास करता रहता है। इस श्रेष्ठ कार्य्य में प्रयत्नशील होते हुए उसके मन को अनेक वासनाएँ दूषित करती रहती हैं। कल्पित पदार्थों का चिन्तन करते रहने से हमारा मन उन्हें वास्तविक समझने लगता है। जितना अधिक यह इन वस्तुओं की ओर अधिक प्रवृत्त होता है उतने अधिक बल से ये (वस्तुएँ) उसे अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इस कारण श्री गौड़पाद यहाँ कहते हैं कि अपने कल्पना-जगत् के अस्तित्व में हास्यास्पद ढंग से विश्वास रखते रहने से मन अनेक पदार्थों के पीछे-पीछे भागता रहता है।

यदि यह बात सत्य मानी जाए तो वह कौन सा गुह्य साधन है जिसके द्वारा हम अपने मन को स्व-रचित इन्द्रिय-पदार्थों के क्षेत्र से हटाने में समर्थ हो सकते हैं? मन की इस समस्या को हल करने के लिए हमें मानसिक-क्षेत्र में रहने की बजाय इसका अतिक्रमण करना होगा। इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य-पदार्थों की निर्मूलता अवास्तविकता को निज विवेक-बुद्धि द्वारा समझ लेने पर मन स्वतः इन उड़ानों को बन्द करके लौट आता है। यदि इस समय यह इधर-उधर भटकता फिर रहा है तो इसका यही कारण है कि यह (हमारा मन) विषय-पदार्थों की वास्तविकता तथा इनके क्षणिक सुख में आस्था रखता है; किन्तु जिस क्षण इसे यह अनुभव हो जाता है कि ये पदार्थ मिथ्या एवं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुःख-पूर्ण हैं तब यह (मन) स्वतः ज्ञान-योग की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इस मानसिक रोग का श्री गौड़पाद ने जो निदान बताया है वह 'विवेक' है।

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः।
विषया स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥८०॥

निज प्रवृत्तियों से मुक्त होने तथा इधर-उधर भटकते रहने की क्रिया को समाप्त करने पर मन शाश्वती पवित्रता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। बुद्धिमानों द्वारा इस स्थिति को भेद-रहित, अज तथा अद्वैत जाना जाता है।

पिछले मंत्र में हमें उन उपायों के विषय में बताया गया था जिनके द्वारा हमें अपने मन को नियंत्रण द्वारा स्थिर तथा संयत करना चाहिए। जब हमारा मन अपने अभीष्ट तथा परिचित पदार्थों की ओर नहीं भागता तब इसे 'स्थिर' कहा जाता है; किन्तु कभी हमारा मन दैनिक जीवन में हमारे सम्पर्क में आने वाले बाह्य-पदार्थों को छोड़ कर अतीत की विस्मृत वस्तु, घटना आदि का चिन्तन करने लगता है और कभी यह भविष्य के सुन्दर सपनों को देखता हुआ अपने अभीष्ट पदार्थों के कल्पना-क्षेत्र में मग्न हो जाता है।

वस्तुतः हमारा मन न केवल स्थान के क्षेत्र तक सीमित रहता है बल्कि कुछ अंश तक यह काल क्षेत्र में भी विचरता रहता है। इसलिए हमारा मन वर्त्तमान संसार की विविध वस्तुओं की ओर ही प्रवृत्त नहीं होता अपितु उपयुक्त विषयों के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करके यह उन वस्तुओं का चिन्तन करता रहता है जिनकी इसे लालसा बनी रहती है। यहाँ श्री गौड़पाद एक सरल किन्तु अर्थपूर्ण संकेत द्वारा हमें बताते हैं मन को न केवल वर्त्तमान पदार्थ-क्षेत्र से दूर रखा जाय बल्कि इसे भूत अथवा भविष्यत् काल में भटकने से भी रोका जाय।

इस तरह जब साधक अपने मन को तीन-काल से सम्बन्धित विषयों से खींच कर स्थिर कर लेता है और यह (मन) एकाग्र हो जाता है तब उस (साधक) को किसी प्रकार के विचार नहीं दबा सकते। विचार-शून्य मन ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिक्रमित मन कहा जाता है। जब मन अपनी सीमा को लाँघ लेता है तब यह आत्माराम के क्षेत्र में जा पहुँचता है।

मन को लाँघने के इस भाव को केवल एक काल्पनिक सिद्धान्त नहीं मानना चाहिए जिसका किसी आदर्शवादी दार्शनिक (utopian idle) कवि ने प्रतिपादन किया हो। इसकी पुष्टि उन सहस्रों ऋषियों द्वारा की गयी है जिन्होंने जीवन-ध्येय की प्राप्ति की। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो घोषणाएँ कीं उनका संकलन करके संसार के महान् धर्म-ग्रन्थों की रचना की गयी। भाषा में विभिन्नता तथा अभिव्यक्ति में विषमता होने पर भी इनमें समान भाव का प्रकाश किया गया है। इस प्रकार विद्वानों ने घोषित किया है कि मन तथा बुद्धि की सीमा से परे जो अनुभूति होती है उसका सर्व-शक्तिमान्, अजात, अद्वैत और अभेद परमात्म-तत्व से सीधा सम्बन्ध होता है।

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम्।
सकृद्विभातो ह्येवंष धर्मो धातु स्वभावतः ॥८१॥

जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित आत्मा अपने आप प्रकट होता है क्योंकि यह (आत्मा) स्वभाव से सदा प्रकाशमान् रहता है।

अविकारी अर्थात् अजात आत्मा को श्री गौड़पाद यहाँ निद्रा तथा स्वप्न से रहित कहते हैं। यह एक विशेष बात है जहाँ केवल शब्दकोष की सहायता से शास्त्रों के मर्म को समझने में प्रयत्नशील रहने वाले अविकसित हिन्दू पण्डितों ने इस पवित्र विचार के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। इस श्रेणी के मनुष्य यह विश्वास कर बैठते हैं कि आत्मा को अनुभव करने पर यति और मुनि न तो निद्रा प्राप्त करते हैं और न ही कोई स्वप्न देखते हैं।

यदि आत्मानुभूति का चिह्न स्वप्न-निद्रा से रहित होना है तब अनेक वृद्ध नर-नारी आत्मा से साक्षात्कार करने में समर्थ होंगे। यह विचार सर्वथा निकृष्ट है। शरीर को बनाये रखने के लिए निद्रा का आना अवश्य-म्भावी है। जब तक कोई ऋषि-मुनि इस पार्थिव शरीर को धारण किये रहता है तब तक उसका शरीर अपने धर्म का अवश्य पालन करता रहेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि इस पर भी भगवान् गौड़पाद यह निर्भीक घोषणा करते हैं तो स्वभावतः इस ग्रंथ के प्रसंग में इसका विशेष रहस्य होगा क्योंकि तीसरे और चौथे अध्याय में 'निद्रा' तथा 'स्वप्न' के लक्षण समझाये गये थे । वहाँ यह बताया गया था कि स्वप्न तथा निद्रा वे अवस्थाएँ हैं जिनमें जीवात्मा आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहता है और 'आत्मा' सूक्ष्म-शरीर (मन तथा बुद्धि) या कारण-शरीर (अज्ञान के आवरण) से अपना सम्बन्ध स्थापित किये रहता है ।

आत्मानुभूति वाला व्यक्ति वह है जिसने अपने मन एवं बुद्धि पर विजय प्राप्त कर ली है और जिसे अपने वास्तविक स्वभाव के प्रति तनिकमात्र अज्ञान नहीं रहता अर्थात् जो सूक्ष्म एवं कारण शरीरों को लाँघ लेता है । इस ज्ञान के उदय होने पर हमें अपने वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह सकता; जहाँ ज्योति है वहाँ अन्धकार किस प्रकार रह सकता है ? वास्तविक-तत्व का ज्ञान न रहने से स्वप्न तथा निद्रा की अवस्था के विषय में भ्रान्ति बनी रहती है । यहाँ श्री गौड़पाद ने जाग्रतावस्था का विशेष उल्लेख नहीं किया है क्योंकि इस (जाग्रत) अवस्था में भी मन एवं बुद्धि द्वारा हम अनुभव प्राप्त करते रहते हैं ।

ऋषि ने जिस 'सत्य' की घोषणा की है उसे समझने का प्रयत्न करने वाले साधक श्री गौड़पाद के इन शब्दों का गूढ़ रहस्य भली भान्ति जान चुके होंगे क्योंकि अभ्यास द्वारा इसे समझ लेना कठिन बात नहीं है । अध्ययन तथा साधना में अभ्यस्त रहने वाले मनुष्यों को इस सम्बन्ध में रत्ती भर शंका नहीं हो सकती । 'प्रभातं भवति स्वयम्'—जब शरीर, मन और बुद्धि का अतिक्रमण कर लिया जाय तब अव्यावहारिक विद्यार्थी निस्सन्देह यह प्रश्न करेंगे कि शास्त्रों के कथनानुसार यदि आत्मानुभव की स्थिति में ज्ञान का कोई भी ज्ञात उपस्कर उपलब्ध नहीं होता तब साधक को इस अवस्था की अनुभूति किस प्रकार होगी ? मन के न होने पर वह 'सत्य' को न तो अनुभव करेगा और न ही उसे बुद्धि के बिना 'सत्य' का ज्ञान होना ।

इस शंका के निवारणार्थ श्री गौड़पाद ने इस मन्त्र में कहा है कि ज्ञान स्वयं प्रकाशमान है । इसे प्रकाशमान करने के लिए किसी अन्य ज्योति की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आवश्यकता नहीं है। क्या सूर्य्य को देखने के लिए कभी हमने किसी रोशनी का उपयोग किया है ? यदि हमें कुछ करना है तो यह है कि सूर्य्य और हमारे बीच रहने वाले पर्दे को हटा दिया जाय। जब यह मेघ दूर हो जायेगा तब ज्योति-पुञ्ज भगवान् काश्यपेय स्वतः प्रकट हो जायेंगे। ऐसे ही आत्मा परिपूर्ण ज्ञान है। इसलिए इसे जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वेदान्त-विहित सभी साधन हमारे तथा हृदयंगम आत्मा के मध्यवर्ती आवरणों को दूर करने के लिए ही उपयोग में लाये जाते हैं।

इस प्रकार आत्मानुभूति का अभिप्राय हमारे भीतर आत्मा का निरावरण करना है। आत्मा को अनुभव करने के लिए आत्म-तत्व की सहायता अपेक्षित है।

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं निव्रीयते सदा।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥८२॥

मन के विविध पदार्थों में आसक्त रहने के कारण आत्मा का सहज-गुण 'परोक्ष' रहता है और दुःख 'प्रत्यक्ष' होता रहता है। अतः प्रकाशमान् भगवान के दर्शन दुष्कर हो जाते हैं।

इस मंत्र पर भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य आरम्भ में ही एक उपयुक्त प्रश्न करते हैं और इस पर विचार करने के बाद कहते हैं कि उनके प्रश्न का उत्तर श्री गौड़पाद के उपरोक्त मंत्र में मिलता है। भगवान् का प्रश्न यह है—"क्या कारण है कि बार बार समझाने पर भी सर्व-साधारण परमात्म-तत्व को हम अनुभव नहीं कर पाते ?" टीकाकार ने इसका कारण हमारे मन का विविध विषय-पदार्थों में उलझा रहना बताया है।

मन में विचार-तरंगों का उठते रहना मन की क्रियाशीलता है। जाग्रतावस्था में हमारा मन विविध-पदार्थों को प्रति-क्षण देखता रहता है। गहरी निद्रा में हमें न तो बाह्य-संसार की अनुभूति होती है और न ही हम अपने अन्तर्जगत को अनुभव कर पाते हैं बल्कि (उस समय) हमें ऐसी वृत्ति का भास होता रहता है जिसके द्वारा हमारा अज्ञान व्यक्त होता है। सुषुप्तावस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में अपेक्षतः बहुत कम विक्षेप होता है जिससे कोई प्राणी गहरी निद्रा से उठ कर किसी बाधा-प्रतिबाधा की शिकायत नहीं करता। सुषुप्तावस्था शाश्वत् सुख की अनुभूति मालूम देती है क्योंकि उस समय हमारे मन को विक्षिप्त करने के साधन विद्यमान नहीं होते। जहाँ कोई विक्षेप न हो वहाँ परम-सुख का साम्राज्य स्थापित रहता है; किन्तु दुर्भाग्य से सुषुप्तावस्था में किसी पदार्थ द्वारा आकर्षित न होने पर भी हमारा मन आंशिक मात्रा में विक्षिप्त रहता है और इसकी वृत्तियाँ बहुशः हमारे अज्ञान को प्रदर्शित करती रहती हैं।

यहाँ श्री **गौड़पाद** इस तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं कि इन मानसिक विक्षेपों के बने रहने के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को अनुभव करने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार विक्षिप्त रहने वाला मन हमारे जीवन को कष्टमय बना देता है जिस कारण शान्ति, स्थिरता, सुख और परिपूर्णता, जो हमारे वास्तविक स्वरूप के गुण हैं, परोक्ष रह कर दुःख को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कराते रहते हैं। इसलिए पूरे ध्यान से उपदेश ग्रहण करने और कई वर्ष पर्यन्त तप एवं साधना में व्यस्त रहने पर भी अनेक साधक सुगमता से आत्म-स्वरूप की अनुभूति नहीं कर पाते। इसका एकमात्र कारण यह है कि वे अपने मन को पूर्णतः शान्त नहीं कर पाते। इस बात को बताने का यह अभिप्राय है कि श्री गौड़पाद आग्रह-पूर्वक उनके निर्देशों का पूर्ण रूप से पालन करने का हमें सन्देश देते हैं। ऋषि कहते हैं कि मन को वश में लाकर साधक उस शान्ति-पूर्ण धाम तक उड़ान भर सकता है जहाँ स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था की चेतना का प्रवेश नहीं हो पाता।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोऽभयाभावैरा वृष्णोत्येव बालिशः ॥८३॥

कम समझ व्यक्ति 'सत्य' को कई तरह से छिपाये रहते हैं। कभी वे कहते हैं कि यह (तत्व) है और कभी वे इसकी सत्ता को मानने से इन्कार कर देते हैं। इसे कभी तो वे जंगम मानते हैं,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कभी केवल स्थावर, कभी इन दोनों का मिश्रण तथा कभी इन दोनों (स्थावर और जंगम) से रहित कहने लगते हैं।

यह 'चतुष्कोटि' बौद्ध ग्रन्थ "नागार्जुन" से ली गयी है जिस कारण ऋषि के कतिपय आलोचक उन्हें बौद्ध कह कर तिरस्कृत करते हैं। यह घोर अन्याय है क्योंकि कोई दार्शनिक तर्क को अपनाने का दावा नहीं कर सकता। क्या वह योजक, संज्ञा अथवा क्रियाओं पर अपने अधिकार सुरक्षित रख सकता है ?

किसी विचाराधीन समस्या का बौद्धिक विश्लेषण करने के केवल चार मार्ग हो सकते हैं। अतः यहाँ इस चतुष्कोटि का उपयोग किया गया है। श्री गौड़पाद एक ही मंत्र में भारत के विविध न्याय-दर्शनों के मुख्य अंशों पर विचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें से प्रत्येक विचार-धारा वाले आत्मा में कई एक विशेष गुणों का आरोप करते हैं। वैशेषिकों का दावा है कि आत्मा की सत्ता शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि से स्पष्टतः अलग है और यह (आत्मा) सुख-दुःख की ज्ञाता तथा उपभोक्ता है। वे आत्मा को 'अस्ति' मानते हैं।

क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध यह दावा करते हैं कि शरीर से पृथक् होने पर भी आत्मा से बुद्धि का तादात्म्य होता है। उनके मतानुसार प्रत्येक विचार-तरंग, जो हमारे मन में उठती है, आत्मा द्वारा प्रकाशित होती है और दो क्रमिक विचारों के मध्यवर्ती क्षणों में आत्मा के लिए कुछ भी न रहने से चेतना की सत्ता नहीं रहती। इस तरह उनके दृष्टि-कोण में प्रत्येक विचार की उत्पत्ति के समय आत्मा का जन्म होता है और उस (विचार) के साथ ही यह भी समाप्त हो जाता है। इस कारण क्षणिक-विज्ञानवादी सनातन, शाश्वत तथा सर्व-व्यापक वास्तविक-तत्व के अस्तित्व में आस्था नहीं रखते। उनके विचार में ज्ञान क्षण भर के लिए रहता है और विचारों के प्रगट तथा अदृश्य होते रहने से यह (आत्मा) हमें स्थायी तथा गतिमान् प्रतीत होती है। बौद्धमत के इस आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुसार सनातन एवं स्थायी आत्मा का अस्तित्व नहीं है (नास्ति)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जैन मतावलम्बी कहते हैं कि आत्मा की सत्ता है भी और नहीं भी। उनके विचार में आत्मा शरीर से अलग तो है किन्तु यह उसके आकार के बराबर है। यह शरीर के साथ जन्म लेता और इसके साथ ही समाप्त हो जाता है। इस तरह उनकी धारणा के अनुसार आत्मा है भी और नहीं भी (अस्ति, नास्ति)।

निहिल मत के बौद्ध आत्मा की सत्ता में कोई विश्वास नहीं रखते। वे कहते हैं कि सब प्राणी और पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। इसलिए वे पूर्ण निषेध (नास्ति, नास्ति) को ही परम-तत्व मानते हैं।

ऊपर बताये गये विचार अथवा विशेष-गुण आत्मा से सम्बन्धित हैं, जैसे 'अस्ति', 'नास्ति', 'अस्ति-नास्ति' और 'नास्ति-नास्ति'। अनेक दार्शनिकों ने प्रतीयमान आत्मा को स्थायी, अस्थायी और न स्थायी तथा न अस्थायी कह कर इस (आत्मा) का लक्षण बताया है। इस कारण श्री गौड़पाद इन मतावलम्बियों के विचारों को अपरिपक्व मन द्वारा प्रतिपादित मानते हैं।

कोटयश्चचतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥८४॥

आत्मा के गुण-स्वभाव से सम्बन्धित ये चार वैकल्पिक सिद्धान्त हैं। इनमें आसक्त रहने के कारण आत्मा की सत्ता की अनुभूति नहीं होती। आत्मा को वस्तुतः वही व्यक्ति अनुभव करता है जो इसे इन सब (सिद्धान्तों) से अछूता मानता है।

श्री गौड़पाद यहाँ साधक को यह परामर्श देते हैं कि वह आत्मा की इन प्रारम्भिक परिभाषाओं को स्वीकार न करे और अभ्यास एवं क्रिया द्वारा इनसे अछूता रहे। सर्व-शक्तिमान् आत्मा के सहज तथा विशुद्ध स्वरूप को अनुभव करता हुआ वह इसे सभी दृष्ट-पदार्थों, मन अथवा बुद्धि का मूल-आधार माने। हमारे भीतर रहने वाली मन की गम्भीरता-पूर्ण स्थिरता एवं निस्तब्धता ही सर्व-ज्योतिर्मान् आत्मा का अधिष्ठान है। यह आत्म-ज्ञान ही हमारा वास्तविक स्वरूप है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥८५॥

जब वह (साधक) परिपूर्ण, अद्वैत, आदि-मध्य-अन्त रहित ब्रह्मावस्था को प्राप्त कर लेता है तब उसे और किस पदार्थ की आकांक्षा बनी रह सकती है ?

जीवन के ज्योतिर्मान परम-ध्येय को प्राप्त कर लेने के बाद आत्मा में रमण करते हुए साधक सर्व-शक्तिमान् एवं सर्व-व्यापक अनादितत्व में लीन हो जाता है । तब आत्मा का आत्मा में विलय हो जाता है । आत्मानुभूति वाले इस पारंगत विद्वान् को श्री गौड़पाद 'ब्राह्मण' कहते हैं ।

आजकल का समाज इस परम सिद्धान्त से कितनी दूर चला गया है, इसका धर्मान्धता के शिकार होने वाले व्यक्तियों से पता चलेगा जो यज्ञोपवीत-धारी और अन्य हिन्दू भाइयों में भेद-भाव रखते हैं । ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति को ही आजकल ब्राह्मण माना जाता है । क्या कभी किसी डाक्टर के पुत्र को डाक्टर माना जा सकता है ? वंश-परम्परा के बने रहने से अनुकूल प्रवृत्तियाँ तथा मानसिक विकास भले ही पाये जायँ किन्तु वास्तविक उन्नति किसी व्यक्ति की शिक्षा और व्यवहार-कुशलता आदि पर निर्भर रहती है । इसलिए एक इंजीनियर के पुत्रों का डाक्टर बनना संभव है ।

एक 'शूद्र' का पुत्र उचित प्रयास तथा व्यवहार-कुशलता से 'ब्राह्मण' बन सकता । शास्त्रों ने वर्ण-व्यवस्था को कभी संकुचित दृष्टि से नहीं माना और न ही संकीर्णता द्वारा विषैला बना कर इसे नष्ट तथा छिन्न-भिन्न करने का कभी विचार किया गया है ।

श्री गौड़पाद यहाँ प्रश्न करते हैं कि—'आत्मा से साक्षात्कार कर लेने पर ब्राह्मण के लिए और क्या आकांक्षा बनी रहेगी ?' इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है अर्थात् इसके बाद कोई इच्छा अथवा आकाँक्षा नहीं रहती । ऐसा व्यक्ति अपने आन्तरिक आनन्द में मग्न रहता है । सब कुछ उपलब्ध रहने के कारण वह किसी वस्तु के लिए इच्छा, आशा तथा लालसा नहीं रखता और किसी पदार्थ के न मिलने पर दुःखी नहीं होता । साधना में अभ्यस्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रहते हुए वह जिस आत्म-वशता, त्याग और ध्यान को प्रयोग में लाता रहा है अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती । आत्मानुभूति के बाद तो वह स्वभावतः अपने शरीर के प्रति उदासीन रहने लगता है । अब वह मिथ्याभिमान के संकीर्ण क्षेत्र में न रह कर अपरिमितता के उत्तुंग शिखर से आत्मानुभव का दिव्य तथा सनातन सन्देश सुनाने लगता है ।

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥८६॥

'ब्रह्म' को अनुभव करने से ही ब्राह्मणों में स्वभावतः विनय और साथ ही मानसिक सन्तुलन (शम) आजाते हैं । कहते हैं कि सहज-स्वभाव से ये पूर्ण इन्द्रिय-दमन प्राप्त कर लेते हैं । जो व्यक्ति इस प्रकार शान्ति-निधान 'ब्रह्म' की अनुभूति कर लेता है वह स्थिरता तथा शान्ति से विभूषित हो जाता है ।

पिछले मन्त्र में श्री **गौड़पाद** ने आत्मा को अनुभव करने वाले नर-शिरोमणि की कृत-कृत्यता की ओर संकेत किया था । अपने परिपूर्ण एवं विशुद्ध चेतन-स्वरूप को जान लेने के बाद उसके लिए और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता । इससे साधकों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि क्या परिपूर्णता प्राप्त करने वाले महात्मा के लिए कम से कम नम्रता, प्रेम, सहनशीलता, दया आदि सद्गुणों को, जो परिपूर्णता के विशिष्ट अंग हैं, नियमित रूप से उपयोग में लाने का अभ्यास करते रहना आवश्यक होता है । इस मन्त्र में श्री गौड़पाद हमें स्पष्टतया बता रहे हैं कि एक आत्मानुभवी व्यक्ति के लिए इन गुणों में अभ्यासरत रहने की क्यों आवश्यकता नहीं होती और वह यज्ञादि के बन्धन में क्यों नहीं पड़ता । इस मनुष्य में ये गुण स्वयं विद्यमान् रहते हैं । वास्तव में धर्म-शास्त्रों में जिन नैतिक नियमों, धार्मिक जीवन और पवित्रता का वर्णन किया गया है उनका मान-दण्ड इन सन्त-महात्माओं के जीवन के विविध पहलुओं को देखने पर निर्धारित होता रहता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'ब्रह्म' को अनुभव करने के बाद आत्मा तथा परमात्मा में एकरूपता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने वाला यह योगी सदा विनय के आभूषण से अलंकृत रहता है। शरीर, मन तथा बुद्धि के स्तर पर दूसरों के प्रति नम्रता को व्यवहार में लाना ही 'विनय' है। इसका अर्थ आत्म-समर्पण नहीं है। यह तो एक व्यक्ति के परिपूर्ण-तत्व में लीन हो जाने की क्रिया है। आत्मा में रमण करने वाले मनुष्य के लिए 'विनय' एक मानसिक प्रवृत्ति है क्योंकि विशुद्ध एवं सर्व-शक्तिमान् आत्मा के दृष्टि-कोण से शरीर, मन और बुद्धि तो सत्य-सनातन परमात्मा में आरोपमात्र ही हैं।

इस कृत्रिम वृथाभिमान को धारण करके इसे मिथ्या नाम-रूप संसार द्वारा बल-पूर्वक मनवाने का प्रयास विनय-हीनता का सूचक है। अहंकार, प्रभुता, शत्रुता और लड़ाई झगड़ों की उत्पत्ति उन जीवों से होती है जो अपना ही मान और धन बढ़ाने के संघर्ष में अपने समय का दुरुपयोग करते हैं। सभी प्रकार के वैमनस्य से दूर रहने वाला सत्पुरुष, जिसकी हृद्तंत्री दिव्य स्वर एवं लय से झंकृत होती रहती है, इन अवगुणों से सर्वथा दूर रहता है।

यथार्थ एवं सर्व-व्यापक तत्व में मग्न रहने के कारण कोई मानसिक विक्षेप नहीं रह सकता। वह स्वभाव से ही शान्त होता है। भारत में यह महान् उक्ति बड़ी प्रचलित है—"पर्वत चलायमान हो सकते हैं किन्तु परिपूर्ण व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की तरंग नहीं उठ सकती।"

आत्मा में केन्द्रित रह कर यह धर्मात्मा परम-सुख का अनुभव करता हुआ एकमात्र सत्ता के विशुद्ध ज्ञान से उदय होने वाले परमानन्द पर प्रभुत्व रखता है। इस पर स्वप्निल सुखों के क्षणिक हर्ष के लिए तुच्छ विषयों के पीछे वह क्यों भागा फिरे? फिर कभी वह इन्द्रियों के जाल में नहीं फँसेगा। उसकी इन्द्रियाँ किसी भी अवस्था में अपनी तृप्ति के लिए पदार्थमय संसार की ओर नहीं भागेंगी। जिस व्यक्ति ने जी भर कर भोजन कर लिया है क्या वह फिर बचे हुए अन्न के टुकड़ों को देख कर खाना चाहेगा? परिपूर्ण आनन्द के द्वारा तृप्त होने वाला सिद्ध पुरुष किसी पदार्थ की लालसा नहीं रखता। वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अज्ञानी अपनी इन्द्रियों द्वारा विषयों में भटकते फिरते हैं क्योंकि उनमें विषय-भोग की मिथ्या भावना बनी रहती है। जब इस परिभ्रान्त जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि विषय-पदार्थ हमारी इन्द्रियों का केवलमात्र विस्तृत रूप हैं, इन्द्रियाँ मन के ही स्थूल अवयव हैं और हमारा मन आत्मा में आरोपमात्र है अर्थात् जब वह अपने सुख-निधान 'आत्मा' को जान लेता है तब उसे विषय-भोग की साँकरी गलियों में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

आत्मानुभूति वाला मनुष्य स्वभाव से ही इन्द्रियों को अपने वश में रखता है—यह बात इस लिए कही गयी है कि 'ज्ञान-योग' तथा 'हठ-योग' में तुलना की जा सके। ज्ञान-योग में इन्द्रियों को विवेक तथा अभ्यास द्वारा नियंत्रण में लाया जाता है जब कि हठ-योग में प्राणायाम द्वारा 'प्राण' को इन्द्रियों की सहायता से भीतर की ओर खींचा जाता है। आत्मानुभव के कारण इन्द्रियों पर स्वाभाविक एवं पूर्ण नियंत्रण श्वास-निरोध द्वारा क्षणिक, अस्वाभाविक, अपूर्ण और दुष्कर इन्द्रिय दमन से कहीं अधिक प्रभावशाली है।

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ।८७।।

वेदान्त द्वारा वह लौकिक जाग्रतावस्था मान्य है जिसमें पदार्थों तथा विचारों के संसर्ग से प्रकट होने वाली अनेकता का ज्ञान रहता है। यह (वेदान्त) एक अन्य सूक्ष्मावस्था को भी मानता है जिसमें विचारों के अवास्तविक पदार्थों में लिप्यमान रहने के कारण अनेकता की अनुभूति होती रहती है।

प्रस्तुत और आगे आने वाले मंत्र में श्री गौड़पाद ने बौद्धों की 'गोचर' विचार-धारा के प्रसिद्ध शब्दों का उपयोग किया है। इन बौद्धों की भाषा में जाग्रतावस्था को 'लौकिक' तथा स्वप्नावस्था को 'शुद्ध-लौकिक' कहा जाता है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में पहले ही इन दो अवस्थाओं की व्याख्या तथा परिभाषा की जा चुकी है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बौद्ध-मत के इन दार्शनिक शब्दों का उल्लेख करके श्री गौड़पाद के आलोचक अपने इस हास्यास्पद सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि 'कारिका' का रचयिता धर्म से बौद्ध था। जिस कुशल एवं सुपात्र विद्यार्थी ने भगवान् शंकराचार्य्य के भाष्य सहित इस कारिका का गहन अध्ययन किया है वह इस युक्ति को कभी नहीं मानेगा। किसी विचारज्ञ द्वारा प्रयुक्त शब्दों को अन्य विचारों वाला कोई दूसरा व्यक्ति उपयोग में ला सकता है यद्यपि वह उसका किसी दूसरे प्रसंग में उल्लेख करता है। बौद्ध विद्वानों ने स्वयं इस प्रथा को अपनाया है। उन्होंने सभी परिभाषाएँ प्राचीन साहित्य से लीं और उनका अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया यद्यपि इनका अर्थ तथा सन्दर्भ कुछ अंश में भिन्न था।

'लौकिक' तथा 'शुद्ध-लौकिक' अवस्था में द्रष्टा का दृष्ट-पदार्थ से संपर्क रहता है किन्तु इनमें यह भेद रहता है कि जाग्रतावस्था में द्रष्टा को स्थूल पदार्थ यथार्थ प्रतीत होते हैं जब कि स्वप्नद्रष्टा को वे पदार्थ दिखायी देते हैं जो वास्तविक रूप से स्वप्नाच्छादित मन के विचार ही होते हैं।

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥८८॥

विद्वान एक और चेतनावस्था को मानते हैं जिसमें बाह्य-पदार्थों तथा अन्तर्जगत के विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह अवस्था सभी लौकिक अनुभवों से परे है। विद्वानों के द्वारा इन तीनों (ज्ञान, पदार्थ-ज्ञान और ज्ञातव्य) को परम-तत्त्व कहा गया है।

बौद्धों की 'योगंचर' विचार-धारा के अनुसार स्वप्न-रहित सुप्तावस्था को 'लोकोत्तर' कहा गया है। इस अवस्था में निद्रा-ग्रस्त व्यक्ति न तो जाग्रतावस्था के पदार्थों को अनुभव करता है और न ही उसे स्वप्न के विचारों से उत्पन्न होने वाले रूप दिखायी देते हैं और सब से बड़ी बात यह है कि वह (निद्रा-ग्रस्त मनुष्य) किसी वस्तु के संसर्ग में आने की अनुभूति नहीं करता। इन तीन अवस्थाओं में ही सभी पदार्थों का ज्ञान भरा रहता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। हमारा लौकिक जीवन इन तीन अवस्थाओं के सामूहिक अनुभव से ही बनता है। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित 'साधन' में सफलता प्राप्त करने का अर्थ इस आत्म-तत्त्व को जानना है जो इन तीन अवस्थाओं के अनुभवों का ज्ञान देता तथा इन्हें प्रकाशमान करता रहता है।

वेदान्त कहता है कि यह 'महान्' सत्य और परस्पर वाद-विवाद करती रहने वाली सभी विचार-धाराओं के परम-विषयक दृष्टि-कोण इन्हीं तीन चेतनावस्थाओं से एकरूपता रखते हैं। इन तीनों को लाँघ लेने पर हम वेदान्त के साम्राज्य में प्रवेश करते हैं। अद्वैत एवं अजात 'आत्मा' के परम-ज्ञान की इस स्थिति को **'तुरीय'** कहते हैं। आत्मानुभव करने वाले सिद्ध पुरुषों ने अज्ञान-पूर्ण स्थूल पदार्थों से ज्ञेय परमात्म-तत्त्व की अनुभूति तक जो कुछ बताया है उसे साहित्य में **'ब्रह्म-विद्या'** कहा गया है।

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञाता हि सर्वत्र भवतीह महाधिपः ॥८६॥

जब ज्ञान तथा त्रिविध ज्ञेय को क्रमानुसार जान लिया जाता है तो परम-विवेक वाला ऐसा व्यक्ति सर्वत्र तथा इस जीवन में ही ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेता है।

'कारिका' का यह सुन्दर एवं रहस्य-पूर्ण मंत्र वास्तव में अनुपम है। इसमें उस जीवन-मार्ग अथवा अभ्यास की ओर संकेत किया गया है जिसके द्वारा **'माण्डूक्योपनिषद्'** में वर्णित परिपूर्णता को प्राप्त करने की विधि समझायी गयी है। साधक को सब से पहले यह परामर्श दिया जाता है कि वह अनुभव-कर्त्ता या जीवात्मा को शनैः-शनैः जान ले जो कभी 'जागने-वाला' कभी 'स्वप्न-द्रष्टा' और किसी समय 'घोर निद्रा लेने वाला' कहा जाता है। उसे यह भी सलाह दी जाती है कि वह इन तीन क्रिया-क्षेत्रों के मिथ्या व्यापारों में कार्य-व्यस्त रहने का पूरा ज्ञान प्राप्त करे।

उपनिषद्-खण्डों में जब हमने उपासना-विधि समझाते हुए ॐ की 'अ', 'उ' तथा 'म्' मात्राओं पर क्रमशः 'जागने वाले', स्वप्न-द्रष्टा और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'निद्रा-मग्न' व्यक्ति का आरोप करने की मंत्रणा दी थी तब इस बात पर भी पूरा प्रकाश डाल दिया गया था।

इस उपाय को हमारे मन में पूरी तरह अंकित करने के लिए श्री गौड़पाद ने यहाँ इसका पुनरुल्लेख किया है। एक कट्टर वेदान्तवादी के लिए 'साधना' सबसे अधिक महत्त्व रखती है क्योंकि वह किसी रूप अथवा गुण-विषयक वस्तु पर अपना ध्यान नहीं जमाता; जो व्यक्ति विवेक द्वारा निरन्तर अभ्यास करता रहता है वह अन्तर्स्थित जीवात्मा के पूर्ण-रूप से परिचित हो जाता है जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था में विविध नाट्य-क्रियाओं की रचना करता रहता है। अन्त में यह (जीव) स्वयं विशुद्ध 'तुरीयावस्था' को प्राप्त कर लेता है। इन तीन क्रिया-क्षेत्रों का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का यह अभ्यास भी एक असाधारण प्रशिक्षण है जिससे साधक अधिक तीक्ष्ण-बुद्धि एवं विकास से सम्पन्न होता है। उसका मन स्थिर होता है और उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रखर हो जाती है। विशेष बुद्धि-कौशल द्वारा विभूषित व्यक्ति इन तीन क्षेत्रों के अनुभव-कर्त्ता को जानने के लिए जब उद्यत होता है तो उसे इन तीन अवस्थाओं के सामान्य हर का पूरा पता चल जाता है। इसे ही चतुर्थावस्था या परमात्म-स्थिति कहा जाता है।

जो वेदान्ती 'ध्यान' करने का सतत अभ्यास करता रहता है वह इसी जन्म में परमात्म-स्थिति को अविलम्ब प्राप्त कर लेता है। परिपूर्णता की प्राप्ति मृत्यु से पहले हो सकती है। इसे शीघ्र अनुभव करना प्रत्येक प्राणी का जन्म-सिद्ध अधिकार है। इसके लिए कोई अवधि नियत नहीं की जा सकती। साधक जितनी निष्ठा तथा परायणता से इस दिशा में प्रयत्नशील होता है उतनी शीघ्रता से उसे सफलता मिलती है। परिपूर्णता के गढ़ का नियमितता, निष्ठा और सद्विवेक की आधार-शिला पर निर्माण होता है।

विशुद्ध ज्ञान की इस तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेने के बाद आत्मानुभव प्राप्त करने वाला सत्पुरुष आत्मा के स्वरूप को धारण कर लेता है और इसके सहज गुण से युक्त हो कर प्रत्येक प्राणी में सब को देखने लगता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हेयज्ञेयाप्यापाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु, स्मृतः ।।९०।।

सर्व-प्रथम इन चार बातों को जान लेना चाहिए—(१) हेय पदार्थ; (२) अनुभव करने वाली वस्तु; (३) ग्रहण करने योग्य पदार्थ और (४) प्रबल कुवासनाओं से मोक्ष पाना।

यह तथ्य इस विरोधाभास का सूचक है कि निज ध्येय प्राप्त करने की उत्कण्ठा रखने वाला साधक सब कुछ स्मरण रखता है और साथ ही वह अपनी सामान्य बुद्धि का उपयोग करना भूल जाता है। इस प्रकार के विचारों ने धर्म को निस्तेज बना दिया है। अतः गुरु का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्यों को न केवल सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान दे बल्कि समय समय पर उन्हें सामान्य-बुद्धि-विषयक विचारों को स्मरण रखने में भी सहायक हो ताकि वे (शिष्य) मूढ़ता तथा विवेक-हीनता के पाश में फँस कर पथ-भ्रष्ट न हो जाएँ। जीवन के हर गुह्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए—चाहे वह हमारे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों से सम्बन्ध क्यों न रखता हो—मनुष्य अथवा नर-समुदाय के लिए इन चार बातों से पूरी तरह परिचित होना अनिवार्य है। उन्हें यह जानना चाहिए कि उनका ध्येय क्या है और उसकी प्राप्ति में बाधक कौन-कौन से मूल्य हैं। उन्हें इस बात की भी जानकारी होनी चाहिए कि उनके उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए किन-किन बातों का होना आवश्यक है। अन्त में उनको ऐसे सांस्कृतिक दोषों का भी निश्चित रूप से पता लगाना चाहिए जिन्हें दूर करने के लिए निरन्तर अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

वास्तव में जीवन के समूचे प्रबन्ध एवं स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्रों—अर्थात् उन्नति और शासन-शालियों के कार्य-क्रम—की व्यवस्था करते हुए हमें इन चार बातों का ध्यान रखना होगा। जितनी मात्रा में किसी एक बात की अवहेलना की जायेगी उतनी मात्रा में सफलता प्राप्त करना कठिन होगा। जीवन के जिस आयोजन में सफलता के इन चार साधनों को कुशलता से व्यवहार में लाया जायेगा उसमें उतना ही अधिक हम अग्रसर हो सकेंगे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने के कारण इस मंत्र को व्यापक रूप से व्यवहार में लाना हमारे लिए इतना आवश्यक नहीं है। मैं तो केवल आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए यह बात कह रहा हूँ। ऐसा कभी न सोचिए कि भारत के प्राचीन दार्शनिक इतने सत्वहीन थे कि वे भौतिक संसार में सफल जीवन व्यतीत करने के लिए कोई व्यवस्था न कर सके। हमारे देश के उतावले आलोचक, विशेषतः इस युग के वे मनुष्य जिन्हें न तो अपनी संस्कृति का ज्ञान है और न ही पश्चिमी सभ्यता के गुणों से परिचय है, यह धारणा रखते आरहे हैं। संसार के सांस्कृतिक व्यवहार में व्यर्थ एवं हानिप्रद बातों से अपने मन तथा बुद्धि को पूरी तरह दूषित करते रहने के कारण हम जीवन की पवित्रता तथा स्वास्थ्य से हाथ धो बैठे हैं और सांस्कृतिक आधि-व्याधियों से शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सन्तुलन भी खो चुके हैं।

हमारा आहत व्यक्तित्व हमारे हृदय एवं बुद्धि को कलुषित कर चुका है। प्रस्तुत मन्त्र से हमें कम से कम यह बात समझ लेनी चाहिए परम आदर्शवाद की व्याख्या करते हुए भी यहाँ श्री गौड़पाद उस परिपाटी की व्यवस्था कर रहे हैं जिसको समुचित रूप से व्यवहार में लाने से यह पीड़ित संसार सुख एवं शान्ति के व्यापक युग में प्रवेश कर सकता है। अब हम इसके दार्शनिक पहलू पर प्रकाश डालेंगे।

तुरीयावस्था या परमात्म-स्थिति के जिस ध्येय की ओर हमने संकेत किया है उसे प्राप्त करने के लिए हमें न केवल इस चतुर्थ अवस्था का सैद्धान्तिक रूप जानना होगा बल्कि सतत् प्रयत्न द्वारा जीवन के उन मूल्यों से बचाव भी करना होगा जो उसके लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इसके साथ अभ्यास तथा पूर्ण श्रद्धा द्वारा 'कारण' के त्याग और सत्य की स्थापना के लिए योग-मार्ग को अपनाना होगा। अभ्यास द्वारा विकसित होने वाले जीवन-मूल्यों का हमें पता लगाना होगा। आत्म-क्रिया द्वारा अपने हृदय की वासना रूपी ग्रन्थियों को खोलने का ढंग भी हमें जानना होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिन बातों से हमें सजग रहना है वे इन तीन चेतनावस्थाओं से सम्बन्ध रखती हैं क्योंकि इनके द्वारा हममें मिथ्याभिमान का संचार होता रहता है। जिस बात को हमने अनुभव करना है वह 'तुरीयावस्था' है। उपरोक्त तीन निम्नावस्थाओं को विवेक-पूर्ण क्रिया-विधि से लाँघने पर ही हमें इस चतुर्थावस्था की अनुभूति होगी। जिन गुणों को हमें ग्रहण करना है वे बुद्धिमत्ता, निष्कपटता और मौन से सम्बन्ध रखते हैं। जिन प्रबल कुवासनाओं से हमें मोक्ष पाना है वे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं।

भगवान् शंकराचार्य्य के विचार में ग्रहण करने योग्य गुण बुद्धिमत्ता, बालक जैसा भोलापन और मौन हैं। आध्यात्मिक अनुभव के लिए इन्हीं परमावश्यक साधनों को उपयोग में लाना होता है। यहाँ बुद्धिमत्ता का अभिप्राय बुद्धि-कौशल एवं विवेक है जो श्रद्धा, गुरु की शुश्रूषा और गुरु के वचनामृत को पान करने से प्राप्त हो सकते हैं। अन्त में इस तथ्य को जानना अनिवार्य होगा कि सभी शास्त्रों द्वारा जिस लक्ष्य की ओर संकेत किया गया है वह अद्वैत तथा सनातन है। निष्कपटता का अर्थ वह भोलापन है जो प्रायः एक छोटे बालक में पाया जाता है। इसमें अहंकार, ममत्व, राग और द्वेष का अभाव होता है। मौन का अर्थ मन की वह स्थिरता है जो ध्यान-मग्न होने पर कभी ही अनुभव में आती है।

प्रकृत्याऽऽकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन ॥९१॥

आकाश के समान सभी तत्व स्वभाव से अनादि एवं निर्लिप्त हैं। किसी भी समय और अवस्था में उनम कोई नानात्व नहीं पाया जाता।

तुरीयावस्था के द्वारा जिस वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होती है उस परमावस्था में द्रष्टा को सामान्य चेतना की इन तीन निम्नावस्थाओं में उपलब्ध मिथ्या संसार की पहचान नहीं रहती तब यह पदार्थमय संसार अद्वैत परमात्म-तत्व में विलीन हो जाता है। हमारे जीवात्मा की अनुभूति के लिए ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य प्रत्यक्ष संसार, मन के भावना-पूर्ण जगत और बुद्धि से सम्बन्धित विचार की उपलब्धि होती रहती है। जब हमारी आत्मा मन एवं बुद्धि के साधनों के द्वारा गतिमान् होती है तभी यह द्रष्टा (जीव) प्रकट होता है।

भौतिकता के वेष में विभूषित होकर वास्तविक तत्व एक बेसमझ मर्त्य का नाटक खेलता है; इसी को विविधता-पूर्ण संसार की अनुभूति होती है। जिस समय यह (जीव) अपने शरीर, मन और बुद्धि का अतिक्रमण कर लेता है उसी क्षण यह द्रष्टा लुप्त हो जाता है और उसके न रहने पर दृष्ट-पदार्थों की भी सत्ता नहीं रहती। इस कारण प्रस्तुत मंत्र में कहा गया है कि सभी तत्व स्वभाव से नाश-रहित हैं और वे पूर्ण रूप से उसी प्रकार असीम होते रहते हैं जैसे पात्र के भीतर का आकाश। आकाश का दृष्टान्त इससे पहले विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

आत्म-तत्व की समान अनुभूति, जिसे परम-सत्य कहा जाता है, कभी अनेकता से लिप्त नहीं होती। संसार के विविध पदार्थ चेतना के ही विच्छिन्न रूप हैं। जब यह (चेतना) मन और बुद्धि के उपकरण में प्रतिबिम्बित होती है तब इन पदार्थों की प्रतीति होने लगती है।

आदि बुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्मा सुनिश्चिताः।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥९२॥

सभी जीव प्रकृति से प्रकाशमान होते हैं और इनके निश्चित् धर्म सर्वदा निश्चित रहते हैं। जो व्यक्ति इस ज्ञान में अधिष्ठित रहता है और इससे अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लालसा नहीं रखेता वही परमात्म-तत्व को अनुभव करने की क्षमता रखता है।

गुरु-जनों द्वारा दिये गये शास्त्र-सम्बन्धी प्रवचनों के श्रवण, मनन आदि से ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक मानसिक सन्तोष तथा अधिक श्रद्धा का उपयोग करके कृतकृत्य हो जाते हैं। दर्शन-तत्व का अध्ययन कर चुकने के बाद यदि साधक के मन में ध्येय तथा साधन के प्रति कोई शंका रह जाय तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह घोर अभ्यास के योग्य नहीं समझा जाता। ऐसे विकसित बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है कि वह अपने गुरु-द्वारा बताये गये शास्त्रोक्त ध्येय तथा लक्ष्य के विषय में पूरा पूरा सन्तोष प्राप्त करे। यदि उसके मन में ध्येय के सम्बन्ध में आचार्य्य द्वारा बताये गये तर्क-वितर्क में असाधारण सन्देह तथा असन्तोष बना रहे तो वह (विद्यार्थी) निष्ठा और सहृदयता से आत्मानुभूति के गहन मार्ग पर चलने में असमर्थ होता है।

इसलिए सबसे पहले वेदान्ताभ्यासी अपने गुरु द्वारा दिये गये प्रवचनों को अपने बुद्धि-चातुर्य्य द्वारा समझने का यत्न न करे बल्कि शास्त्रों की पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रखते हुए उसका समुचित मनन करे। अभ्यास के साधन को उपयोग में लाने से पूर्व उसे बुद्धि द्वारा सब बातों को भली भाँति समझ लेना चाहिए। परिपक्व अनुभव के द्वारा अभ्यास करते रहने से जब वह पूर्ण तुष्टि तथा आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस समय उसे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती तभी वह अमरत्व का आनन्द अनुभव करने के योग्य समझा जाता है।

यहाँ श्री गौड़पाद अध्यात्म मार्ग से सम्बन्धित तीन भागों की ओर संकेत कर रहे हैं। सब से पहले आत्मानुभवी एवं विद्वान् गुरु के संरक्षण में रह कर शास्त्र-वचनों का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन किया जाता है। इस यात्रा का दूसरा भाग तब प्रारंभ होता है जब छात्र सर्वोच्च ध्यान के क्षेत्र में प्रवेश करके तुरीयावस्था में सुदृढ़ रहने तथा अपने मन एवं बुद्धि को लाँघने में प्रयत्नशील रहता है। तीसरा भाग साधक द्वारा निज ध्येय की प्राप्ति को व्यक्त करता है। इस कृत्य-कृत्यता अथवा परमानन्द की स्थिति के अनुभव की केवल एक कसौटी है और वह यह है कि साधक लक्ष्य-हीन तुष्टि, परिपूर्णता तथा आनन्द को अनुभव करने लगता है। संस्कृत में इस परमावस्था को 'कृतकृत्यता' कहा जाता है जब साधक को इस बात का पूरा विश्वास हो जाता है कि मुझे जो कुछ समझना था वह मैंने समझ लिया है; मैंने प्राप्तव्य की प्राप्ति कर ली है और शेष कुछ भी प्राप्ति नहीं करनी है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऐसा व्यक्ति ही सनातन-सत्य को अनुभव करने की क्षमता रखता है और वह आत्मा की सत्ता में सुदृढ़ रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। जो आत्मा से एकरूप होकर आत्म-स्वरूप की अनुभूति करता है वही अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

आदिशान्ताः ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥९३॥

सभी जीव आदि से तथा अपने सहज स्वभाव के अनुसार शान्त, अजात तथा बन्धन-रहित रहते हैं। इनमें समानता तथा अभिन्नता के गुण पाये जाते हैं। अतः ये पृथक् (प्रतीत होने वाले) जीव वास्तव में आत्मा का स्वरूप हैं और अजन्मा होने के साथ सदा समान और परिशुद्ध रहते हैं।

पिछले मंत्र में हमें बताया गया था कि साधक किस स्थिति में आत्मानुभूति की अवस्था को प्राप्त करता है। परमावस्था की प्राप्ति उस क्षण होती है जब वह अवर्णनीय तुष्टि का अनुभव करे अर्थात् जब उसे शेष कुछ भी प्राप्त करने की लालसा न रहे। इस मंत्र में यह कहा गया है कि पिछले मंत्र में जिस परिपूर्णावस्था की ओर संकेत किया गया है वह कोई नयी स्थिति नहीं बल्कि अपने वास्तविक स्वभाव की पहचान कर लेना है।

इस आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाने के बाद, जब कि मनुष्य अपने आप को आत्मा ही जान लेता है, उसे अपने सभी भौतिक आवरण जिनकी सहायता से वह संसार का प्रत्यक्षीकरण करता है, विशुद्ध आत्मा का ही स्वप्न अनुभव होने लगते हैं। समान-रूप आत्मा भेद-रहित है। जब मन और बुद्धि के स्वप्निल शून्य में से परम-तत्व बहिर्मुखी होता है तब इसका विकृत रूप दिखायी देता है जिसे अनेकता कहा जाता है।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदं विचरतां सदा।
भेद निम्नाः पृथग्वादस्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥९४॥

जो व्यक्ति सदा पृथकता की भावना बनाये रखते हैं वे आत्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूत् विशुद्ध आत्मा को कभी अनुभव नहीं कर पात। अतः जो नानात्व के पाश में बँधे रहते और जीव एवं पदार्थों की पृथक् सत्ता में विश्वास रखत हं वे संकीर्ण मन वाले कहे जाते हैं।

जो कुछ ऊपर बताया गया है उससे यह बात निश्चित् रूप से स्पष्ट हो चुकी होगी कि आत्मानुभूति करने वाला नर-शिरोमणि अपनी जीवन-मुक्तावस्था में किसी पृथकता की कल्पना नहीं करता और वह सर्वदा प्रत्येक स्थान पर परमात्म-तत्व की अपने भीतर तथा बाहिर अनुभूति करने लगता है। इस विभिन्नता में जिस एकता की सत्ता व्याप्त है उसमें लीन रहता हुआ वह परिपूर्णता का जीवन व्यतीत करता है। इस परम-अनुभव की प्राप्ति होने के बाद जो कोई नानात्व में आस्था रखता है वह परिपूर्णता की दृष्टि से संकीर्ण मन वाला माना जाता है।

श्री गौड़पाद ने यहाँ जिन शब्दों का उपयोग किया है उनसे यह पता चलता है कि भेद-निमग्न द्वैतवादी असाधारण रूप से अधिक प्रभावशाली होते हैं। अतः जब तक साधक राग-द्वेषादि के सभी बन्धनों को काट फैंकने तथा अपने मन एवं बुद्धि का अतिक्रमण करने को उद्यत नहीं होता तब तक वह परिपूर्णता की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच पाता। यह वही स्थिति है जिसका उपनिषदों के सिद्धाचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

साधक की क्षुद्र-हृदयता के कारण इस अनुभूति में क्षमता नहीं रहती। परम-तत्व को अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए उदार-हृदयता के साथ अपने मन एवं बुद्धि को विशाल करते रहना नितान्त आवश्यक है। यही आत्मा के क्षेत्र के लिए प्रवेश-पत्र है। इसलिए उन व्यक्तियों को कृपण कहना उपयुक्त है जो अपने वास्तविक स्वरूप से दूर रह कर पदार्थमय दृष्ट-संसार के साथ बँधे रहते हैं।

यह मंत्र उन शब्दों का स्मरण दिलाता है जो बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे, आठवें और उन्नीसवें मंत्रों में महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी को कहे थे—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"हे गार्गी ! जो व्यक्ति अक्षर-ब्रह्म को अनुभव किये बिना इस संसार से प्रयाण करता है वह 'कृपण' (संकीर्ण मन वाला) होता है।"

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोकको न गाहते ॥६५॥

जो व्यक्ति अजात तथा समान-रूप आत्मा में दृढ़ आस्था रखते हैं वे महाज्ञानी कहे जाते हैं। साधारण व्यक्ति उन्हें जान नहीं सकता।

प्रत्येक मनुष्य को जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त है कि वह परमात्मा होने का दावा करे। इस दिशा में उसे केवल अपने मिथ्याभिमान का बलिदान करके उस आध्यात्मिक परमोच्च स्तर तक पहुँचना है जहाँ वह स्वयं अपना राज्याभिषेक करने में सक्षम होता है। ऋषियों की यह घोषणा स्वयं सिद्ध है। एक सामान्य व्यक्ति को धीरे धीरे उन्नत करके इस उच्च स्तर तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही शास्त्रों द्वारा मनुष्य मात्र के लिए वर्ण तथा आश्रमों की व्यवस्था की गयी है; किन्तु उपनिषद्-साहित्य में किसी व्यक्ति द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को अनुभव करने के लिए जन्म, स्थिति, आयु आदि के बन्धनों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस परमानुभूति के लिए स्त्रियों को भी समान अधिकार प्राप्त हैं और उनके लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं है। उपनिषद्-काल से पहले के साहित्य में ही स्त्रियों का साधारणतः तिरस्कार किया गया है किन्तु उपनिषदों की रचना के बाद से तो स्त्री-समाज की योग्यता तथा आध्यात्मिक क्रियाशीलता की स्तुति की गयी है।

ऋषियों ने इस दिशा में स्त्रियों को समान-अधिकार देते हुए उपनिषद्-साहित्य के विशिष्ट स्थानों में भारत की महानात्मा महिलाओं द्वारा उच्च विचार मुखरित किये हैं। भगवान् **गौड़पाद** हिन्दु-संस्कृति की उदार-हृदयता का विशेष उल्लेख करते हुए कहते हैं कि आत्मानुभूति वाला व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त कर लेता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ब्रह्म-ज्ञानी की परिपूर्णावस्था को एक साधारण व्यक्ति समझने की योग्यता नहीं रखता। संसार के इन योगियों की भाँति यह (ज्ञानी) जीवन के रंगमंच पर आकर नाटक-लीला दिखाने में असमर्थ रहता है। यह न तो अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करता है और न ही इसमें कोई अद्भुत चमत्कार दिखाने की लालसा बनी रहती है।

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसंगं तेन कीर्तितम् ॥९६॥

भिन्न-भिन्न जीवों का सार-तत्व एक मात्र विशुद्ध चेतना है जो बाह्य-संसार में जन्म न लेकर इससे अछूती रहती है। किसी अन्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण यह ज्ञान उपाधि-रहित माना गया है।

यहाँ नैयायिकों के इस सिद्धान्त की समीक्षा की जारही है कि आत्मा का विशेष गुण ज्ञान है और इस (ज्ञान) का तभी उदय होता है जब मनुष्य का मन किसी बाह्य-पदार्थ से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। बाह्य-संसार केवल हमारे मन के मिथ्याभास का परिणाम है—इस तथ्य को समझाने का श्रेय 'कारिका' को ही दिया जा सकता है। इस दृष्टि से विज्ञान-जगत या सामान्य-व्यवहार का बाह्य-संसार, जिसे हम 'ज्ञान' द्वारा अनुभव करते हैं, वास्तव में हमारे मन की प्रतिच्छाया है। जब मुझे किसी वस्तु का पता चलता है तब मैं उससे सम्बन्धित जानकारी का परिचय देता हूँ। एक सामान्य व्यक्ति परम-ज्ञान को न तो समझ पाता है और न ही इसकी अनुभूति कर पाता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष संसार से अपने मन को पूरी तरह खेंचने की क्षमता नहीं रखता।

केवल यह परम-ज्ञान यथार्थ है और समाधि-मग्न होने पर इसे अनुभव किया जाता है। पदार्थ-रहित ज्ञान ही आत्म-स्वरूप है और इसकी अनुभूति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। यह सूर्य्य के ताप एवं ज्योति के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समान है । उपाधि-रहित परम-ज्ञान ही विच्छिन्न होकर इस मोहक अनेकता की रचना करता प्रतीत होता है और इस संसार के माया-जाल के प्रलोभन में फँस कर परमात्म-स्वरूप जीवात्मा हर्ष-विषाद, सफलता-विफलता आदि के हास्यास्पद खेल करता रहता है ।

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असंगता सदा नास्ति किमुताऽऽवरणच्युतिः ॥९७॥

यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश 'आत्मा' में अनेकता की लेशमात्र धारणा कर बैठता है तो वह उपाधि-रहित परम-तत्व को प्राप्त करने में पूर्णरूप से असमर्थ रहता है । (जब यह स्थिति है) तो फिर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का निरावरण करने का प्रश्न किस प्रकार उठ सकता है ?

जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है । स्वप्नावस्था में प्राप्त हुए धन का अल्पांश भी हमें जाग्रतावस्था में उपलब्ध नहीं हो सकता । ऐसे ही हम जाग्रतावस्था की परिस्थितियों को स्वप्नावस्था में प्राप्त नहीं कर सकते । जग जाने पर स्वप्न का लेशमात्र हमें विचलित नहीं कर सकता ।

इस प्रकार अपने मन एवं बुद्धि को लाँघ कर सनातन-तत्त्व के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला व्यक्ति उपाधि-रहित परमात्मा को अनुभव करता है और उसमें अनेकता की रत्ती भर भ्रान्ति नहीं रहती । जब तक द्रष्टा तथा दृष्ट के पारस्परिक सम्बन्ध का तनिकमात्र भ्रम बना रहता है तब तक साधक सत्य-साधारण के तोरण-द्वार तक ही पहुँच पाता है और उसे परमात्मा की अनुभूति नहीं होती । जब वह उपाधि-रहित विशुद्ध ज्ञान की अनुभूति में स्थिरता प्राप्त कर लेता है तब उसे पता चल जाता है कि उसके बीच किसी प्रकार का आवरण नहीं था बल्कि वह तो पूर्णतः स्व-प्रकाशित था और निज अज्ञान के कारण उसे ऐसा भ्रम होता रहा है । साधना द्वारा आत्मा की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्पत्ति नहीं होती है बल्कि भ्रान्ति के तिमिर में रहते रहने से हम इसे देख (अनुभव कर) नहीं पाये है ।

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यते इति नायकाः ॥९८॥

सभी जीव स्वभाव से बन्धन-रहित तथा निर्मल हैं । आदि से वे प्रकाशमान एवं मुक्त हैं । इस पर भी विद्वान् यह कहते हैं कि मनुष्य आत्म-तत्त्व को जानने की क्षमता रखते हैं ।

अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य्य ने किसी मनुष्य के द्वारा एक प्रश्न पूछे जाने के बाद यह दावा किया है कि प्रस्तुत मंत्र में इस प्रश्न का उत्तर पाया जाता है । आपत्ति करने वाले की यह शंका है—"गत 'कारिका' में यह कहा गया है कि आत्मा को ढकने वाले आवरण का नष्ट होना संभव नहीं । इस से तो वेदान्तानुयायी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जीवों के वास्तविक स्वभाव पर पर्दा पड़ा हुआ है ।" इस मंत्र में उपरोक्त शंका का समाधान किया गया है ।

सभी जीवों का आध्यात्मिक-तत्त्व सर्वदा शुद्ध रहता है और यह किसी ज्ञात वस्तु द्वारा सीमाबद्ध नहीं होता क्योंकि इसके सभी सीमा-बन्धन मन के मिथ्या स्वप्न के कारण उत्पन्न होते हैं । भगवान् शंकराचार्य्य कहते हैं—"ये स्वभाव से परिशुद्ध, प्रकाशमान और आदि-काल से मुक्त हैं क्योंकि प्राकृतिक पवित्रता, ज्ञान तथा मुक्ति इनके सहज गुण हैं ।"

यदि इस बात को ठीक मान लिया जाए तो क्या कारण है कि उपनिषदाचार्यों द्वारा जीवों को "परम-तत्त्व को जानने की क्षमता" रखने वाला कहा गया है । इसे स्पष्ट करने के किए श्री शंकराचार्य्य एक दृष्टान्त देते हैं । अपने सामान्य व्यवहार में हम कहते हैं—"सूर्य्य उदय होता है, सूर्य्य अस्त होता है; सूर्य्य दूरस्थ पहाड़ी के ऊपर है इत्यादि ।" इन सब मामलों में हम यह बात पूरी तरह जानते हैं कि सूर्य्य न तो उदय होता है, न अस्त होता है और न ही किसी पहाड़ो के ऊपर स्थित रहता है । इस तरह पहाड़ी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी अपने स्थान पर खड़ी रहती है। तब भी हमारे दैनिक व्यवहार में इस भाषा का उपयोग किया जाता है और हम उदय होने, अस्त होने, आकाश में घूमने, चमकने आदि गुणों का सूर्य्य में आरोप करते रहते हैं। हमें यह बात भली-भाँति विदित है कि सूर्य्य सर्वदा प्रकाशमान् रहने वाला एक उष्ण पिण्ड है।

जहाँ तक हमारे संसार तथा सामान्य व्यवहार का सम्बन्ध है हम सूर्य्य में इन गुणों का आरोप करते हैं, यद्यपि सूर्य्य के विचार से इन (गुणों) में कोई यथार्थता नहीं है। इसलिए विविध जीवों के सनातन तथा सर्व-शक्तिमान् रहने पर भी हम अज्ञानियों को समझाने के उद्देश्य से महान्‌आचार्य्यों ने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है "जीव अपने आत्म-स्वरूप को जानने की क्षमता रखते हैं।" स्वप्न-द्रष्टा के दृष्टि-कोण से भी हम यह कह सकते हैं कि वह अपनी जाग्रतावस्था को जानने की क्षमता रखता है।

क्रमतो न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु नापि (यि) नः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥६६॥

आत्मानुभूति वाले बुद्धिमान् पुरुष का ज्ञान पदार्थों से अछूता रहता है। ऐसे ही सब जीव और ज्ञान किसी पदार्थ द्वारा लिप्त नहीं होते। "यह विचार भगवान् बुद्ध का नहीं।"

इस मंत्र में श्री **गौड़पाद** ने समूची कारिका का सार देते हुए बुद्धि-मान पुरुषों के यथार्थ अनुभव का स्वरूप वह विशुद्ध-ज्ञान कहा है जिसमें कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता; वही ज्ञान 'परिपूर्ण' ज्ञान कहा जाता है जो आकाश की तरह सब में व्याप्त रहने पर भी निर्लिप्त रहता है।

उपनिषदों में जिसको 'ज्ञान' कहा गया है वह मिथ्या संसार के नाम-रूप पदार्थों से लिप्यमान नहीं होता। यह विचार बौद्धों के इस सिद्धान्त से समता रखता प्रतीत होगा जिस के अनुसार दृष्ट-पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है बल्कि ये विचारों की प्रतिछाया ही हैं। भगवान् गौड़पाद के जीवन-काल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में बौद्धों के विचार प्रचलित थे; इसलिए इस विचार में ऋषि को ये शब्द जोड़ने पड़े—"वेदान्त बौद्धमत नहीं है।" अपने भारतीय दर्शन-शास्त्र (Indian Philosophy) के द्वितीय भाग के ४६३ पृष्ठ पर डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् लिखते हैं—"वह (श्री गौड़पाद) कुछ बातों में अपने तथा बौद्धों के विचारों की समानता से भिज्ञ प्रतीत होते हैं; इस कारण उन्होंने अपने इन शब्दों को बल-पूर्वक कहा है कि यह विचार बौद्ध मत का नहीं है।"

प्रसंग के इस भाग के विषय में आलोचकों में बहुत मतभेद पाया जाता है। विविध व्यक्तियों ने श्री गौड़पाद के इन शब्दों के (भगवान् बुद्ध के विचारों से उन के अपने विचार समानता नहीं रखते हैं) विभिन्न अर्थ किये तथा अनेक गूढ़ रहस्य बताये हैं। प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य्य के विचार में इससे यह समझा जाना चाहिए कि "(भगवान्) बुद्ध ने यह शून्य के विषय में कहा है।" अन्य बौद्ध लेखकों के द्वारा इस का यह अर्थ लिया गया है कि "(भगवान्) बुद्ध ने कुछ नहीं कहा क्योंकि इसे सहज-ज्ञान द्वारा समझा जाना है न कि व्याख्या द्वारा।" पहले बताये गये बौद्ध 'निहिल' कहलाए और दूसरे विचार वाले मुक्तिवादी (Absolutionists) होगये।

स्थूल रूप से बौद्ध-दर्शन तर्क-रूप में अद्वैतवाद के निकटतम है; फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म भेद पाया जाता है जिसके कारण अत्युत्तम का अनुपम में रूपान्तरण हो जाता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सापेक्ष दर्शन का सहृदयता तथा उदासीनता से अध्ययन करने वाला विद्यार्थी निस्सन्देह यह परिणाम निकालेगा कि भगवान् बुद्ध ने परिपूर्ण परमात्मा को कभी अन्तिम वास्तविक-तत्त्व नहीं कहा यद्यपि बौद्धमत की विविध 'महायान' शाखाओं द्वारा पर-ब्रह्म या आत्मा के विषय में अद्वैतवादियों से बहुत कुछ मिलते-जुलते विचार प्रकट किये गये हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदम्नानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥१००॥

परमात्म-स्थिति, जो स्वभाव से अजात, सनातन, सर्वज्ञ और नानात्व से रहित है, को अनुभव कर लेने के बाद हम इस (सत्य-सनातन) को नमस्कार करते हैं ।

यह व्याख्या अब समाप्त होती है । परमात्म-तत्त्व के जो गुण यहाँ बताये गये हैं उनकी पूर्ण व्याख्या की जा चुकी है । 'आत्मा' की सबसे महान् अर्चना इसे अनुभव करना ही है । परमात्मा अथवा गुरु के प्रति हम अपनी असीम श्रद्धा का इसकी अनुभूति करने से ही प्रदर्शन कर सकते हैं । प्रार्थना तो इस (प्रार्थना) के लक्ष्य से सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयासमात्र है । जब तक हममें मानसिक एवं बौद्धिक सामंजस्य नहीं हो पाता तब तक केवल प्रार्थना करते रहना साधक के अपने लिए हानिकारक तथा उसके पड़ोसियों की शान्ति को भंग करना है । इसलिए श्री **गौड़पाद** ने इस अन्तिम मंत्र में इस विचार को साधक के हृदय-पटल पर बलपूर्वक अंकित किया है कि उस (साधक) के द्वारा इस परम-तत्त्व को अनुभव करने से अधिक वेदान्त-द्रष्टाओं की और कोई पूजा नहीं हो सकती ।

आत्मा में ही सर्व-व्यापक एवं नानात्व से रहित परमात्म-तत्त्व की अनुभूति कर लेने पर श्रद्धा, प्रेम अथवा पूजा के कृत्यों की कोई आवश्यकता नहीं रहती । फिर भी परमात्म-तत्त्व के ज्ञान की स्तुति करते हुए स्वयं परिपूर्णावस्था को प्राप्त करने वाले श्री गौड़पाद ने इसी 'आत्मा' को नमस्कार किया है । यज्ञ यागादि की जिस विधि से कोई व्यक्ति आत्म-स्वरूप परमात्मा को नमस्कार कर सकता है वह अपने शरीर, मन तथा बुद्धि से पूर्ण विरक्ति प्राप्त करने के समान है जिससे वह अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान कर ले । यह स्वरूप **आत्म-सच्चिदानन्द** है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

असंगोऽहम् असंगोऽहम् असंगोऽहम् पुनः पुनः ।
सच्चिदानन्द रूपोऽहम् अहमेवाहमव्ययः ॥

मैं पुनः पुनः (शरीर, मन तथा बुद्धि से) असंग हूं । स्वभाव से सत्+चित्+आनन्द हूँ और मैं सनातन, अजन्मा तथा अविनाशी आत्म-स्वरूप हूँ ॥

ॐ तत् सत्
हरिः ओ३म्

—:०:—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवन के ध्येय को पूरी तरह जान लेने के बिना कोई जीवन-मार्ग अर्थ-पूर्ण नहीं होता । यह ध्येय कितना ही महान् एवं श्रेष्ठ हो, इसे केवल-मात्र जान लेने से हम सुखी नहीं हो सकते; जिस बात की हमें अत्यन्त आवश्यकता है वह यह है कि हमें निर्दिष्ट जीवन-मार्ग पर सहृदयता, विवेक तथा श्रद्धा से अग्रसर होते रहना चाहिए । इस तरह हमें पता चलता है कि जीवन-मार्ग और जीवन-ध्येय दोनों परस्पर अनुपूरक हैं और इनको अलग-अलग उपयोग में लाना सर्वथा अव्यावहारिक होगा ।

'माण्डूक्य' एवं **'कारिका'** दोनों मिल कर एक ऐसे ग्रन्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं जो जीवन के ध्येय की ओर पूर्ण संकेत तथा इस (जीवन) के व्यापक समायोजन की व्यवस्था करता है और जो निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त करने में पूर्णरूपेण सहायक होता है । इन प्रवचनों में केवल उन विशिष्ट बातों का समावेश नहीं किया गया है जो हमारे पवित्र साहित्य को अलंकृत करती आयी हैं बल्कि इनके द्वारा वर्त्तमान शिक्षित-समाज को भारत के शिरोमणि एवं कीर्त्तिमान् महर्षियों के दृष्टि-कोण को अपनाने की भी समुचित सहायता मिलती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

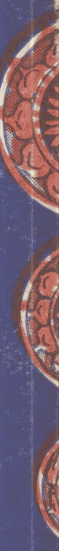

For Private and Personal Use Only